ओ३म्

प्राक्कथन

जिनके भव्यभावों की चारु कुसुमांजलि को प्रस्तुत पुस्तकाकार माला के रूपमें ग्रथित कर मैं जनता जनार्दन को अर्पित करने जा रहा हूँ वह सेठ मनसुखराय जी मोर एक आदर्श गृहस्थ हैं। स्कूली शिक्षा अधिक नहीं पाकर भी किस प्रकार मनुष्य अपने सतत स्वाध्याय और अध्यवसायसे शास्त्रोंके निगूढ़ तत्त्वों का गम्भीर अन्वेषक और पर्यालोचक हो सकता है, विपुल सम्पत्तिका स्वामी होकर भी कैसे सादा, सात्विक, आडम्बरशून्य जीवन विताया जा सकता है इस सम्बन्धमे प्रशंसित सेठजी का जीवन जन साधारण के लिए तथा पूंजीवादके प्रति बढ़ते हुए असन्तोषके इस वर्तमान युगमे धनिकवर्ग के लिए भी विशेष अनुकरण की वस्तु है। संस्कृत भाषामे अधिक प्रवेश नहीं होनेपर भी आपका इसमे अगाध प्रेम है। आप सदा रामायण, महाभारत, पुराण एवं स्मृति ग्रन्थों का पाठ करते रहते हैं और उनमेंसे अनमोल रत्न निकालते रहते है। आप शास्त्रोंके मर्म को बडी गहराईसे विचारते हैं। वैदिक साहित्यसे यद्यपि आपका सम्पर्क मेरे ही कारण हुआ है फिर भी वेदार्थ करनेमे कहीं-कहीं मैं आपकी अनोखी सूझसे बहुत अधिक प्रभावित हुआ हू। आपका यह उद्योग वर्षोंसे रहा है कि आर्ष ग्रन्थोंके पवित्र आदेश स्वयं निकालकर अथवा विद्वानोंके सहयोगसे संकलित कराकर जनसाधारणके सामने पुस्तकाकारमें विना मूल्य पहुचाये जाय। प्रस्तुत पुस्तक उसी श्लाघ्य सत्कार्य का नूतनतम रूप है।

आप धर्म को उसके वास्तविक शुद्ध रूपमे माननेवाले और प्रचार करनेवाले हैं। यथार्थमें धर्म कोई मतमतान्तरके झगड़े और वैरविरोध की वस्तु नहीं है। धर्म तो सारे प्राणिमात्रका धारण अर्थात् पालन करनेवाला है। 'धारणाद् धर्म इत्याहु. धर्मो धारयते प्रजाः' महर्षि व्यासका यह कथन सभी धर्म प्रेमियों को सदा स्मरण रखने योग्य है। महर्षि कणाद ने तो वैशेषिक दर्शनमें यहाँ तक कह दिया है कि 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः' अर्थात् जिससे सासारिक उन्नति (लोकयात्राका सुन्दर सफल निर्वाह् एवं पारलौकिक परमानन्द मोक्ष सुख की प्राप्ति हो वही धर्म है। मनु महाराजके बताये धर्मके दश लक्षण तो अत्यन्त प्रसिद्ध हैं ही—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धीर्विद्यासत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

धृति (धैर्य्य रखना, उतावला न होना, विपत्तिमें न घबराना)। क्षमा (अपने प्रति किये गये अपकारों वा अशिष्ट व्यवहारों की स्मरण न रखना, प्रतिहिंसा की भावना को त्याग देना), दम (अपने मनको वशमें रखना), अस्तेय (दूसरे की वस्तु चाहे वह कितनी ही तुच्छ क्यों न हो उसकी आज्ञा के विना, किंवा उसकी इच्छाके विरुद्ध न लेना) शौच (शरीर, मन और आत्मा की पवित्रता), इन्द्रियनिग्रह (इन्द्रियों को अपने वशमें रख उनसे सदुपयोग लेना स्वयं उनके दास न होना), धी (बुद्धि), विद्या (सृष्टिसे लेकर ब्रह्म तक सबका यथावत् ज्ञान प्राप्त करना), सत्य (मनसा, वाचा कर्मणा सत्यका पालन करना) एवं अक्रोध (क्रोध न करना) ये ही दश लक्षण धर्मके हैं। यदि किसी मनुष्यमें इन लक्षणों की विद्यमानता है तो समझना चाहिये कि वही मनुष्य धर्मात्मा है। यदि ये लक्षण नहीं हैं तो उस मनुष्यमें धर्म नहीं

है यह समझना चाहिये, चाहे उसने बाहरी चिह्न, माला, छाप, तिलक रंगीन वस्त्र आदि कितने ही क्यों न धारण किये हों क्योंकि 'न लिंगं धर्मकारणम्' वेशविशेष धर्मके कारण नहीं है।

धर्म अविभाज्य, सार्वभौम और सार्वकालिक है। कालविशेषमें व्यक्तिविशेषके साथ सत्यका व्यवहार करना चाहिये कालान्तरमें अन्य व्यक्तिके साथ नहीं यह मत मान्य नहीं है। सच्चे धर्ममें नीति, पालिसी, मुनियावाद आदि को स्थान नहीं है। मनुष्य को किसी समय, किसी परिस्थितिमें भी असत्य भाषण किंवा असत्य व्यवहार न करना चाहिये।

ब्रह्मचर्य मानवजीवनके उत्थानमें बड़ा सहायक है। इस पुस्तकमें इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। कम उम्रके बालक बालिकाओं का दाम्पत्य सम्बन्ध मानवमात्रके लिए घातक है। गृहस्थ आश्रममें भी ऋतुगामी होने और पति-पत्नी सन्तानार्थ ही दाम्पत्य सहवास करें इसपर इस पुस्तकमें बड़ा बल दिया गया है। गृहस्थ को एक सतानके बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्तिमें पाँच वर्ष का अन्तर आवश्यक रूपसे रखना चाहिये, अन्यथा सन्तान दुर्बल, विकलाङ्ग, एवं अल्पायु होगी माता-पिताका भी स्वास्थ्य नष्ट होगा। इस विषयको भी इस पुस्तकमें समझानेका प्रयास किया गया है। मनुष्य का जीवन कर्ममय होना चाहिये। प्रभुने जीवके कल्याणार्थ ससार रूपी धर्मक्षेत्र की रचना की है और मानव जन्म दिया है कि जिससे मनुष्य कर्म करने का अवसर प्राप्त करे और अपने पुरुषार्थसे विश्वके इतर प्राणियों का कल्याण कर प्रभुके अमृतपुत्र कहलाने का अधिकारी अपनेको बना सके एवं इहलौकिक जीवन की समाप्तिके अनन्तर परमपद की प्राप्ति कर सके। ऐसे अमूल्य जीवन को आलस्य, प्रमाद, दिवा-निद्रा एवं दुर्व्यसन

में बिताना हीरा को काँचके मोलमें बेचनेके समान है। मनुष्य को कदापि निठल्ला नहीं रहना चाहिये। सब समय अपने को किसी न किसी प्रकारके उद्यममें व्याप्रत रखना चाहिये। 'बैठेसे बेगार भला' यह लोकोक्ति इसी भाव को लेकर बनी है। कारण निरुद्यमी बेकार बैठे मनुष्य का मस्तिष्क शैतान का कारखाना है—(An idle brain is devil's work shop)। किसी भी प्रकार का शुभ काम तो करते ही रहना चाहिये। अपनी शरीर रक्षा जीविका परिवार पालन लोकापकार इत्यादि सभी कार्योंके लिये सदा उद्योग करते रहना चाहिये। यदि ऐसी परिस्थितिमें पड़ जाय कि शारीरिक परिश्रम न कर सके तो प्रभुका नामस्मरण गायत्री जप इत्यादि ही करे मन को निकम्मा न छोड़े। यह भी इस पुस्तक का एक मुख्य विषय है।

इस पुस्तकमें प्रतिपादित यह सिद्धान्त तो बड़ा ही मौलिक एवं विद्वानोंके विचारने योग्य है कि बच्चों को गौ बकरी आदि पशुओंका दूध कभी नहीं देना चाहिये, प्रत्येक प्राणी शैशवकालमें अपनी माताके ही दूधसे लालित-पालित हो बादमें पृथिवी माताके दुग्धरूप अन्न, फल, मेवा आदिकेद्वारा शरीर धारण करे। किसी भी उम्रमें मनुष्यको गोदुग्ध किंवा भैंस, बकरी, आदिका दूध नहीं सेवन करना चाहिए कारण ऐसा करना प्रकृतिके नियमके विरुद्ध है, उन पशुओंके प्रति घोर अन्याय एवं पशु-दुग्धसेवी मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तिके लिये भी विघातक है। गो दुग्ध आदि किसी भी अवस्थामें लिए जायँ अथवा नहीं इस विषयमें मतभेद का अवकाश हो सकता है परन्तु यह तो निर्विवाद है कि जिस रूपमें आज दुग्धके प्रति हमारी लोलुपता बढ़ रही है और येन केन प्रकारेण दूध देनेवाली मादा पशुओं का अन्तिम बुन्द तक दूध दुह कर हम अपने उपयोगमें लाने पर पूरे उतारू हो गये

हैं उससे इन गौ आदि पशुओंके बछड़े मातृ दुग्धसे सर्वथा वंचित किये जाकर मृत्युमुखमें ढकेले जा रहे हैं, गो वंश का भीषण ह्रास हो रहा है। हम गौ को तो माता कहते हैं, परन्तु यह कहां की मातृभक्ति है कि अपनी माताके बच्चोंके साथ भ्रातृप्रेम न रखें उनका ईश्वर प्रदत्त आहार छीन लेवें ?

हमें सादा सात्विक एवं तपस्वी जीवन बनाना चाहिए। कृत्रिमता और फैशनपरस्तीसे बचकर प्राकृतिक जीवन बिताना चाहिये, प्रकृति-माता की गोदमें स्वच्छन्द खेलना चाहिए। इस ओर भी इस पुस्तकमें संकेत किया गया है। यथार्थमें हम प्राकृतिक तत्वोंके जितने समीप होंगे उतने ही हमारे शरीर, मन और प्राण शुद्ध, स्वस्थ और बलवान होंगे।

इस पुस्तकमें ऐसी ही बातें समझाई की गई हैं जो सार्वतन्त्रिक एवं निर्विवाद हैं, जिन्हें अपनानेमें किसी देश जाति या वर्गके मनुष्यों को लेशमात्र भी सकोच नहीं हो सकता है। शुद्ध सनातन वैदिक धर्म सार्व-भौम धर्म है, मानव धर्म है उसकी शिक्षाओंका जो इस पुस्तकमें लेखबद्ध की गई है, पालन करनेसे मनुष्य क्या प्राणिमात्र का कल्याण होगा।

आवश्यक है कि इस सनातन सत्योंका विश्वमें व्यापक प्रचार हो। प्रस्तुत पुस्तकके लिखे जाने और उसकी प्रतियों को मांगके अनुसार किसी भी सख्यामें जनता तक बिना मूल्य पहुचानेमें सेठजी का यही पवित्र उद्देश्य है। हमें अपने कल्याण की दृष्टिसे ऐसी मर्यादा बना लेनी चाहिये जो वेदादि शास्त्रोंके अनुकूल, सदाचारी, लोकसंग्रही पूर्वज महात्माओंके आचारके अनुरूप एवं अपनी आत्मा को प्रिय हो। ऐसा ही करनेसे हम स्वयं संसारमें सुख शान्तिपूर्वक रह सकते हैं, समस्त

विश्वमें सुखशान्ति का साम्राज्य स्थापित कर सकते हैं। विद्वानों को, जिनके हाथमें ही मनुष्यमात्रके नेतृत्व करने, उन्हें सच्चा पथ दिखाने का विशेष उत्तरदायित्व है, अति उचित है कि एक मत होकर हमें कल्याण पथ पर चलानेमें प्रवृत्त होवें। वे हमें ऐसी शिक्षा देवें एवं दिलानेका प्रवन्ध करें जिससे हम फैशन की दासता से छूट ब्रह्मचर्यपूर्वक रह सकें, पारस्परिक वैर विरोध छोडकर प्राणिमात्रके हित करनेमें सम्मिलित प्रयत्न कर सकें।

पाठकोंसे मेरी सानुरोध प्रार्थना है कि वे इस पुस्तक को आदिसे अन्त तक मनोयोग देकर स्वयं पढ़ें और दूसरों को भी पढ़ावें। इसमे वेदमन्त्रों और महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत आदिके सुन्दर मन्त्रों और श्लोकों का संग्रह करने का यत्न किया गया है। उन मन्त्रों और श्लोकों को कण्ठस्थ कर लेने अथवा समय-समय पर उनका पाठ करनेसे पाठकों का बडा कल्याण होगा, यह मेरी दृढ़ धारणा है।

विश्वाधार, जगन्नियन्ता, प्रभुसे प्रार्थना है कि वे सेठ मनसुख राय जी मोर की धार्मिक प्रवृत्ति और लगन को उनकी परोपकार भावना और सात्विक बुद्धिको दृढ़ करें, जिससे आपके द्वारा एवं आपके आदर्शों से अनुप्राणित अन्यान्य धनीमानियोंके द्वारा भारतमें धार्मिकता, आस्तिकता एवं सात्विकताके प्रचारमे पूर्ण साहाय्य प्राप्त हो सके और आर्य ऋषियों की यह पुण्यभूमि फिरसे अपने लुप्त गौरव को प्राप्त कर विश्वका धार्मिक क्षेत्रमें नेतृत्व कर सके और समग्र संसारमे रामराज्यकी स्थापना हो सके।

शमित्योऽम्

अवध विहारी लाल

भूमिका

(लेखक रायबहादुर रामदेवजी चोखानी)

साधारणतः आजकल सनातनधर्मावलम्बी कहलानेवाले तो बड़ी संख्यामे पाये जाते हैं परन्तु वस्तुतः धर्ममे श्रद्धा और विश्वास रखने वाले बहुत कम हैं तथा शास्त्रोक्त पथ का अनुसरण करनेवाले तो विरले ही हैं। अनेक लोग तो धर्ममे प्रेम रखना दूर रहा इसको उपहास और घृणा की दृष्टिसे देखते हैं और पुराने चालके भाइयोंको पोंगापंथी, कूड़ापंथी, लकीरके फकीर, इत्यादि आख्या देकर अनाचार तथा कदाचार एवं दुराचारको प्रोत्साहन देनेमे गर्व अनुभव करते हैं। यह देशके भविष्यके लिये बड़े ही खेद का विषय है। "स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः" ऐसा कहकर मनु महाराज ने संसारके सारे देशों को ललकार कर कहा था कि भारतके आदर्श को देखते हुए सब कोई अपना चरित्र निर्माण करे, और आज उसी देशका ऐसा अधःपतन कि धर्म की उपेक्षा फैशन समझा जाने लगे! 'किमाश्चर्यमतः परम्'? हाँ, यह मैं माननेके लिये प्रस्तुत हूँ कि परिस्थितिके परिवर्त्तनसे कहीं-कहीं हमारी रहन-सहन और चालचलनके परिवर्त्तन की आवश्यकता है। पर, इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस पुण्यभूमिके समस्त प्राचीन रत्नोंको मूल्यहीन समझकर ठुकरा दिया जावे और समुद्रपारके चमकीले और भड़कीले कांचोंको अपनाया जावे।

अस्तु, इस समय अच्छे पुस्तक, व्याख्यान, कथा, गायन इत्यादि द्वारा धर्मभावको जाग्रत करना महान् कार्य है। प्रस्तुत पुस्तकमे गृहस्थ-जीवनमे पालनीय अनेकानेक नियमों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया गया है। पाठकों को पढ़नेसे मालुम होगा कि सनातन धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि ताकमे रख दी जाय और किसी विशेष अवसर पर

पहन ली जाय। धर्म तो हमारे चाल चलनमे, भोजनमे, शयनमे, कार्य-संपादनमे, पूजामे, सक्षेपत समस्त कार्यमें हममे ओतप्रोत रूपसे रहना चाहिये। *Religion is to be lived* यदि साधारण बुद्धिसे भी इस पुस्तक को पढ़ेंगे तो पाठको को ज्ञात होगा कि धर्मानुकूल चलनेसे हमारा स्वास्थ्य, हमारी आयु, हमारा सौभाग्य हमारा पारलौकिक तथा ऐहिक दोनो कल्याण वर्धित होंगे।

मैं श्री मनसुखराय जी मोर को धन्यवाद देता हू। उनकी पुस्तकसे बडा उपकार होनेवाला है। मुझे विश्वास है कि हमारे श्रुतिस्मृति-पुराण प्रतिपादित धर्मका पुनरुत्थान अवश्यम्भावी है। गीतामें कहा है—"त्वमव्यय शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्व पुरुषोमतो मे" (हे भगवन् आप शाश्वत अर्थात् सनातनधर्मके गोप्ता अर्थात् रक्षक हैं।) इसलिये आजके इस महान्धकारमे भी मुझे ज्योति की किरण दिखाई पड़ती हैं और म आशान्वित हू। ईश्वरसे प्रार्थना है कि लोगोंका मन (धियो यो न प्रचोदयात्) ठीक रास्ते पर ले जाने की कृपा करें।

राजगुरु पं० हरिदत्तजी शास्त्री (देहरादून) की शुभ सम्मति

सेठ मनसुख राय जी ने गृहस्थ-धर्म नामसे एक निबन्ध लिखा है। इसमें श्रुति स्मृति पुराण उपनिषदोंके प्रमाणोंसे आदर्श गृहस्थ दिखलाये हैं। संस्कारोंसे जो इस देशमें संस्कृति थी उसका विशदीकरण और गृहस्थाश्रमी किस अवस्थासे होना चाहिये तथा सारे जीवन का उत्कर्ष वीर्य रक्षा पर निहित है इस प्रकरण को युक्ति तथा शास्त्र प्रमाणोंसे दिखाया है। मनुष्य स्वार्थी होनेसे ही अनेक प्रकारके आतंक और रोगका पात्र अपनेको बनाता है। आपने यहाँतक निःस्वार्थता की सीमा दिखाई, जिस पशुका जो दुग्ध प्रकृतिने उसकी माताके स्तनोंमें दिया है वही उसका उपयोग कर सकता है दूसरे जो उपयोग करते हैं वे स्वार्थ-परायणतासे उस वत्सका अंश अपहरण करते हैं मनुष्योंके लिये पृथ्वीमें उत्पन्न हुए अन्न शाक फल उसकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये प्रकृतिने पर्याप्त मात्रामें रखे हैं इत्यादि गृहस्थोपयोगी बातें इसमें अच्छी तरह विन्यास की गई हैं। सेठ मनसुख रायजीका तो शास्त्रोंको देखना और उसमें तत्वकी बातें निकालकर जन समुदाय को समर्पण करना अपना विनोद बना हुआ है। ईश्वर इनके इस विनोद को सफल करे गृहस्थी लोग इसको पढ़नेसे अपने गृहस्थ जीवनका उपकार कर यही आशीर्वाद है।

नम्रनिवेदन

माताओं और भाइयों, जब हम अपनी वर्तमान दशापर दृष्टिपात करते हैं तो हमें स्पष्ट विदित होता है कि हम पीढ़ी दर पीढ़ी नीचेकी ओर जा रहे हैं। हमारा पारिवारिक जीवन दु:खमय और सामाजिक जीवन विशृङ्खल हो रहा है। इस अवस्था को देखकर हमारे हृदयमें जो विचार वर्षोंसे उठते रहे हैं उनको एकत्र करके इस पुस्तकके द्वारा मने आपके सामने रखने की धृष्टता की है। आप महान् हैं, मैं आपका एक तुच्छ सेवक हू। आपसे विनम्र निवेदन है कि आप कृपा पूर्वक इस पुस्तक को आरंभसे अन्त तक एक बार अवश्य पढ़ जाव। जो बातें आपको भली लगें उनको आप ग्रहण करें और उनका प्रचार अपने परिवारवर्ग एवं इष्टमित्रोंमें करें। जो स्थल आपको पसंद न आवे उन पर आप अपनी दयादृष्टि एक बार फिर डालें और फिर न जचे तो उस अंशको छोड देवें। म कोई विद्वान वा उपदेशक नहीं हू। मेरा अनुभव भी विशेष नहीं है। अतएव आप मेरी भूलके लिए मुझे क्षमा करगे।

मानवताके उत्थानका यह प्रश्न समस्त मानवमात्रका प्रश्न है। सामूहिक कार्य सम्मिलित उद्योगसे ही सफल हो सकता है। जिनके पास जो साधन हैं वे अपने साधनोंसे यथाशक्ति इस कार्यको करनेके लिए जब आगे बढ़ेंगे तभी हम सबों का कल्याण हो सकेगा। अतएव विद्वान् अपनी विद्या और धनवान् अपने धनादि को मानव उत्थानके पुण्य कार्यमें अर्पित कर देनेका शुभ सकल्प करें। देशके विद्वानों एव ीमानियोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे ऐसे ब्रह्मचर्य आश्रम, विद्याल५ आदि स्थान स्थान पर संचालित कर तथा अन्य उपायोंसे भी

हमारे अन्दर रहकर प्रचार करें और करावें जिससे हमें ब्रह्मचर्य पूर्वक रहकर ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने जीवनको बितानेका सुअवसर प्राप्त हो, हम अपनी तथा अपनी भावी सन्तान की उन्नति कर सकें। हमारा व्यक्तिगत जीवन पवित्र तथा सदाचारसम्पन्न बने, हमारा गृहस्थ आश्रम सुखशान्तिसे भरपूर होवे, एवं सामाजिक जीवन दृढ़, सुसंगठित और वैर-विरोधसे रहित होवे।

प्राचीनकालमें धर्मकी मर्यादा को बनाये रखनेका भार राजाओंपर होता था। दुर्भाग्यसे मुसलमान, ईसाई आदि अन्य मतावलम्बी शासकोंके शासनकालमें यह व्यवस्था न चल सकी। अब प्रभुकी अपार अनुकम्पासे देश स्वतन्त्र हो गया है। स्वराज शासन महान् तपस्वी सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि धर्मके आधारभूत अंगोंके अनन्य उपासक महात्मा गान्धीजी की शुभ प्रेरणासे अनुप्राणित होकर राष्ट्रके त्यागी तपस्वी नेताओं द्वारा संचालित हो रहा है। अतएव हम अपनी सरकारसे अब पूरी आशा कर सकते हैं कि वह धर्म की मर्यादा फिरसे स्थापित करेगी। वह ऐसी व्यवस्था करेगी जिससे देशमें सारे मनुष्योंके दुःखदारिद्र्य, आलस्य, अनुद्योग दूर होवें और हमारे बच्चे सुन्दर शिक्षा पाकर शीलवान्, सच्चरित्र तथा ब्रह्मचारी बनें और आगे चलकर सद्गृहस्थके रूपमें अपना और दूसरोंका अधिकसे अधिक कल्याण कर सकें। परमपिता, परमात्मा वह दिन दिखावे कि हमारे राष्ट्रीय शासनके सूत्रधार हमारे प्राचीन महाराज अश्वपति की तरह यह घोषणा उच्च स्वरसे कर सकें, जैसा कि छान्दोग्य उपनिषद्में लिखा है—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपो नानाहिताग्निर्नाविद्वान्
स्वैरी स्वैरिणी कुतः।

अर्थात् मेरे राज्यमें कोई चोर नहीं है, कोई कजूस (दान नहीं देनेवाला) नहीं, कोई शराबी भी नहीं है, कोई मनुष्य ऐसा नहीं जो यज्ञ न करता हो, कोई मूर्ख नहीं, कोई व्यभिचारी नहीं तो व्यभिचा-रिणी स्त्री कहांसे ?

आभार प्रदर्शन

यह पुस्तक साहित्याचार्य श्री पण्डित अवधबिहारीलालजी एम० ए० बी० एल० की देख रेखमें सकलित हुई है। प० पराशरजी भट्टाचार्य्य साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, प० श्रीरामजी मिश्र, वैद्यराज प० शिवकरणजी शर्मा कविरत्न, प० राजेन्द्रजी बी० ए० आदि विद्वानों का भी श्लाघ्य सहयोग इस कार्यमें प्राप्त हुआ है। श्रीमान् शान्तिस्वरूपजी गुप्त तथा श्रीमान् मदनलालजी हिम्मतसिंहका आदि विद्वानोंने भी पुस्तक की हस्तलिखित कापी तथा प्रूफ आदि पढकर मुझे समय-समयपर सत्परामर्श दिये हैं। मैं इन सारे महानुभावों का ऋणी हूं।

मनसुखराय मोर

विषय-सूची

श्रीगणेशाय नमः।

गृहस्थ-धर्म

अपने पूर्व जन्मके अच्छे कर्मोंके फलस्वरूप हमको यह मानव शरीर प्राप्त होता है और इसी मानव शरीर को ईशरचित इस असार संसारमें उसके ज्ञान द्वारा सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इस मानव शरीर की विशेषता को जानकर ही देवता भी इस भारतखंडमें प्राणीमात्र की सेवा करनेके लिये मनुष्य शरीरमें जन्म लेनेको सदा ही इच्छुक रहते हैं। अतः परम पिता परमात्मा को हर समय ध्यानमें रखते हुए सतबुद्धि की प्राप्ति कर ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार चलकर ज्ञान सहित सत्कर्म करते हुए आत्माका प्रकाश बढ़ाते हुए मोक्ष की प्राप्ति करे इसीमें मानव जीवन की सफलता है।

गृहस्थाश्रम सब आश्रमोंमें श्रेष्ठ माना गया है। ब्रह्मचर्याश्रमके विधि-पूर्वक पालन करनेके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहिये क्योंकि उस समय तक हमारी बुद्धि परिपक्व हो जाती है। हमारा शरीर बलवान्, वीर्यवान् और आरोग्य रहता है। हमारा मन शुद्ध और सत्कार्यों की ओर झुका हुआ होता है।

सब आश्रमोंके लोग गृहस्थाश्रममें आकर ही आश्रय पाते हैं। अन्य तीनों आश्रमवालोंके पालन-पोषण का भार गृहस्थोंके कन्धों पर ही होता है। कमजोर कन्धे इस भार को कैसे सम्हाल सकते हैं। शास्त्र कहते हैं कि दुर्बलेन्द्रिय स्त्री-पुरुष इस आश्रम को धारण नहीं कर सकते। अतएव गृहस्थाश्रम को चलानेके लिए आवश्यक है कि स्त्री-पुरुष

अपने शरीर और मन को खूब बलवान बनावें। सांसारिक व्यवहारों को उत्तम रीतिसे चलाने की सामर्थ्य और विद्यावल प्राप्त करें। तभी शूर-वीर और बुद्धिमान् सन्तान पैदा होगी एवं गृहस्थाश्रम का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा की जा सकेगी। इस आश्रममें आकर मनुष्य सत्कर्म करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

स्त्री-पुरुष का जो वैवाहिक बन्धन है उसीका नाम गृहस्थाश्रम है और उन दोनोंके एक होकर रहनेसे ही गृहस्थ का काम सुचारु रूपसे संचालित होता रहता है।

गृहस्थाश्रममें स्त्री-पुरुष को कामवासना रहित प्रेम भावसे रहकर ज्ञान सहित सन्तानोत्पत्ति करनी चाहिये। वह गृह स्वर्गोपम है जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरेसे प्रेमयुक्त व्यवहार करते हों तथा दोनों ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करते हों।

स्त्री पुरुष का आधा अङ्ग मानी गई है अतः वह पूर्ण अङ्ग वैवाहिक बंधनसे ही बनता है और वैवाहिक बन्धनके बाद भी दोनों की प्रकृतिका अनुकूल होना अत्यावश्यक है। दोनों की प्रकृति मिलनेसे उनमें प्रेमभाव की मात्रा बढ़ेगी और आपसके प्रेमसे उस घरके सब कार्य सुचारु रूपसे सम्पन्न होते रहेंगे तथा वह घर स्वर्ग-तुल्य बन जायगा।

स्त्री पर ही घर का सब भार आश्रित है। स्त्री के ही अच्छे कर्मोंसे वह घर सुखी रहता है। घरके समस्त कार्योंकी देख-रेख तथा संतान का लालन-पालन सब स्त्री पर निर्भर करता है, अतः इस गृहस्थाश्रमके कार्यों को सुचारु रूपसे संचालित करनेके लिये स्त्री को शिक्षिता, सदाचारिणी, गुणशालिनी एवं गृह कार्यमें प्रवीण होना अत्यावश्यक है। साथ ही पुरुष को भी अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए स्त्री को उसके

गृहकार्यमें बराबर सहायता पहुंचाते रहना चाहिये। दोनोंके प्रेमयुक्त सम्पर्कसे ही उस घर का काम ठीकसे चल सकता है।

गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेके पश्चात् स्त्री-पुरुष को स्वधर्ममें रत रहते हुए एक दूसरे का रक्षक होकर रहना चाहिये, नकि इन्द्रियोंके क्षणिक सुखके वशीभूत होकर एक दूसरे का भक्षक बन जाय। इस समय हमको ज्ञानसहित अपनी शक्ति को पर्याप्त रूपमें संचित करते हुए अपनी आत्मा एवं उसके प्रकाश को बढ़ाते हुए एवं पुरुषार्थके साथ प्राणीमात्र की निःस्वार्थ भावसे सेवा करते हुए अपने गार्हस्थ्य-जीवन को सुचारु रूपसे संचालित करते रहना चाहिये। इसीमें मानव जीवन का कल्याण है।

महाभारतके अनुशासन पर्वमें पुरुष के, स्त्री के प्रति जो निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं उनको पूर्ण रूपसे ध्यानमें रखते हुए एवं उनका अनुकरण करते हुए हमको गृहस्थ कर्मों को संचालित करना चाहिये।

पुरुष का कर्त्तव्य स्त्री के प्रति

प्राचेतसस्य वचनं कीर्तयन्ति पुराविदः,
यस्याः किंचिन्नाददते ज्ञातयो न स विक्रयः।
अर्हणं तत्कुमारीणामानृशंस्यतमं च तत्,
सर्वं च प्रतिदेयं स्यात्कन्यायै तदशेषतः।

विवाहके प्रसंगमें पुराने विद्वान्, दक्ष प्रजापति का यह वचन याद करते हैं। वर पक्षके लोग जो चीजें—आभूषण आदि कन्या को देते हैं यदि उसे कन्या पक्षवाले स्वयं न लेकर कन्या को ही दे देते हैं, तो इस वस्तु ग्रहणसे कन्याका विक्रय नहीं होता। यह तो कन्या का पूजन है और स्नेह भाव की पराकाष्ठा है। फलतः वर पक्षसे जो चीजें प्राप्त होती हैं वे सभी कन्या को ही दे देनी चाहियें।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चापि श्वशुरैरथ देवरैः,
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।
यदि वै स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनो न प्रवर्द्धते।
पूज्या लालयितव्याश्च स्त्रियो नित्यं जनाधिप,
स्त्रियो यत्र च पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।

अपना कल्याण चाहनेवाले पिता, भाई श्वसुर और देवर को चाहिये कि वे अपनी पुत्री, बहन, पतोहू और भौजाई का सत्कार करें और सदा वस्त्र आभूषणोंसे उन्हें अलंकृत करें। यदि नारी प्रसन्नतासे प्रफुल्लित न होगी तो वह पुरुष का मनोरंजन न कर सकेगी और पुरुषकी उदासीनता से संतान की बढ़ती नहीं होती है। हे युधिष्ठिर, स्त्रियों का हमेशा आदर करना चाहिये तथा उनका लाड़ प्यार करना चाहिये। क्योंकि जहाँ स्त्रियों का आदर होता है वहीं देवता वास करते हैं।

अपूजिताश्च यत्रैताः सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः,
तदा चैतत्कुलं नास्ति यदा शोचन्ति जामयः।
जामीशप्तानि गेहानि निकृत्तानीव कृत्यया,
नैव भान्ति न वर्द्धन्ते श्रिया हीनानि पार्थिव।
स्त्रियः पुंसां परिददे मनुर्जिगमिषुर्दिवम्,
अबलाः स्वल्पकौपीनाः सुहृदः सत्यजिष्णवः।

हे युधिष्ठिर जिस घरमें स्त्रियों का सत्कार नहीं होता। वहांके सभी सांसारिक एवं धार्मिक काम अपूर्ण होते हैं। जिस कुलमें स्त्रियों की आत्मा को कष्ट पहुंचता है यह कुल बर्बाद हो जाता है। और श्री से हीन हो जाता है। उनकी कीर्ति और वृद्धि मारी जाती है। भगवान मनुने स्वर्ग जाते समय स्त्रियों की रक्षा का भार पुरुषों को सौंपा। कारण कि

स्त्रियाँ अवला और कम वस्त्र धारण करनेवाली और सरल हृदय की एवं सत्य पर अटल रहनेवाली होती हैं।

ईर्ष्यवो मानकामाश्च चण्डाश्च सुहृदोऽबुधाः,
स्त्रियस्तु मानमर्हन्ति ता मानयत मानवाः।
स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मो रतिभोगाश्च केवला·,
परिचर्या नमस्काराास्तदायत्ता भवन्तु व·।
उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्,
प्रीत्यर्थं लोकयात्राया. पश्यत स्त्री निबन्धनम्।

स्त्रियाँ यदि डाह करनेवाली, मान चाहनेवाली, क्रोधी, भोली और कम समझकी भी हों तो ऐसी स्त्रियाँ भी सम्मान के योग्य हैं। पुरुषोंका कर्त्तव्य है कि वे ऐसी स्त्रियों का भी सदा ही आदर करें। स्त्रियों पर ही धर्म अवलम्बित है। स्त्रियाँ प्रेम का एक मात्र आधार हैं। गृहस्थके सारे सुख स्त्री पर ही निर्भर करते हैं। गृहस्थाश्रम की सेवा सभाल करना, उसे सम्मानके योग्य और महान् बनाना स्त्रियों पर ही निर्भर है। जीवन-यात्रा को सुखमय बनानेके लिये संतान उत्पन्न करना और उत्पन्न सन्तान का पालन पोषण करना आवश्यक है। परन्तु ये दोनों ही काम स्त्रियोंसे सम्बद्ध हैं।

संमान्यमानाश्चैता हि सर्वकार्याण्यवाप्स्यथ,
विदेहराजदुहिता चात्र श्लोकमगायत।

स्त्रियों का सम्मान करके सभी कामनाएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस सम्बन्धमें महाराज विदेह की कन्या ने यह बताया है।

नास्ति यज्ञक्रिया काचिन्न श्राद्धं नोपवासकम्,
धर्मं स्वभर्तृशुश्रूषा तया स्वर्गं जयन्त्युत।

स्त्रियोंके लिये कोई यज्ञ नहीं है, श्राद्ध नहीं है, एवं उपवास नहीं है।

उनका धर्म पति परिचर्या है उसीसे वे स्वर्ग प्राप्त करती हैं।

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने,
पुत्रश्च स्थाविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र मर्हति।

कन्या की रक्षा पिता, युवती की पति और माता की पुत्र करता है। स्त्री कभी भी स्वतंत्र नहीं होती।

स्त्री शक्तिरूपा है एवं शक्ति का स्रोत है। सारे संसार को शक्ति स्त्री जातिसे ही मिलती है। उसकी शक्ति की देखरेख रखना कुमार्यावस्था तक याने १६ वर्ष तक पिता का कर्त्तव्य है। उसको शक्तिका विकास दिन प्रतिदिन बढ़ता रहे इसका भार कुमार्यावस्था तक पिता पर है।

इसके बाद युवावस्थामें उसकी शक्ति की देखरेख रखना पति का काम है। गृहस्थ धर्म को सुचारु रूपसे संचालित करते हुए एवं सन्तानोत्पत्ति करते हुए उसकी शक्ति की देख-रेख रखना याने उसकी शक्ति कहीं भी कम न हो जाय, इस बातका खयाल रखने का काम पति का है।

गृहस्थाश्रम समाप्त करनेके बाद उनकी शक्ति की देखरेख और सेवा करना पुत्रका कर्त्तव्य है। उनकी शक्तिका जितना संचय रहेगा उतना ही उनकी आत्मा का प्रकाश बढ़ेगा एवं आत्मा का प्रकाश बढ़नेसे या तो उनको मोक्ष प्राप्त होगा या पुनर्जन्ममें यह संचित शक्ति उनके लिये सहायक होगी।

शक्ति स्वतंत्र रहने की चीज नहीं है। जैसे तलवार को म्यानके बाहर छोड़कर उसकी देख-रेख न रक्खी जाय तो उसका दुरुपयोग हो सकता है। अज्ञानतासे अगर इसका प्रयोग हो जावे तो, वह इसके दुरुपयोगसे शक्ति का और अपना नाश कर लेगी। म्यानके भीतर

रहनेसे ही उनका सदुपयोग होगा। यही हालत मातृ शक्ति की है।

स्त्री जाति लक्ष्मी रूपा है। लक्ष्मी का रूप होनेसे भी उनका देखरेखमें ही रहना अति आवश्यक है।

शक्ति इतनी ऊँची है कि परमात्मा को भी उसकी शरण लेनी पड़ती है।

शक्ति की सेवा करना एवं उसकी पूर्ण रूपेण रक्षा करना पुरुष मात्र का कर्तव्य है।

श्रिय एता स्त्रियो नाम, सत्कार्या भूतिमिच्छता,
पालिता निगृहीता च श्री स्त्री भवति भारत।

स्त्री का नाम ही श्री है। (सीताराम गौरीशंकर आदिमें राम और शङ्करके पहिले ही स्त्री का नाम आता है। ऐसे ही सभी पुरुषोंके नाम के पहिले स्त्री का नाम है जैसे श्रीमान् फूलचन्दजी अर्थात् स्त्रीमान् फूलचन्दजी। सीताजीसे रामजीकी शोभा है, गौरीजीसे शङ्करजी की शोभा है। श्री से ही पुरुष की शोभा है)। कल्याणके चाहनेवाल इनका सत्कार करें एव सब प्रकारसे उनकी सदा मदद करें। हे युधिष्ठिर स्त्री घर की लक्ष्मी होती है।

माँ बाप सदा ध्यान रखते हैं कि अपनी कन्या अपनेसे उन्नत वंशमें दी जाय। इससे वश की मर्यादा उन्नत होती है। उत्कृष्ट पुरुषसे जो सतान होगी वह उन्नत होगी, अवनत नहीं। जैसा कि शास्त्र का विधान है— उच्च वर्ण का पुरुष नीचेवाले वर्ण की कन्या ले सकता है नीचेवाले वर्ण का पुरुष उच्च वर्ण की कन्या नहीं ले सकता।

मार्कण्डेय पुराणमें लिखा है कि जब ऋतध्वज पातालसे मदालसा को ले आये तब उनके पिता— शत्रुजित् बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा— मैंने बड़े-बड़े युद्ध किये, शत्रुओं को जीता परन्तु पातालमें मैं जा नहीं

सका। पुत्र तुमने मुझसे बड़ा काम किया इससे मेरा जन्म सफल है! मानव जाति का कल्याण इसीमें है कि उसकी संतान पीढ़ी दर पीढ़ी अच्छी उन्नत बने।

स्त्री-धर्म

एक बार महादेवजीने पार्वतीजीसे स्त्री के कर्त्तव्य बतलानेके लिये कहा क्योंकि वे जानते थे कि स्त्री का कर्त्तव्य स्त्री ही अच्छी तरह समझा सकती है। इसपर पार्वतीजीने गङ्गा, सरस्वती, चन्द्रभागा, इरावती आदि नदियों को एकत्रित करके तथा आपसमें विचार विमर्श करके निम्नांकित कर्त्तव्य बतलाये :—

स्त्रीधर्मो मां प्रति यथा प्रति भाति यथाविधि,
तमहं कीर्तयिष्यामि तथैव प्रश्रिता भव।
स्त्रीधर्मः पूर्व एवायं विवाहे बन्धुभिः कृतः,
सहधर्मचरी भर्तुर्भवत्यग्निसमीपतः।

मुझे सब तरहसे ठीक जो स्त्री कर्त्तव्य मालूम हुआ है उसे मैं कहती हूं। आप ठीक-ठीक सुनें। विवाहके प्रारंभमें ही भाई-बन्धु अग्नि को साक्षी देकर स्त्री का कर्त्तव्य निश्चित कर देते हैं। वह है पत्नी का पतिके धर्माचरणमें योग देना।

सुस्वभावा सुवचना सुवृत्ता सुखदर्शना,
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तुः सा धर्म चारिणी।
सा भवेद्धर्मपरमा सा भवेद्धर्मभागिनी,
देव वत्सततं साध्वी या भर्तारं प्रपश्यति।

सुन्दर स्वभाव, शुभ एवं सत्य वाणी, सुन्दर दर्शनवाली और अपने पतिमें ही सदा मन लगानेवाली साथ ही सदा प्रसन्नमुख रहनेवाली स्त्री पतिके धर्माचरणमें सहायक होती है। जो स्त्री हमेशा पति को

देवता की तरह देखती है वही धर्म रत होती है और धर्मके फल पाती है।

शुश्रूपा परिचार च देववद्या करोति च,
नान्यमावा ह्यविमना सुव्रता सुखदर्शना।
पुत्रवक्‍त्रमिवाभीक्ष्ण भर्तुर्वदनमीक्षते,
या साध्वी नियताहारा सा भवेद्धर्मचारिणी।

जो स्त्री पति की शारीरिक एव मानसिक सेवा देवता समझकर करती है। जो अपने भाव पतिके सिवा दूसरेमे नहीं लगाती, कभी अप्रसन्न नहीं होती, अच्छे व्रतों का आचरण करती, जिसे देखनेसे सुख मिलता, स्वामीके मुख को पुत्र के मुख की तरह सदा प्रसन्न देखना चाहती, साधु स्वभाव की और भोजनमे सयम रखती वही अपने धर्म का आचरण करती है।

श्रुत्वा दम्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृत शुभम्,
या भवद्धर्मपरमा नारी भर्तृसमव्रता।
देववत्सतत साध्वी भर्तारमनुपश्यति,
दम्पत्योरेष वै धर्मं सहधर्मकृत शुभ।

स्त्री-पुरुषके कर्त्तव्य या धर्म साथ-साथ अनुष्ठित होने पर ही शुभ होते हैं। फलत स्त्री पुरुष के कर्त्तव्य सुननेके बाद जो धर्म परायण नारी पतिके प्रिय व्रतों का आचरण करती साथ ही पति को देवताके समान समझती वही अपने कर्त्तव्य का पालन करती है। सचमुच स्त्री पुरुष का कर्त्तव्य साथ-साथ अनुष्ठित होकर ही शुभ होता है।

शुश्रूपा परिचारं च देवतुल्य प्रकुर्वती,
वश्या भावेन सुमना सुव्रता सुखदर्शना।
अनन्यचित्ता सुमुखी भर्तु. सा धर्मचारिणी,

यानेषु कन्यासु विभूषणेषु यज्ञेषु मेघेषु च वृष्टिमत्सु,
वसामि फुल्लासु च पद्मिनीषु नक्षत्रवीथीषु च शारदीषु।
गजेषु गोष्ठेषु तथासनेषु सरःसु फुल्लोत्पलपङ्कजेषु,
नदीषु हंसस्वननादितासु क्रौञ्चावघुष्टस्वरशोभितासु।
विकीर्णकूलद्रुमराजितासु तपस्विसिद्धद्विजसेवितासु,
वसामि नित्यं सुबहूदकासु सिंहैर्गजैश्चाकुलतोदकासु।
मत्तेगजे गोवृषभे नरेन्द्रे सिंहासने सत्पुरुषेषु नित्यम्,

मैं सवारियों, कुमारियों, गहनों, यज्ञों और वरसते हुए मेघोंमें वास करती हूं मैं खिली हुई कमलिनियों, नक्षत्रमालाओं, शरदकाल की चाँदनियों, हाथियों, गौशालाओं आसनों और खिले हुये कमलोंसे शोभायमान तालावोंमें रहती हूं। मैं उस नदीमें रहती हूं जो हंसोंकि कलरवसे गुञ्जती रहती है, क्रौंच पक्षीके किलोलसे शोभित रहती, जिस के तट पर बड़े-बड़े वृक्ष झूमा करते, तपस्वीजन, सिद्धगण गुरुजन लोग जिसका आश्रय करते, जिसमें बराबर स्वच्छ और गहरा पानी भरा रहता और जिसके गहरे पानी को सिंह एवं हाथी क्षुब्ध किया करते। मैं मस्त हाथी, सांड़, राजा, सिंहासन और सत्यपुरुषोंके समीप सदा रहा करती हूं।

यस्मिन् जनो हव्यभुजं जुहोति गोब्राह्मणं चार्चति देवताश्च,
काले च पुष्पैर्वलयःक्रियंते तस्मिन् गृहे नित्यमुपैमि वासम्।
स्वाध्यायनित्येषु सदा द्विजेषु क्षत्रे च धर्माभिरते सदैव,
वैश्ये च कृष्याभिरते वसामि शूद्रे च शुश्रूषणनित्ययुक्ते।

जिस घरमें होम किया जाता है, गो की सेवा की जाती है और ब्राह्मणों का सत्कार होता है। समय पर देवता की पूजा की जाती है और उनको फूल चढ़ाये जाते हैं उस घरमें मैं सदा वास करती हूं।

बराबर वेदाध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके निकट मैं रहती हूँ। अपने धर्म में जो रत हैं उन क्षत्रियोंके पास, खेती एवं उपार्जनमें लगे वैश्यों और सेवा परायण शूद्रोंके पास भी मैं सदा रहती हूँ।

नारायणे त्वेकमना वसामि सर्वेण भावेन शरीरभूता,
तस्मिन् हि धर्मः सुमहान्निविष्टो ब्रह्मण्यता चात्र तथा प्रियत्वम्।

मैं अनन्य भावसे भगवान नारायणके चरणमें सभी तरहसे उनका अङ्ग बनकर रहती हूँ। भगवान नारायणके आश्रयमें ही बड़े-से-बड़ा धर्म और ब्रह्मज्ञान प्राप्त होता है तथा सब कामनाओं की पूर्ति होती है।

नाहं शरीरेण वसामि देवि नैव मया शक्यमिहाभिधातुम्,
भावेन यस्मिन्निवसामि पुंसि स वर्धते धर्मयशोर्थकामैः।

हे देवि रुक्मिणी, मैंने जो ऊपर कहा है कि मैं अमुक स्थानमे अथवा स्त्री-पुरुषोंके निकट रहती हूँ तो मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि मैं शरीरसे वहाँ रहती हूँ वस्तुत. जिन पुरुषोंके गुण, कर्म, स्वभाव उपरोक्त प्रकारके होते हैंवेही श्रीमान् होते हैं और वे धर्म, यश, अर्थ और काम की प्राप्तिसे बराबर उन्नति करते हैं।

हमलोगों का सुख और कल्याण हमारे कर्मों पर ही निर्भर है। ईश्वरसे हमलोगों की यही हार्दिक प्रार्थना है कि वह हमको सद्बुद्धि दे जिससे हम अच्छे कामोंमें लगें। क्योंकि बिना सत्कर्मके हमारी कोई भी उन्नति नहीं हो सकती। इसीसे हम सबको सत्कर्म करनेके लिये सर्वदा तत्पर रहना चाहिये।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्,
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।
विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्,
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।

उपरोक्त श्लोकोंमें योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहा है कि जो सत्कर्म किया जाता है वह करते समय जरूर कड़वा लगता है और शुरूमें हमें कष्टों का सामना भी करना पड़ता है। परन्तु बादमें उसका फल बड़ा सुखदायक होता है। बिना सत्कर्मके हमलोगों का कल्याण कभी नहीं हो सकता। विषयेन्द्रियोंके संयोगसे जो कर्म पहले करते समय सुखमय हो जाता है उसका फल आगे जाकर दुखमय हो जाता है। अतः हमलोगों को ऐसे कर्म करने चाहियें जिनका फल सुखदायक होता हो।

ऋतुकाल

ईश्वरने प्राकृतिक नियमोंके अन्तर्गत जो ऋतुकाल का समय रखा है वह सभीके लिये लाभदायक है। प्राचीनकालमें हमलोग नियमानुसार उस समय का सदुपयोग करते थे परन्तु आजकल हमलोग अज्ञानवश उस समयके सदुपयोग को भूले हुए हैं। आगे हमलोगों की जो मर्यादा बँधी हुई थी वह भी उसी प्राकृतिक नियमके अनुसार थी जिससे हम लोग सुखी जीवन बिताते थे। लेकिन इस वर्त्तमान समयमें हमलोगों की मर्यादा कमजोर होनेसे हमारा गार्हस्थ्य दुःखदायी बन गया है।

स्त्री जातिमें परमात्माने जो रजोधर्म रखा है उसको लेकर ऋतुकाल का विधान शुरू होता है। रजःस्रावसे १६ दिन तक ऋतुकाल रहता है।

रजःस्रावके समयमें याने रजःस्रावसे चार दिन तक कभी स्त्रीसंभोग नहीं करना चाहिये। यह शरीरके लिये बहुत हानिकारक है। रजःस्राव से चौथे दिनसे सोलहवें दिन तक संतानोत्पत्ति की इच्छासे स्त्री संभोग किया जा सकता है। इसके बाद स्त्री संभोग नहीं करना चाहिये।

चैत्र और आश्विनके महीनोंमें स्त्री सम्भोग नहीं करना चाहिये। हरएक मनुष्य को शांतचित्त होकर पेट की शुद्धि करनी चाहिये। पेट

की शुद्धिसे ही खून की शुद्धि होती है क्योंकि इस समय मौसम की बदली होती है।

अष्टमी, एकादशी, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, पर्वतिथि तथा चैत्र आश्विनमें १६ दिन जो पितृपक्षके और ६ दिन नवरात्रों के हैं इन दिनोंमें स्त्री संभोग त्याज्य है।

सम दिनोंमें स्त्री संभोगसे पुत्र एवं विषम दिनोंसे पुत्री पैदा होती है और रजःस्रावसे चौथे दिनसे सोलहवें दिनके भीतर ज्यों-ज्यों समय बढ़ता जायगा उसमें पैदा होनेवाली सन्तान उत्तरोत्तर तेजस्वी होगी।

ऋषि मुनियों का यह कथन है कि कन्या को रजोधर्मके बाद भी तीन वर्ष तक अपने पिताके घर ही रहना चाहिये जिससे इस समयके अन्दर उसका रज परिपक्व हो जाय। इसके बाद उसको अपने पतिके घर जाना चाहिये।

रजोधर्म होनेके बाद तीन साल तक उसकी कन्यावस्था ही मानी गई है। उसके बाद उसकी युवावस्था प्रारंभ होती है और तबही वह गर्भाधान के योग्य होती है।

प्राकृतिक नियम सबके लिये समान रूपसे लागू है जैसे—गाय पालनेवाले सज्जन जब बछिया की सांड़के पास जानेकी इच्छा होती है तो एक-दो साल तक उसे सांड़से बचाते हैं। बछिया को सांड़ सम्पर्क से शुरूमें एक-दो वर्ष बचानेका मतलब यह है कि बादमें उसके जो बच्चे होंगे वे बलवान होंगे तथा उस गाय का दूध भी पुष्टिकारक होगा।

ठीक इसी प्रकार वृक्षों को ले लीजिये। फलोंके जानकारोंसे यह ज्ञात हुआ है कि फलोंके जो वृक्ष होते हैं उनमें शुरू में जो फूल आते हैं उनको वे लोग पकने तथा फल का रूप धारण करनेसे पहले ही हटा देते हैं। इससे वृक्षोंको यह फायदा रहता है कि आगे उनमें जो फल लगते

हैं वे बड़े होते हैं तथा वह वृक्ष बड़ा व मजबूत होता है।

इसलिये अपनी गृहरूपी फुलवाड़ीमें जो माता-पिता रूपी माली हैं उनसे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि वे पहले फूलसे (रजोदर्शनसे) कभी फल लेने की आशा न रक्खें। यदि पहिले फूलसे फल ले लिया जायगा तो फलरूपी जो संतान है वह सदाके लिये कमजोर एवं अपूर्ण रहेगी और वृक्षरूपी माता भी हमेशाके लिये कमजोर हो जायगी।

प्राचीन ऋषि-मुनियोंने अपने पूर्ण अनुभवसे सबके लिये जो विधान रचा था वह ईश्वरीय प्राकृतिक नियमके अनुसार ही रचा गया था जैसे सुश्रुतमें लिखा है :—

ऊनषोऽड़श वर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्,
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते।
जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः,
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत्।

सोलह वर्ष से कम आयु की लड़की हो और पचीस वर्ष से कम आयु का पुरुष हो इन दोनोंके संयोगसे जो गर्भाधान होगा वह गर्भ या तो कुक्षि यानि पेटमें ही नष्ट हो जायगा अथवा जन्मते ही मर जायगा या जीवेगा तो जन्मसे ही दुर्बल इन्द्रियोंवाला होगा तथा आयु भी कम होगी इसलिये बाल्यावस्थामें गर्भाधान नहीं होना चाहिये।

कन्यामें लगभग तेरह वर्ष की उम्रमें रज की उत्पत्ति हो जाती है। परन्तु उस समय उस रजमें गर्भधारण की शक्ति पर्याप्त रूपमें नहीं होती क्योंकि रजोदर्शनके बाद रज को परिपक्व होनेमें तीन साल का समय आवश्यक रूपसे लग जाता है। अतः रजमें गर्भधारण की पूर्ण शक्ति सोलह वर्ष की उम्र में आती है। इसके पूर्व बालिकाओं की कन्यावस्था रहती है। वह स्त्री या माता बनने योग्य सोलह वर्षके बाद

ही होती है। पर्याप्त रूपमे शक्ति प्राप्त करनेके पूर्व गर्भ धारण करना हर हालतमे हानिकारक होता है। अत अगर बालिकाएँ सोलह वर्ष के पूर्व या पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पहिले गर्भधारण करें तो उनका जीवन तो बर्बाद हो ही जाता है। साथ ही उनकी सन्तान भी अपूर्ण और पृथ्वी का भारस्वरूप ही बनकर रहती है सोलह वर्ष तक पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पश्चात् गर्भ धारण करने पर जो सन्तान पैदा होती है वह सुखमय जीवन व्यतीत करती है और माता भी नाना प्रकारके रोगोंसे बची रहती है। जैसे किसी आदमीमें एक मन बोझ उठाने की शक्ति हो और वह दो मन बोझ लेकर चले तो उसकी कमर टूट जायेगी या उसके हृदय पर ऐसा बुरा असर पड़ेगा कि नाना बीमारियों का शिकार बनकर उसकी जिन्दगी सदाके लिये भार स्वरूप हो जायगी। इसी प्रकार माताओंके लिये असमयमे गर्भधारण करना हर प्रकारसे हानिकारक होता है।

ठीक यही हालत बालकों की भी है। प्राय पन्द्रह वर्ष की उम्रमे बालकोंमें वीर्य उत्पन्न हो जाता है। पचीस वर्ष की अवस्थामे जाकर वह वीर्य परिपक्व होता है। इसी अवस्थामे बालकके अङ्ग प्रत्यङ्ग की वृद्धि और पुष्टि होती है। यह वृद्धि और पुष्टि वीर्य की वृद्धि और पुष्टि पर निर्भर करती है। अत अगर ऐसी अवस्थामे उसके वीर्य का क्षय हुआ तो उसका शरीर कमजोर और जीवन दुःखमय हो जाता है। साथ ही उसके हीन वीर्यसे उत्पन्न बच्चा भी कमजोर और अल्पायु होता है। जैसे प्रत्येक फलमे आकार बनजानेके साथ ही उसमे बीज प्राप्त हो जाता है पर उस समय फल का बीज अति कमजोर होता है। अगर ऐसे हीन बीज को जमीनमे बो दिया जाय तो वृक्ष तो उग आयेगा पर ऐसा वृक्ष किसी भी रूपमे लाभदायक नहीं होगा। वह वृक्ष बिलकुल

कमजोर होगा, उसका आकार छोटा और बेढंगा होगा और फल भी नीरस होगा। फलमें पूर्ण शक्ति तो समय पर ही आयेगी और पूर्ण रूपेण परिपक्व बीजसे उत्पन्न वृक्ष लंबे चौड़े और मजबूत होंगे तथा उनके फल सदा उत्तम और पुष्टिकारक होंगे। यही अवस्था मनुष्य की भी है। असमयमें अपरिपक्व और हीन रज और वीर्यसे संतान पैदा की जायगी तो वह संतान दुर्बल और हीनांग होगी। माता-पिता की युवावस्थामें जो बच्चे पैदा होंगे वे हृष्टपुष्ट, लंबी-चौड़ी कद के होंगे।

अतः हरएक माता-पितासे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि पर्याप्त शक्ति प्राप्त करनेके पूर्व वे बालकों को गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट न होने दें। स्वार्थके वशीभूत होकर भी उन्हें ऐसा न करना चाहिये। विवाह और पुत्रादि सम्बन्धी असामयिक चर्चा छेड़कर बालकों का ध्यान उस ओर आकृष्ट न करना चाहिये। उचित अवस्था तक वे बालकों को विद्याध्ययन और गृहकार्य की उच्च शिक्षामें लगावें। अगर सोलह वर्ष की लड़की और पचीस वर्षके लड़केमें भी पूर्ण शक्ति न आई हो तो माता-पिता को चाहिये कि वे ऐसे बालकों को आजन्म ब्रह्मचर्य पालन का कठिन आदेश करें।

आजन्म ब्रह्मचर्य पालन करनेसे जो शक्ति इकट्ठी होती है वह इस जन्ममें तो काम आती ही है आगे जन्ममें भी सहायक होती है क्योंकि शक्ति का नाश नहीं होता। उसमें किसी प्रकार का ह्रास नहीं होता। पूर्ण शक्ति प्राप्त करनेके पश्चात माता-पिता अपने बच्चों को गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठ शिक्षा देकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करावें। ऐसा गृहस्थ सुखमय जीवन व्यतीत करेगा और सम्भवतः उसके जीवनमें किसी प्रकार का विक्षेप न हो पायेगा। स्त्री-पुरुष दोनों ही आजन्म सुखी रहेंगे।

ऋतुकाल का जो प्राकृतिक नियम है वह हमारे लिये स्पष्ट रूपसे

कल्याणदायक है। जैसे जब बच्चा पेटमें पड़ता है तब रजोधर्म प्राकृतिक नियमसे ही बंद हो जाता है। उसीसे हमको स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि इसके बाद स्त्री-पुरुष के सहवास का जो समय था वह पूरा हो गया और अब इसके बाद स्त्री-पुरुष का सहवास प्राकृतिक नियमानुसार सर्वथा वर्जित है।

पुरुषके भाव, उसके कर्म, उसकी भावना, उसका आचरण, उसका मन, उसकी शक्ति, सद्गुण और दुर्गुण जैसे होते हैं ये सब ही ऋतुदान के समय गर्भमें समावेश हो जाते हैं। ऐसी हालतमें ऋतुदानके समय पुरुष को हर तरफसे शुद्ध-बुद्ध धीर और शान्तचित्त होना चाहिये ताकि ये शुभ गुण भावी सन्तानमें आ सकें। जिस चीज का बीज जमीनमें बोया जायगा वही फल आगे जाकर पैदा होगा तथा उसका रूप भी वही होगा जैसा फल होगा। ठीक इसी प्रकार ऋतुदानके समय पुरुष के जैसे भाव मनमें होंगे वे भाव ही भावी सन्तानमें आ जायेंगे। आगे बच्चे की पुष्टि एवं आरोग्यता माता पर ही आश्रित है और उसको ठीक ढंगसे रखना माता का ही कर्त्तव्य है। ऋतुदानके समय भी माता की जिम्मेदारी कम नहीं है पर उस समय विशेषता पिता की है।

स्त्री शक्तिरूपा है। उसकी शक्ति हर समय काम करती रहती है। वह कभी भी निष्फल नहीं जाती। गर्भाधान होनेके बाद रज जब बंद हो गया तो वह रज गर्भाशयमें पड़े बालकके निर्माणमें काम आने लगता है।

इसके बाद माता जितनी ही प्रसन्नचित्त रहेगी उसके फलस्वरूप भावी संतान भी उतनी ही बलवान और प्रसन्नचित्त होगी। पुरुष का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह किसी भी प्रकारसे उसकी शक्ति क्षीण न होने दें। उसकी शक्ति की हर प्रकारसे देखरेख करनी चाहिये।

उसमें जितनी ही शक्ति कायम रहेगी उसकी सन्तान उतनी ही तेजस्वी पैदा होगी और उसका दूध उतना ही पुष्टिकारक होगा।

इसलिये माता-पितासे मेरी यही प्रार्थना है कि वे ज्ञान-पूर्वक इन्द्रिय निग्रहसे रहें इसीमें अपना कल्याण है।

बच्चा पैदा होनेके बाद जबतक रजोधर्म फिर न शुरू हो जाय तबतक उसकी शिशुपालिका संज्ञा ही रहती है। इसके बाद ही ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार उसकी स्त्री संज्ञा होती है। रज परिपक्व न होने तक स्त्री-सहवास न करें। बच्चा होनेके बाद माता का एक प्रकारसे पुनर्जन्म होता है और शास्त्रानुसार उसको फिरसे तीन वर्ष का समय मिलना चाहिये ताकि जो बच्चा उसकी गोदमें है उसे पर्याप्त दूध मिल सके और वह बलवान और हृष्टपुष्ट हो। तीन वर्ष तक शास्त्रानुसार ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करनेसे माता का गर्भाशय पुष्ट और शक्ति-सम्पन्न हो जाता है तथा पिता का वीर्य भी परिपक्व हो जाता है। इससे भावी संतान हृष्टपुष्ट उत्पन्न होगी और गोदीवाले बच्चे को विकार रहित और पुष्टिकारक दूध भी तभी मिलेगा।

आयुर्वेद का थोड़ा भी ज्ञान रखनेवाले मनुष्य यह जानते हैं कि बच्चे के स्तन्य-पान की अवधिके अन्दर अगर माता-पिता का समागम होगा तो दूधमें विकार उत्पन्न होगा और बच्चेके स्वास्थ्य और आयु का ह्रास होगा।

यदि प्राकृतिक नियमों पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट मालूम होगा कि माता को दूध तभी आता है जब बच्चा आता है। बच्चे के गर्भस्थ होते ही माता का रज बंद हो जाता है और उसीसे दूध बनना प्रारम्भ हो जाता है। बच्चे के पैदा होते ही माताके स्तनोंमें दूध आ जाता है। बिना बच्चेके दूध पैदा नहीं होता है। इसलिये दूध का पूर्ण हक बच्चे ही

का है और जबतक बच्चे को दूध की जरूरत रहती है तबतक ही माता के दूध रहता है। इसके बाद उसका दूध बंद हो जाता है। जैसे कहावत है कि गोदके बच्चे को छोड़कर पेटके बच्चे की आशा नहीं करनी चाहिये। अतः माता-पितासे मेरी यही प्रार्थना है कि गोदके बच्चे का भले प्रकार पालन-पोषण करके ही दूसरे बच्चे की इच्छा करें। बच्चे को माता का पूर्ण दूध मिलनेसे ही वह सुखमय जीवन व्यतीत करेगा। पूर्ण आयु भोग करेगा। सदा स्वस्थ्य और नीरोग रहेगा। ऐसा बच्चा ही सच्चा नागरिक बनकर देश, जाति, समाज और धर्म की रक्षा कर सकने के योग्य होगा।

जिन माताओं के दूध नहीं होता हो, जिनको बच्चोंके प्रति प्रेम नहीं हो एवं बच्चों को दूध पिलाने का कष्ट न करना चाहती हों उनसे मेरा अनुरोध है कि वे बच्चे पैदा करने का कष्ट न करें। ऐसे बच्चे पृथ्वी के भारस्वरूप ही होंगे क्योंकि मातासे दूध न पाये हुए बच्चे सदा ही रोग ग्रस्त एवं दुर्बल रहेंगे।

शास्त्रसे भी यह स्पष्ट ज्ञान होता है कि जब तक बच्चे को पूरे दांत न आ जाय तबतक संभोग नहीं करना चाहिये। दूसरा प्रमाण यह है कि जबतक बच्चे का चूड़ाकर्म न हो जाय तब तक संभोग नहीं करना चाहिये। इससे साफ प्रकट है कि हमारे शास्त्रोंने हमें बच्चा पैदा होने के बाद तीन वर्ष तक स्त्री समागमसे वर्जित किया है परन्तु आजकल हमलोगों को नाना प्रकारके कष्टों का सामना इसलिये करना पड़ता है कि हम शास्त्रों की आज्ञा की, उसके बताये नियमों की अवहेलना करते हैं। फलतः पीढ़ी दर पीढ़ी नस्ल कमजोर होती जा रही है एवं एक क्षणिक सुखके लिये अपनी अज्ञानतावश हम ईश्वरीय प्राकृतिक नियम और शास्त्र की अवहेलना करते हैं जिसका परिणाम हमारे लिये सभी

प्रकारसे दुःखदायक होता है। आजसे प्रायः सौ वर्ष पहिले माताओंके करीब पाँच-पाँच वर्षके बाद बालक हुआ करते थे। इस पाँच वर्षके अन्तरके कारण वे दीर्घजीवी, बलवान और बुद्धिमान हुआ करते थे। इस पांच वर्ष के अन्तरके आधार पर ही हमारी आयु सौ वर्ष की निर्धारित की गई है। इससे ही बच्चे को माता का दूध पर्याप्त मात्रा में मिलता था और जबतक दूसरा बच्चा पैदा नहीं हो जाता था तब तक वह अपनी माता के लालन पालनमें ही रहता था जिससे वह बच्चा शक्तिशाली, पूर्ण आयुवाला तथा बुद्धिमान होता था। अतः माताओं को अपनी सन्तान की देखभाल खुद रखनी चाहिये। उन्हें अपने नौकरोंके आश्रित कभी नहीं छोड़ना चाहिये। अपने निजके दूध से ही उनका पालन-पोषण करना चाहिये। इसके अनुसार चलनेसे माताओं को अपने बच्चों का लालन-पालन करनेमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होगी और दोनों का स्वास्थ्य ठीक रहेगा।

पाँच वर्ष का यह अन्तर होनेसे माताओंके संतान कम होती थी और उनके बालक बहुत ही कम खण्डित होते थे। इसीसे वह गृहस्थ सुखी रहता था। लेकिन इस समय अज्ञानवश इस पाँच वर्षके भीतर ही माताके तीन संतानें हो जाती हैं जिससे उन बच्चोंके लालन-पालनमें बड़ी-से-बड़ी बाधाएं और कष्ट मिलते हैं। ऐसे बच्चों को माता का दूध भी काफी नहीं मिलता। क्योंकि समयसे पहले ही दूसरा बच्चा गर्भस्थ हो जाता है और इस प्रकार दोनों ही बच्चों को दूध काफी नहीं मिलता। अधिक सन्तान होनेसे माता को भी इनके लालन-पालनमें कष्ट होता है। ऐसी माता तथा ऐसे बच्चे रोगग्रस्त रहते हैं और विभिन्न प्रकार के रोग शोकसे गृहस्थ पीड़ित रहता है। समयसे पहले पैदा होनेके कारण बच्चे प्रायः खण्डित होते हैं और बहुत कम बच्चे माताओंके हाथ

लगते हैं। इससे भी माता-पिताओं को बहुत दुःख भोगना पड़ता है। जैसे आमके वृक्षमें जो फल लगते हैं, उनको अगर उनके समयानुसार उसी वृक्ष पर पकने दें तो वे फल सुन्दर तथा स्वादिष्ट होंगे और अगर वे समयसे पहले ही तोड़ लिये गये तो वे अपरिपक्व रह जायेंगे। ठीक इसी तरह माताओंके जबतक दूध होता है तबतक बच्चों को उनका पूरा-पूरा दूध मिलना चाहिये। क्योंकि शुरूसे ही बच्चे की अस्थि का सुचारु रूपसे बढ़ाव माताके दूध से ही होता है। यह तो निर्विवाद ही है कि माताके दूधसे अस्थि जितनी मजबूत होती है अन्य दूधसे उतनी मजबूत नहीं हो सकती। शरीर का निर्माण अस्थि पर ही निर्भर है, एवं बल, बुद्धि, आयु आदि सब अस्थि पर ही आश्रित है। इस शरीरके जो स्तंभ हैं वे अस्थि ही हैं। शरीर को खड़ा रखना अस्थि का काम है। इसलिये अस्थि जितनी मजबूत होगी उतनी ही हमारी शक्ति बढ़ेगी और वह अस्थि माताके दूधसे ही मजबूत होती है। इससे प्रत्येक योनिमें पैदा होनेवाले बच्चे का हक अपनी माताके दूध पर पूर्ण रूपसे है और वही उसके लिये अमृत तुल्य है। एक योनिवाला अगर दूसरी योनिवाले का दूध काममें लाता है तो वह अपने को खुद नष्ट करता है और बच्चे की शक्ति पर कुठाराघात करके उस बच्चेके साथ भी अन्याय करता है। अतः हरएक योनि का दूध उसी योनिमें काम आना चाहिये। हरएक योनि का पालन-पोषण पहले अपनी माताके दूध से ही होता है। बादमें पृथ्वी मातासे ही सब का पालन-पोषण होता है।

प्राचीन ग्रन्थों को देखनेसे जान पड़ता है कि उस समय माताएं अपने बच्चों का पालन अपने ही दूधसे करती थीं। इसका कारण यह था कि उस समय माताओं को पूर्ण ज्ञान एवं उच्च विचार थे कि बच्चों को अन्य किसी का भी दूध देनेसे उनकी बुद्धि वंशानुरूप विकसित न होगी।

उन को अपने दूध का पूर्ण गौरव था। वे समझती थीं और उनकी समझ सब तरहसे ठीक थी कि यदि बच्चे ने धाय का भी दूध पी लिया तो उसकी बुद्धि ऊपर की ओर न जाकर नीची हो जायगी जिससे अपने कुल का दर्जा नीचे गिर जायगा। लेकिन आजकल देखिये—पैदा होते ही बच्चे को गाय, भैंस और विलायती दूध पर ही आश्रित कर दिया जाता है और उसको अपनी माता का दूध नहीं मिलता। पशुके दूध से जो बच्चा पाला जाता है उसकी आयु और बुद्धि भी वैसी ही होगी जैसी कि पशु की है। यह तो सभी जानते हैं कि पशुओं और मनुष्यों की आयु और बुद्धि समान नहीं होती। आयु की दीर्घता अस्थि की शक्ति पर ही निर्भर करती है। पशुओंके दूधमें मनुष्य की अस्थिके निर्माण की शक्ति उतनी ही होगी जितनी उन पशुओंमें है। माताके ही दूधसे पले बालक की आयु पूर्ण होगी एवं बल और बुद्धि भी अपने हिसाबसे पूर्ण होगी। जैसा अन्न होगा वैसा ही मन होगा। माता के दूधसे पलने से ही वह अपने को पूर्ण उन्नत बना सकेगा। माता का अपने दूध पर पूरा विश्वास है जैसा कि माता कहती है—हमारे दूध को मत लजा देना। माताके दूध की पूर्ति अन्य दूधसे कभी भी नहीं हो सकती। अन्य दूध का व्यवहार करना हमारा अज्ञान है। माता के दूधसे पले बालक बहुत ही कम बीमार होंगे। अन्य दूधसे पले बालक सदा ही बीमार रहेंगे और दवाइयोंके आश्रय ही उनका जीवन व्यतीत होगा।

इसलिये माताओंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि बच्चे को जब तक पूरे दाँत न निकल आवें तब तक उनका पालन-पोषण अपने दूध पर ही निर्धारित रखें। इसके अतिरिक्त मौसमी फल, उनके रस, मेवा तथा अन्न आवश्यकतानुसार बच्चों को देकर ही पालन-पोषण करें।

यावदष्टादशो मासे मातृदुग्धंतु निर्बलम् ।
केवलं जीवनार्थाय ऊर्ध्वं बुद्धिबलायच ।

भावार्थ यह है कि आरम्भमें माता का दूध पतला होता है और वह केवल बच्चेके जीवन धारणके लिये ही होता है। अठारह मासके बाद ही का दूध गाढ़ा एवं बच्चेके लिये बल और बुद्धिवर्द्धक होता है।

ईश्वर की इस अनूठी सृष्टिमें मानव का स्थान सबसे ऊँचा है। मानव ज्ञानशील प्राणी है। वह समर्थ परोपकारी और कर्त्तव्यपरायण जीव है। ये ही सारे गुण उसे सर्वश्रेष्ठ बनाते हैं। उसे अपने कर्त्तव्य का पूरा-पूरा ज्ञान होता है और इसलिये वह सदा विजयी होता है। परन्तु यह सारी चीजें आखिर किस पर निर्भर करती हैं? सब ही इस सरल बात को समझते हैं कि इसका आधार हृष्ट-पुष्ट शरीर ही है। कहा गया है—मानव धर्मके प्रतिपालनके लिये आत्मा की रक्षा हर प्रकारसे की जानी चाहिये। फिर आत्माके वासस्थान शरीर की रक्षा उसी लगनके साथ होनी चाहिये। रक्षाके साधनोंमें दूध का एक विचित्र स्थान आ गया है। बच्चेके लिये अपनी माँ का दूध ही उत्तम और पौष्टिक भोजन है। पर आज कल मनुष्य दूसरे-दूसरे साधनों पर भी आश्रित होने लगे हैं जिनमें पशु आदिके दूध का स्थान उल्लेखनीय है। पर यह तो मानव गुण और स्वभावके विरुद्ध होता है। प्रथम तो मानव प्राणिमात्र का हित चाहनेवाला होता है और उसमें अपना कल्याण मानता है, पर दूसरे पशु का दूध लेकर उसके बच्चे का हक मारना कहाँ का हित कहला सकता है? साथ ही दूसरे पशु का दूध ले लेनेसे उस पशु की नस्ल कमजोर हो जाती है। दूध पर पूरा हक बच्चे का ही होता है और अगर बच्चे को पूरा दूध न मिले तो वह कमजोर हो जायगा। एक योनि का दूध उसी योनिके लिये अधिकसे

अधिक उपयोगी होता है। पशु का दूध व्यवहारमें लानेसे मनुष्य की नस्ल भी कमजोर हो रही है क्योंकि पशु योनि नीची योनि है। अतः नीची योनि का दूध लेनेसे मनुष्य नीचा ही होगा और इसीसे हमारा पतन दिन-प्रति-दिन हो रहा है।

सभी प्राणियोंमें देखा जाता है कि शिशुकालमें पोषणके लिये अपनी माताके दूध की आवश्यकता होती है, उसके बाद नहीं। उसी प्रकार मनुष्य को भी आगे दूध को आवश्यकता नहीं होती। मानव स्वभावसे शाकाहारी है, अतः उसके लिये अन्न कन्द-मूल-फल आदि ही उत्तम भोजन हैं। महाभारतमें कथा आती है कि महाराज पृथुने गोरूपी पृथ्वी को दूहा और अन्न रूप दूध पैदा किया। चावल, जौ, गेहूं, बाजरा, ज्वार, मक्का, मेवा, फलादि—सभी आरम्भमें रस-रूप दूध होते हैं, फिर उसी दूध की टिकड़ी बन यह अन्नका रूप धारण कर लेता है। यही मनुष्य का स्वाभाविक भोजन है और इस भोजनसे ही मनुष्य पूर्णता प्राप्त करता है। मनुष्यों का आहार बचपनमें अपनी माता का दूध है तथा बादमें पृथ्वी माता का अन्नादि रूप दूध ही उनका आहार है।

हरएक माता-पिता यही चाहता है कि अपनी सन्तान तेजस्वी, बलवान्, बुद्धिमान, दीर्घजीवी तथा सुखी हो, परन्तु यह सब पूर्ण रूपसे तभी सम्भव है जब हम ऊपर लिखी हुई बातोंके अनुसार व्यवहार करें। क्योंकि जैसा बीज होगा, वैसा ही फल लगेगा। अतः अपनी सन्तानके कल्याण के लिये हमें सत्कर्म करने होंगे और उनका पालन-पोषण शास्त्रानुसार करना होगा, तभी हमारी सन्तान बलवान, हृष्टपुष्ट और बुद्धिमान होगी। इसके विपरीत चलनेसे वह दुःखमय जीवन व्यतीत करेगी। हरएक माता-पितासे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि वे

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार ऋतुकालाभिगामी होकर अपना गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करें।

माता-पिता की सन्तानोत्पत्ति की आवश्यकता पूर्ण होने पर उन्हें चाहिये कि वे अपनी बची उम्र को ब्रह्मचर्य्यव्रत पालन कर व्यतीत करें। इस प्रकार वे अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें और उज्ज्वल भविष्यका निर्माण करें।

मेरी तुच्छ बुद्धिमे तो यही आता है कि जबसे सन्तान जल्दी-जल्दी होने लगीहै, हिन्दुस्तानमे जनसख्या बहुत बढ़ रही है। जन संख्या बढ़नेसे हमलोगोंके सामने अनेक कष्ट आ रहे हैं। अन्न, वस्त्र का अभाव इसी कारण से है कि माताओंके जो सन्तान होती है, उनमें पाँच वर्ष का अन्तर नहीं होता। अगर यही क्रम रहा तो आगे चलकर हिन्दुस्थान की क्या स्थिति होगी, परमात्मा ही जान सकता है। अत हमलोगों को इस प्रकार की बुराई को दूर करने की चेष्टा करनी चाहिये।

हे माताओ और देवियो—आप पृथ्वी रूपा हैं। जिस प्रकारसे पृथ्वी ने सारी सृष्टि को धारण कर रखा है, आप भी उसी तरह गृहस्थ को धारण करती हैं।

आप जल रूपा हैं। जलमे जिस तरहसे शीतलता है तथा जीवनदातृत्व शक्ति है उसी तरह आप शीलवती हैं।

आप वृक्ष रूपा हैं। जिस तरहसे वृक्ष सबका उपकार नि स्वार्थ भावसे ठंढी छाया तथा फल देकर करता है उसी प्रकार आप उपकार एवं नि स्वार्थ भावसे अनेक कष्ट सहन करके भी सृष्टि की रचना करती रहती हैं। आप अपनी उम्र सेवामे ही व्यतीत करती हैं।

आप शक्ति रूपा हैं। शक्ति का स्रोत होकर आप अपने दूधके

द्वारा समस्त जीवों को शक्ति देती हैं।

आप लक्ष्मी रूपा हैं। बुद्धिस्वरूपा हैं। जहाँ आपकी प्रसन्नता है वहाँ ही सब प्रकारके सुख प्राप्त हैं।

आप धर्म की रक्षिका हैं तथा दया का भंडार हैं। स्वधर्म की रक्षाके लिये अपने शरीर का कुछ भी विचार न करके मरने तक को तैयार रहती हैं। जैसे श्री मातेश्वरी सीताजी ने रावणके इतने प्रलोभन तथा भयसे भी विचलित न होकर स्वधर्म की रक्षाके लिये इतने कष्टों का सामना किया। आपमें त्याग की मात्रा ज्यादा है। जब-जब धर्म पर संकट आता है तब-तब आप दुर्गा आदि रूप धरकर दुष्टों का दमन कर धर्म की रक्षा करती हैं।

आपका आसन सबसे ऊँचा है। देवताभी आप की सदैव स्तुति करते हैं।आपको मेरा बारम्बार नमस्कार है।

आप गृहिणी हो। आप गृह की स्वामिनी हो। जिस प्रकार पृथ्वी समस्त संसार का भार सम्हालकर सबका पालन कर रही है उसी प्रकार गृहके सारे कार्य आप पर हो निर्भर हैं। आप इस गृहस्थाश्रम को जितना सुन्दर चाहें बना सकती हैं। आज हम कुछ पीढ़ियोंसे पतन की ओर बड़ी तेजीसे जा रहे हैं। हमारी मर्यादा कमजोर होनेसे हमारे सारे धर्म-कर्ममें शिथिलता आ गयी है और घर दुःखागार बन गया है। हम शक्तिहीन हो रहे हैं। एवं आपकी मदद करनेमें भी असमर्थ हो रहे हैं। नाना प्रकारके चक्रों और उलझनोंमें फँस कर हम ऐसे अधीर हो गये हैं कि हम अपने अन्न, वस्त्र की समस्या को भी आसानीसे नहीं सुलझा पाते हैं। चारों तरफ अशांति फैल रही है एवं छल-कपट की विशेषता हो रही है—

अतः मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप अपने स्वरूप को समझें और

रानी मदालसा को तरह बालकों को शिक्षा देकर फिरसे भारतवर्षमें, राम, लक्ष्मण, महावीर, भीष्म, भीम, अर्जुन, कपिल, कणाद, हरिश्चन्द्र, युधिष्ठिर, ध्रुव, प्रह्लाद, प्रताप, शिवाजी आदि जैसे नररत्नों एवं सती, पार्वती, सीता, सावित्री, गार्गी, मैत्रेयी, मीरा, पद्मिनी, दुर्गावती, लक्ष्मी बाई, रानी भवानी आदि शक्ति रूपाओं को उत्पन्न करें जिससे भारत-वर्ष अपने प्राचीन गौरव को फिरसे प्राप्त कर सके और सारे संसार का सिरमौर बन सके। यह सामर्थ्य आप ही में है। आप अपने सत्कर्मों द्वारा पिता और ससुर दोनों पक्ष को ही उज्ज्वल बनाती हैं। जैसे कविने लिखा है।

चन्द्र उजोले एक पख, बीजे पख अँधियार,
बलि दुहुं पख उजालिया, चन्द्रमुखी बलिहार।

पुरुष ब्रह्मरूप हैं। ज्ञानके भण्डार हैं। अतः उनको ज्ञानपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन संचालित करना चाहिए। जिससे सब प्रकारके सुखों की प्राप्ति हो।

ईश्वरीय प्राकृतिक नियमानुसार पचास वर्षके करीब स्त्री का रजोधर्म बन्द हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब स्त्री—पुरुष का सहवास सर्वथा अनुचित और अकल्याणकारी है। इसके बाद ईश्वरीय प्राकृतिक नियमसे वाणप्रस्थाश्रम आरम्भ हो जाता है। इसलिये—अब उनका कर्त्तव्य हो जाता है कि काम-क्रोध को त्यागकर वे अपनी सन्तति को सदुपदेश देवें, उसे सत्पथ पर लाने की चेष्टा करें। उनको अपनी बाकी उम्र ब्रह्मचर्यसे रहकर भगवानके भजनमें ही शांत चित्त हो व्यतीत करनी चाहिये ताकि परमात्मा उन पर प्रसन्न होकर उन्हें सदगति देवें।

बम्बईसे एक मित्रका पत्र मिला। आप लिखते हैं—

....

आपको स्मरण होगा कि आपने मुझे अपनी लिखी एक छोटी पुस्तक थी। मैंने उसे एक मित्रसे पढ़वाकर सुना और बड़ा आनन्द आया। कत्ते में जब मैं आपसे बातें कर रहा था उस समय आपने न्तानोत्पत्तिके विषयमें जो बातें कहीं थीं मेरी समझमें नहीं आ सकी ीं। उसका उल्लेख अपनी इस पुस्तकमें भी आपने किया है। आपके थनानुसार एक सन्तान की उत्पत्तिके बाद दूसरी सन्तान की उत्पत्ति पाँच वर्ष का अन्तर होना चाहिये जिससे कि माता-पिता एवं न्तान का स्वास्थ्य कायम रह सके। मैं नहीं समझ सकता कि यवहारिक दृष्टिकोणसे यह कैसे संभव हो सकता है। उदाहरणार्थ क बीस वर्ष का लड़का १६, १७ वर्ष की लड़कीसे विवाह करता है। ौभाग्यसे या दुर्भाग्यसे एक वर्षके भीतर उनके एक संतान पैदा हो ाती है। अब आपके मतानुसार पाँच वर्ष तक उनको दूसरी सन्तान हीं होनी चाहिये अर्थात् एक सन्तानके बाद दूसरी सन्तानके पैदा ोनेमें पाँच वर्ष का अन्तर होना चाहिये। यह कैसे हो सकेगा मेरी ल्पनाके बाहर है। स्त्री-पुरुषको निम्नलिखित तीन उपायोंमें से एक ा अवलम्बन करना होगा।

(१) ब्रह्मचर्य।

(२) गर्भ निरोधके कृत्रिम साधनों का प्रयोग।

(३) हस्त मैथुन।

प्रथम उपाय शास्त्रोंके विरुद्ध एवं अव्यवहारिक भी है। दूसरे एवं तीसरे उपायोंके अवलम्बनसे उस प्रयोजन की सिद्धि नहीं होगी जो आपको अभीष्ट है। ऐसी परिस्थितिमें आपके सिद्धान्त को उचित

रीतिसे कार्यरूपमें कैसे परिणत किया जा सकता मैं नहीं समझ पाता। शायद आप और कोई उपाय बता सकते हैं जिसे आपसे जानकर मुझे प्रसन्नता होगी।

उत्तर

प्रिय मित्र,

आपके पत्रके लिये अनेकशः धन्यवाद। आपके सन्तानोत्पत्ति विषयक प्रश्नके उत्तरमें मेरी तुच्छ बुद्धिके अनुसार निम्नलिखित निवेदन है :—

आपके प्रश्न का बहुत कुछ समाधान मेरी पुस्तक में जो मैं अब लिख रहा हूँ मिलेगा। यह तो निर्विवाद है कि स्त्री-पुरुष की सारी शक्ति, तेज, ओज, आयु, बुद्धि रजवीर्यके ही आधार पर आश्रित हैं। शास्त्र कहते हैं 'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'। रज-वीर्य की रक्षासे जीवन और उनके नाशसे जीवन का नाश है। प्रसवकालमें स्त्री का अत्यधिक रक्त निकल जाता है। उसका खून पतला पड़ जाता है। उसका शरीर अत्यन्त क्षीण हो जाता है। स्त्री का प्रसवके बाद एक प्रकारसे पुनर्जन्म ही होता है। ऐसी अवस्थामें वह जितने अधिक समय तक पुरुष समागमसे पृथक् रहेगी उतना ही उसकी शक्ति का संचय होगा। उसका शरीर हृष्ट-पुष्ट और उसका दूध शक्तिशाली होगा जिससे गोदवाला बच्चा पुष्टिकारक और पर्याप्त दूध पाकर मजबूत और दीर्घायु होगा। बादमें आनेवाली संतान भी स्वस्थ, सबल और बड़ी उम्रवाली होगी। पुरुष भी वीर्य निग्रह द्वारा शक्तिशाली होगा। एक बच्चेके बाद दूसरे बच्चेमें यदि पाँच वर्ष का अन्तर होगा तो ऊपर लिखे लाभके अतिरिक्त यह भी होगा कि बच्चे कम होनेसे उनकी देखभाल और संभाल अच्छी तरह करके माता-पिता उन्हें योग्य

नागरिक बना सकेंगे। अधिक सन्तान यदि अयोग्य हों तो वे भार-स्वरूप ही होंगी। योग्य कम सन्तान भी गार्हस्थ्य को उज्ज्वल बना सकेंगी जैसे एक चन्द्रमासे सारा जगत् उज्ज्वल होता है किन्तु बहुत तारोंसे भी उजाला नहीं होता।

इसके लिये गर्भ निरोध या हस्तमैथुनादि उचित साधन नहीं हैं। यह तो आप भी मानते हैं। संयम ही इसका एक मात्र उपाय है। संयम अव्यवहारिक नहीं है। वर्त्तमान रहन-सहनके कारण यह हमलोगों को कठिन प्रतीत होने लग गया है। संयम रखना शास्त्र के सर्वथा अनुकूल है। वह संयम हो कैसे, यह प्रश्न है। उत्तरमें निवेदन है कि संयम मन पर ही निर्भर करता है। स्त्री-पुरुष का कर्त्तव्य है कि वे मनसे विषय-वासना को हटा देवें। उन्हें समझना चाहिये कि स्त्री-पुरुषके प्रसंग का विधान ईश्वरने योग्य सन्तान द्वारा संसार का कल्याण करनेके लिये बनाया है न कि अपनी शक्ति का नाश करनेके लिये। स्त्री-पुरुषके मनमें यह दृढ़ भावना हर समय होनी चाहिये कि विषय-वासना त्याग कर संयमसे रहनेमें ही मानव जाति का कल्याण हो सकता है। अच्छी संगति, सात्विक भोजन, पवित्र विचार एवं उद्यमशील जीवन संयममें बड़े सहायक हो सकते हैं। सबसे अधिक व्यवहारिक उपाय है स्त्री-पुरुष का पृथक् शयन। स्त्री, स्त्रियोंमें और पुरुष, पुरुषोंके समीप सोवें। केवल ऋतुदानके समय ही वे एकान्त सेवन करें। प्राचीनकालमें अपने देशमें रानियोंके लिये पृथक रनवास होते थे। रानी अपनी सखियोंके साथ सोती थी, राजा अपने मित्रों और कर्मचारियोंके साथ। रानी की इच्छा से ऋतुदानके समय ही राजा रनवासमें जा सकता था। इसीसे मानव का उत्थान था। हमारी वीरता थी। स्त्री-पुरुषके युवा अवस्था में प्रवेश करनेके पश्चात् जो सन्तान पैदा होगी वह पूर्ण अङ्ग-प्रत्यङ्ग-

वाली होगी और उसका वजन भी पूरा होगा। माता के दूध भी उपयुक्त मात्रामें होगा। तीन वर्ष तक माता का विकार रहित दूध सन्तान को मिलनेसे वह सन्तान शक्तिशाली होगी और पूर्ण आयु भोग करेगी। उसके बाद जब दूसरा बचा गर्भस्थ होगा वह भी पूर्ण होगा। ऐसी ही मर्यादा हमलोगों को फिरसे बना लेनी चाहिये। इसीसे हमारी नस्ल पीढ़ी दर पीढी अच्छी बनेगी और इसीसे अपना कल्याण होगा।

दुर्व्यसन

आवश्यकतासे अधिक जो व्यवहारमें लाया जाय उसीका नाम व्यसन है और दुष्ट व्यसन ही दुर्व्यसन कहलाता है। दुर्व्यसन शब्द का अर्थ है बुरी और हानिकारक आदत। हर चीज की सीमा होती है, उस सीमा का उल्लंघन करना निन्दनीय होता है। उसका परिणाम भयंकर रूपसे हानिकारक होता है। कहा गया है—"अति सर्वत्र वर्जयेत्"। दुर्व्यसन शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकारके होते हैं, हानियाँ भी दोनोंसे हुआ करती हैं। जीवन यापनके लिये जो काम अति आवश्यक होता है अगर उसे भी उसकी सीमाके पार तक किया जाय तो वह लाभदायक नहीं हो सकता।

यहाँ पर मुख्य-मुख्य दुर्व्यसनों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट किया जाता है। सम्भव है अगर आप इन्हें अच्छी तरह समझकर इनसे दूर रहेंगे तो अन्य दुर्व्यसनोंसे भी छुटकारा मिल सकता है। प्रधानतया नशीले पदार्थ जैसे, शराब, चाय, तम्बाखु, अफीम आदि का सेवन, सिनेमा देखना, जूआ खेलना, चटपटा भोजन, दिनमें सोना और अति स्त्री-प्रसंग दुर्व्यसन कहलाते हैं। ध्यानसे गौर करने पर पता लग जायगा कि इनमें से कोई भी ऐसा नहीं है जिसका

अनियंत्रित व्यवहार होनेसे हमारी शारीरिक, मानसिक और साथ ही नैतिक हानि न हो। एक ही चीज जो समयानुसार निर्धारित मात्रामें व्यवहार करनेसे अमृतके समान फल देती है उसीका अनावश्यक और अति मात्रामें व्यवहार किया जाय तो वही विष का काम करती है। जैसे शराब को ले लिया जाय। दवाईके रूपमें वह अत्यंन्त लाभदायक है, पर आदतके वशीभूत होकर उसका सेवन करना हानिकारक होता है। उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग को ले लिया जाय। अति स्त्री-प्रसंग हर हालतमें हानिकारक सिद्ध होता है। प्रत्येक दुर्व्यसन की यही हालत है।

दुर्व्यसनसे सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अंतमें नैतिक हानि होती है। नशीले पदार्थके अनावश्यक सेवनसे शरीरके अंग-प्रत्यंग बिगड़ जाते हैं। शरीर की अनमोल ताकत दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। फलतः शरीर नाकाम हो जाता है और मनुष्य नाना प्रकारसे पीड़ित होकर दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। मनुष्य नशीले पदार्थ का गुलाम बन जाता है। फिर तो उसके बिना एक क्षण भी चैन उसे नहीं पड़ती है। कभी-कभी मनुष्य इसके लिए अपनी इज्जत आबरू तक की बाजी लगा देता है। नाशवान क्षणिक आनन्द के लिए मनुष्य अपने कल्याण की बात एकदम भूल जाता है, अन्धे की तरह विनाश की ओर दौड़ पड़ता है। चटपटे और बनावटी स्वादु भोजनके विषय में भी यही कहा जा सकता है। हम खाना खाते हैं जीनेके लिए, न कि जीते हैं खानेके लिए। भोजन तो इसलिए किया जाता है कि शरीर स्वस्थ, सुडौल और हृष्टपुष्ट बना रहे ताकि मनुष्य पुरुषार्थ कर अपने जीवन को सफल बना सके। अतः उचित तो यह है कि शरीर को पुष्ट और नीरोग रखनेवाला भोजन करना चाहिए।

यह प्राकृतिक रूपमें पाये जानेवाले भोजनमें ही सम्भव है। परन्तु यदि मनुष्य जीभके क्षणिक आनन्दके लिए बनावटी चटपटे भोजन की ओर झुक जाय तो शरीर की पुष्टि और वृद्धि तो दूर रही, वह अपनी हालत को सम्भाल भी नहीं सकता। क्षणिक आनन्दके लोभमें, मनुष्य ऐसे भोजन को पसन्द कर लेते हैं जो उनके लिए घृणित रूपसे हानिकारक साबित होते हैं। आवेशमें उनसे होनेवाली हानियों का वे कुछ भी खयाल नहीं करते और अपनेको बरबादी की ओर ले जानेमें सहायक होते हैं पर यह उनकी महान भूल होती है।

दिनमें सोने की आदत तो बहुत बुरी बीमारी है। ईश्वरने पुरुष को पुरुषार्थ करनेके लिए रचा है। साथ ही उनकी जिन्दगी भी बहुत छोटी होती है। इस छोटी जिन्दगीके गिने-गिनाये दिनों को सोकर बरबाद कर डालना कतई वांछनीय नहीं है। उसे तो पुरुषार्थ कर मानव जीवन धन्य बनाने का उद्योग करना चाहिए। परिश्रम करते-करते जब मनुष्य थक जाता है तो उसे आराम की भी आवश्यकता होती है। ईश्वर की इस अनूठी सृष्टिमें उसका उचित प्रबन्ध पाया जाता है। दिन की रचना की गई है ताकि मनुष्य दिनभर परिश्रम कर अपनी जीविका उपार्जन, परोपकार, भगवत् चिंतन करे। रात की रचना इसलिए की गई है कि परिश्रम करते-करते थक जाने के बाद फिर पुरुषार्थ करने योग्य शक्ति प्राप्त करनेके लिए रातमें मनुष्य या जीवमात्र आराम करें और नयी स्फूर्ति और ताकत प्राप्त करें। फिर दिनमें सोकर अपने जीवनके अनमोल समय को बरबाद कर शरीर को आलसी, शक्ति हीन और अकर्मण्य बनाना मूर्खता ही होगी।

अब अति स्त्री-प्रसंग जैसे भयंकर दुर्व्यसन को लीजिये। इसे दुर्व्यसनों का सरदार या राजा कहा जा सकता है। जैसा आगे बताया

है। ईश्वरने स्त्री-पुरुष की रचना सृष्टि को कायम रखते हुए इसे आगे बढ़ानेके उच्च उद्देश्यसे की है। अतः सन्तानोत्पत्तिके लिये स्त्री-प्रसंग आवश्यक और उचित भी है। हमारे ऋषि मुनि भी इसी प्रकार की उत्तम शिक्षा दे गये हैं, अगर व्यसनके रूप में नहीं वरन् सन्तानोत्पत्तिके लिये स्त्री-प्रसंग किया जाय तो वह स्त्री और पुरुष दोनोंके लिये लाभदायक होगा और इस प्रकार जो संतान पैदा होगी वह शूर-वीर पराक्रमी, यशस्वी होकर सुखमय जीवन व्यतीत करेगी। पर हमारी उपस्थित हालत तो कुछ दूसरी ही हो गयी है। स्त्री-प्रसंगके पवित्र उद्देश्य को भूलकर हमने उसे व्यसन का घृणित रूप दे डाला है। समय असमय, उचित अनुचित, लाभ हानि, आदि को भूलकर हमलोग उसके पीछे कीड़े की तरह लग गए हैं। हम उसके पीछे इस तरह पागल हो गए हैं कि उससे होनेवाली हानियों को जानकर भी उसमें लीप्त हो रहे हैं। यही कारण है कि हम दिनोंदिन कमजोर होते जा रहे हैं। हमारी संतान पीढ़ी दर पीढ़ी निकम्मी, कदमें छोटी, कायर और पुरुषार्थहीन होती जा रही है। नाना प्रकार की बीमारियों का शिकार बनकर हम असमयमें ही कालके कराल गालमें पड़ जाते हैं। अतः इसे व्यसन का रूप न देकर पवित्र उद्देश्यसे ही व्यवहारमें लाया जाय और उसके उच्च फल को प्राप्त किया जाय।

जैसा आगे बताया जा चुका है, दुर्व्यसन कोई भी हो उसमें सर्व प्रथम शारीरिक, फिर मानसिक और अन्तमें नैतिक पतन होता है। ईश्वरने संसारमें नाना प्रकार की चीजों की सृष्टि इसलिए की है कि हम उसका उचित व्यवहारकर सच्चा आनन्द प्राप्त करें। कई बार जन्म लेने और मरनेके बाद, कितनी यातनाओं का सामना करनेके पश्चात् यह मानव शरीर मिलता है। इसकी प्राप्ति अति कठिन है। फिर

इस अमूल्य मानव शरीर को सस्ते मूल्य पर खो देना अपने पैरमें अपनेसे कुल्हाड़ी मारना है। पंचतत्वों का बना यह मानव शरीर कोई लोहा तो है नहीं फिर लोहे का भी ह्रास होता है। अतः दुर्व्यसन का शिकार बन जानेसे मानव शरीर बिगड़ जाता है, उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण हो जाती है और नाना प्रकारसे पीड़ित होकर मानव दुःखमय जीवन व्यतीत करता है। शारीरिक शक्तिके नाशके साथ-ही-साथ मानसिक शक्ति का भी विनाश हो जाता है (क्योंकि स्वस्थ शरीरमें ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास हो सकता है)। अतः मानव अपने विचार विवेक, बुद्धि आदि को खो बैठता है। यह मानव शरीर निरर्थक हो जाता है। यह तो इस नाशवान् मानव शरीर की बात रही। पर हमारा विनाश वहीं तक सीमित नहीं रहता। वह और भी आगे बढ़ता है। नाशवान मानव शरीर आज नहीं तो कल नष्ट होगा ही। पर इस नाशवान शरीरके अन्दर एक अमर ज्योति वास करती है— आत्मा की, वह कभी नष्ट होनेवाली नहीं है। वह अखंड और अमर है। पर शारीरिक और मानसिक शक्तिके ह्रास हो जाने पर आत्मा पर भी इसका बुरा और भयंकर प्रभाव पड़ता है। उसकी शक्ति और ज्योति क्षीण हो जाती है। अनन्त कठिनाइयोंके बाद प्राप्त यह मानव शरीर मिलता है। यहाँ इसका दुर्व्यवहार होनेसे आत्मा पुनर्जन्ममें आगे की ओर न बढ़कर पीछे पड़ जाती है और फिर, मनुष्य को नीची योनिमें जाकर नानाप्रकार की यातनाओं का सामना करना पड़ता है। इस प्रकार पूर्व जन्म की अनमोल कमाई क्षणमें बरबाद हो जाती है। साथ ही सबसे बड़ी हानि तो यह होती है कि मोक्ष बहुत दूर पड़ जाता है। अगर मनुष्य नियमानुसार उचित कार्य कर शारीरिक और मानसिक शक्ति का संचय करें तो आत्मा की शक्ति बढ़ जाय।

उसकी ज्योति प्रखर हो जाय और फिर आगे जन्ममें वह उच्च योनिमें जा सके। अगर उन्नति का यह क्रम जारी रहा तो समय पाकर आत्मा परमात्मासे मिल जाय, मनुष्यके मानव-जीवन का श्रेष्ठ फल मोक्ष मिल जाय। फिर तो आवागमनके बंधनसे छुट्टी मिल जाय। अत: इस अखंड और अनमोल आत्मा की रक्षा हर प्रकारसे की जानी चाहिए पर आत्माके रहने का शरीर रूपी घर ही ध्वस्त हो जाय तो फिर उसकी उन्नति का क्या सवाल हो सकता है।
अत: शरीर की रक्षा हर उचित उपायसे करनी चाहिए—

"धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलमुत्तमम्"

मानव शरीर नाशवान है। इसके नाशके साधन इसके साथ ही लगा है। वह है हमारी इन्द्रियों का दुरुपयोग जिसके चलते हम दुर्व्यसन और षट् विकारके शिकार बनते हैं। स्वभावत: इन्द्रियों की नीची प्रवृत्ति होती है। वे हमें पतन की ओर ले जाना चाहती हैं। ऋषि मुनियोंने इन्द्रियों को वशमें रखना बतलाया है। मानव ज्ञानवान प्राणी है। ज्ञानके द्वारा इनको जानकर उनपर शासन करे यही उसको शोभा देता है। वे ज्ञानरूपी अंकुशसे इन इन्द्रियों को सदा नियन्त्रणमें रखें। शरीर रूपी मंदिरमें अखंड आत्मारूपी प्रकाश वर्तमान है पर व्यसनरूपी शत्रु उसकी ज्योति को क्षीण करने का प्रयास करते हैं। मनुष्य को चाहिये कि ज्ञानरूपी दीपकसे इस अंधकार को दूर कर अपनी आत्मा को प्रखर और शक्तिशाली बनावें, ताकि यह जन्म सफल हो आगे जन्ममें भी वे आगे बढ़ सकें। इस अन्धकार को दूर करनेके लिए समय-समय पर धर्म पुस्तक का अध्ययन, सत्संगति आदि का अवलंबन करना चाहिए।

इन दुर्व्यसनों का शिकार हम बाल्यावस्थामें अज्ञानतावश या बुरी

संगतिमें पड़कर हो जाते हैं, अनजानमें हम क्षणिक आनन्दके लिए किसी बुरी आदत को डाल लेते हैं जिसका परिणाम पीछे चलकर हमारे लिए बहुत हानिकारक होता है। बुरी संगतिमें पड़कर हम अपने को बिगाड़ लेते हैं। हमें इससे बचने का हर प्रकार उचित प्रबन्ध करना चाहिए। प्रधानतया यह उत्तरदायित्व माता-पिता का है। उन्हें अपने बच्चों की पूरी निगरानी रखनी चाहिए ताकि बचपनमें वे कोई बुरी आदत न डाल लें या किसी बुरी संगतिमें पड़कर अपनेको बिगाड़ न डालें, उन्हें ध्यान रखना चाहिए कि उनके बच्चे ठीक नियमित रूपसे उचित कार्य करते हैं तथा आत्मा को उन्नत बनाने योग्य हर कार्य करते हैं। साथ ही यह भार उन बच्चों पर भी आता है जब वे बड़े होकर अपना होश सम्हाल कर खड़े होते हैं। उन्हें काफी मजबूतीसे काम लेना चाहिए और अपने शत्रुओं को वशमें रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यहाँ असफल हो जानेसे वे जीवनमें भी असफल हो जायँ, इसकी भयंकर सम्भावना रहती है। अतः वे भी अपने उत्तरदायित्व को समझकर अपनी रक्षा करते हुए अपनी आत्मा की अमर ज्योति को प्रखर और तेजोमय बनाने की कोशिश करें इसीमें अपना, समाज का और संसार का कल्याण है।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ शब्द पुरुष शब्दसे ही बना है। अतः पुरुषार्थ पुरुषके लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिस मनुष्यमें पुरुषार्थ नहीं है उसका पुरुष नाम हो ही नहीं सकता। ईश्वरीय प्रकृति की देन कैसी सुन्दर है। मानवके अतिरिक्त और सभी प्राणियोंके लिए सारे आवश्यक पदार्थ प्रकृति माता ही बनाती है।

एक मानव जाति ही ऐसी है जिसे अपने भोगके सारे पदार्थ अपने

पुरुषार्थसे ही पृथ्वी मातासे उपार्जन करने पड़ते हैं। परमात्माने मानव जाति को पुरुषार्थके लिए ही बनाया है। बिना पुरुषार्थके मानव जातिके लिए कोई भी वस्तु प्राप्य नहीं है। मानव जाति को अन्य प्राणियों की तरह बनी बनायी चीजें लेनी नहीं है। उसे अपने पुरुषार्थ पर ही निर्भर कर उन्नति करना है। पुरुषार्थ हीन मनुष्य पशु तुल्य ही है, मनुष्य को ज्ञान-सहित पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थसे ही पुरुषार्थ बढ़ता है। अनमोल समय को आलस्यमें नहीं खोना चाहिए। पुरुषार्थ के साथ हमेशा ही सत्कर्म करना और मन कर्म वचनसे प्राणीमात्र का हित करना मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

पृथ्वी मातासे मानव अपने पुरुषार्थ द्वारा जो पदार्थ उत्पन्न करता है वही मनुष्य का प्राकृतिक आहार है। फल, शाक, अन्न, मेवा और तेलहन—ये ही सात्विक और निरामिष, पुष्टिकारक, बलदायक एवं बुद्धिवर्द्धक आहार हैं। इसी आहारसे मानव जाति का कल्याण है। निरामिष आहार ही आत्मा को उन्नत बनानेवाला एवं आत्मा को सुख देनेवाला है।

जैसा कि मनु महाराजने मनुस्मृतिके छठे अध्यायके ४९ वें श्लोकमें कहा है— अध्यात्मरतिरासीनो निरपेक्षो निरामिषः,
आत्मनैव सहायेन सुखार्थी विचरेदिह।

सुख की इच्छा रखनेवाले को आत्मिक उन्नतिमें रुचि रखनेवाला, ईश्वरोपासक एवं योगाभ्यासी होना चाहिये। उसे निरामिष आहार करना चाहिये। परसुखापेक्षी (दूसरे का मुंह ताकनेवाला) न होकर उसे अपनी सहायता आप करते हुए संसारमें विचरण करना चाहिये।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ६ में भाग्य और पुरुषार्थ का निम्नलिखित प्रकरण है—

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
दैवे पुरुषकारे च किंस्विच्छ्रेष्ठतरं भवेत् ॥

युधिष्ठिरने भीष्मपितामहजीसे पूछा—कि हे पितामह आप बडे विद्वान् और सारे शास्त्रोंके ज्ञाता हैं कृपया बताइये कि भाग्य और पुरुषार्थ इन दोनोंमें कौन बडा है ।

भीष्म उवाच

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहास पुरातनम् ।
वशिष्ठस्य च संवादं ब्रह्मणश्च युधिष्ठिर ॥

भीष्मने कहा कि हे युधिष्ठिर इस सम्बन्धमे वशिष्ठ और ब्रह्मा का संवाद उल्लेख योग्य है। वशिष्ठके ऐसे ही प्रश्न पर ब्रह्माजीने उत्तर मे कहा था।

ब्रह्मोवाच

नाबीजं जायते किंचिन्न बीजेन विना फलम् ।
बीजाद्बीजं प्रभवति बीजादेव फल स्मृतम् ॥

बिना बीजके वृक्ष नहीं पैदा होता है बीजके बिना फल भी नहीं होता। बीजसे ही बीज और बीजसे ही फल होता है।

यादृशं वपते बीजं क्षेत्रमासाद्य कर्षक ।
सुकृते दुष्कृते वापि तादृशं लभते फलम् ॥

किसान खेतमे पुण्य या पाप रूपी जैसा भी बीज बोता है वैसा ही फल पाता है।

यथा बीजं विना क्षेत्रमुप्तं भवति निष्फलम् ।
तथा पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥

जैसे बिना खेतके बोया हुआ बीज निष्फल ही जाता है उसी प्रकार

पुरुषकारके बिना दैव (भाग्य) नहीं सिद्ध होता है।

क्षेत्रं पुरुषकारस्तु दैवं बीजमुदाहृतम्।
क्षेत्रबीजसमायोगात्ततः सस्यं समृद्ध्यते॥

पुरुषार्थ खेत है और भाग्य मानो बीज है। खेत और बीजके मिलनेसे ही फसल होती है।

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित्॥

शुभ कर्मसे सुख, पाप कर्मसे दुःख प्राप्त होता है। सब जगह किये कर्म का ही फल प्राप्त होता है। बिना किये का भोग नहीं होता।

तपसा रूपसौभाग्यं रत्नानि विविधानि च।
प्राप्यते कर्मणा सर्वं न दैवादकृतात्मना॥

सुन्दर रूप, सौभाग्य, नाना प्रकारके रत्न आदि तपस्या रूप पुरुषार्थ से ही प्राप्त होते हैं। अकर्मण्य मनुष्य केवल भाग्यसे यह सब कदापि नहीं पाते।

अर्था वा मित्रवर्गा वा ऐश्वर्यं वा कुलान्वितम्।
श्रीश्चापि दुर्लभा भोक्तुं तथैवाकृतकर्मभिः॥

धनधान्य, मित्रादि, ऐश्वर्य, उत्तम कुलमें जन्म और लक्ष्मी भी बिना उत्तम कर्म किये हुए कोई भोग नहीं कर सकता।

नादातारं भजन्त्यर्था न क्लीवं नापि निष्क्रियम्।
नाकर्मशीलं नाशूरं तथा नैवातपस्विनम्॥

जो दानशील नहीं हैं एवं जो क्लीव, आलसी, और अकर्मण्य हैं तथा जो शूर नहीं और तपस्वी (जो सत्कर्मके अनुष्ठानमें कितने भी विघ्न बाधा किंवा कष्ट प्राप्त हों अपने व्रतसे न डिगें) भी नहीं, उन्हें अर्थ प्राप्त नहीं होते।

कृत.पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्तते ।
न दैवमकृते किंचित् कस्यचिद्दातुमर्हति ॥

पुरुषार्थसे ही दैव (भाग्य) बनता है। दैव किसी को भी बिना किये कर्मके कुछ भी नहीं दे सकता है। (पूर्वमें किये हुए कर्मों का फल जो दैव देगा उस फल की प्राप्तिके लिए भी कर्म करने ही होंगे। अतएव मनुष्यों को सदैव सत्कर्ममें लगा रहना चाहिये) ।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन. ।
आत्मैव ह्यात्मन.साक्षी कृतस्याप्यकृतस्य च ॥

मनुष्य आप ही अपना मित्र है और अपना शत्रु भी आप ही है। आप ही अपने शुभ अशुभ कर्मों का साक्षी भी है।

दूसरा कोई हमारी सहायता करेगा तभी हमारी उन्नति होगी ऐसा कदापि नहीं सोचना चाहिये। हम अपने कर्मोंसे ही बड़े होते हैं। उसी प्रकार यह भी ध्रुव सत्य है कि अन्य कोई हमे गिरा भी नहीं सकता है। हमारी गिरावट हमारे अपने अशुभ कर्मोंसे ही होती है। ऐसा हमलोगो को हर समय ध्यान रखना चाहिये कि हमारे उत्थान अथवा पतन हमारे ही कर्मों पर निर्भर है।

यथाग्नि·पवनोद्धूत. सुसूक्ष्मोपि महान् भवेत् ।
तथा कर्मसमायुक्तं दैवं साधु विवर्धते ॥

जिस प्रकार बहुत सूक्ष्म अग्नि भी वायुके संयोगसे प्रबल हो जाती है उसी प्रकार कर्मके द्वारा भाग्य भी प्रबल होता है।

यथा तैलक्षयाद्दीपः प्रह्रासमुपगच्छति ।
तथा कर्मक्षयाद्दैवं प्रह्रासमुपगच्छति ॥

जैसे तेल समाप्त होनेसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार भोगोपरान्त कर्म की समाप्ति पर भाग्य की भी समाप्ति हो जाती है।

विपुलमपि धनौघं प्राप्य भोगान् स्त्रियो वा
पुरुष इह न शक्तः कर्महीनो हि भोक्तुम्।
सुनिहितमपि चार्थं दैवतै रक्ष्यमाणम्
पुरुष इह महात्मा प्राप्नुते नित्ययुक्तः ॥

आलसी अकर्मण्य मनुष्य बड़ी धनराशि, स्त्री अथवा नाना प्रकारके भोगके साधनों को प्राप्त भी कर जाय तो भी उसको नहीं भोग सकता है। उद्यमशील पुरुषार्थी मनुष्य इस लोकमें सब प्रकारके भोगों की प्राप्ति करता है और उसको सहायता देवगण भी करते हैं।

व्ययगुणमपि साधुं कर्मणा संश्रयन्ते
भवति मनुजलोकाद्देवलोको विशिष्टः।
बहुतरसुसमृद्ध्या मानुषाणां गृहाणि
पितृवनभवनाभं दृश्यते चामराणाम् ॥

सदाचारी एवं कर्मशील मनुष्य यदि निर्धन भी हो जाय और निर्धन हो जानेके कारण साधारण मनुष्य उसके यहाँ आना-जाना छोड़ दें, तो भी देवतागण उसके घरमें ही आश्रय लेते हैं। धनधान्यसे युक्त धनी पुरुषोंके घर यदि वहाँ कर्मशीलता और सदाचार नहीं है तो देवताओं को प्रिय नहीं होते।

न च फलति विकर्मा जीवलोके न दैवं
व्यपनयति विमार्गं नास्ति दैवे प्रभुत्वं।
गुरुमिव कृतमग्र्यं कर्म संयाति दैवं
नयति पुरुषकारः संचितस्तत्र तत्र ॥

पुरुषार्थ विहीन मनुष्य इस लोकमें कदापि नहीं फूलता फलता है। दैव उसको कुमार्गसे पृथक् नहीं कर सकता। दैव कर्म का उसी प्रकार अनुगमन करता है जैसे शिष्य गुरु का। संचित शुभ कर्म ही मनुष्य को

उन्नत बनाता है।

मनुष्य को उचित है कि वह सब समय सत्कर्म करता रहे। पुरुषार्थ करनेसे ही ज्ञान और अनुभव की वृद्धि होती है, उसीसे सुख की प्राप्ति होती है। सत्कर्म करनेवाले पुरुषार्थी मनुष्यों का ईश्वर सदा साथ देता है।

तत्त्व

मनुष्य का शरीर पांच तत्त्वोंसे बना हुआ है यथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश। सारे पदार्थ आकाशमें स्थित हैं। पृथ्वी सबको धारण कर रही है, जल प्राणियोंका प्राण है, तेज आत्मा है और वायु सचालन करनेवाला है।

ससारमें जितने पदार्थ हम देखते हैं सभी तत्त्वोंसे बने हुए हैं। तत्त्वोंके बिना ससार का काम एक क्षण भी नहीं चल सकता।

मनुष्य जितना ही प्रकृतिके नजदीक रहेगा उतना ही उसका प्राण गहरा रहेगा और जितना कृत्रिमतामें लिप्त रहेगा उतना ही उसका प्राण छिछला होगा। जैसे सत्युगमें सभी चीजें प्राकृतिक ही व्यवहार होती थीं, तब ही उस समय अस्थिगत प्राण थे लेकिन आजकल कृत्रिमताके कारण कलियुगमें प्राण अन्नगत हो गए हैं। कलियुगके पहिले जब तत्त्वों का ज्ञान, उनका सेवन और पूजन होता था तो मानव शरीर वज्र के समान शक्तिशाली था। उसमें पर्वत तक उठाने की शक्ति थी। लेकिन कलियुगके आगमनके साथ ज्यों-ज्यों कृत्रिमता बढ़ती गई, तत्त्वों का ज्ञान, सेवन, पूजन कम होता गया वैसे ही हमलोगों की शक्ति का ह्रास होता गया। पिछले सौ डेढ सौ वर्षोंसे हमलोग घोर कृत्रिमतामें लिप्त हो गए हैं। इसी सौ-डेढ सौ वर्षोंमें हमारी शक्ति का भी जोरोंसे ह्रास हुआ एवं हो रहा है। जितना तत्त्वों का सेवन होगा उतनी ही

हमारी शक्ति बढ़ेगी। जितने ही कृत्रिमतामें लिप्त होंगे उतने ही हम कमजोर होंगे।

वायु सबका संचालन करनेवाला है। श्वासके लिए वायु की बड़ी आवश्यकता है। शरीरमें जितने रोम छिद्र हैं वे शरीरके द्वार हैं। उनको जितनी मात्रामें शुद्ध वायु प्राप्त होगा। उतनाही शरीर स्वस्थ और सबल होगा। पाचन शक्ति दीप्त होगी। इसीलिए मनुष्य को वस्त्र उतना ही पहिनना चाहिए जितनेसे रोम छिद्रों को पर्याप्त वायु मिलने में बाधा न हो। वस्त्र शृङ्गार या सजावटके लिये नहीं है। यह शरीर ढकनेके लिए ही है। हम चुस्त कपड़े न पहिनें। थोड़े और ढीले कपड़े ही पहिनने चाहिए।

आज कल का विज्ञान भी सब तत्त्वों की शक्ति पर काम कर रहा है। बिजलीके द्वारा जो इतने चमत्कारपूर्ण कार्य हो रहे हैं उस बिजली में अग्नि तत्त्व की ही तो शक्ति है। अग्निके साथ जल का संयोग होनेसे स्टीम बनती है। इस स्टीमके बल पर रेल, जहाज, कल-कारखाने इत्यादि चल रहे हैं। मशीनके कम्प्रेसरमें पवनदेव की लीला दृष्टिगोचर होती है। आकाश तत्त्वके बल पर देशदेशान्तरके समाचार रेडियो द्वारा क्षणभरमें जाने जाते हैं।

जब ये सारे तत्त्व इतने शक्तिशाली हैं तो इनका उचित रीतिसे सेवन कर हम स्वयं ही शक्तिशाली क्यों न बनें? हम कृत्रिमतामें फँस कर मशीन आदिके द्वारा उन तत्त्वोंसे लाभ उठाने का अनिश्चकर प्रयत्न क्यों करें? क्यों नहीं हम तत्त्वोंसे अपना सीधा सम्बन्ध जोड़ें? हमारी बनाई मशीनें जब तत्त्वोंके सहारे आश्चर्यजनक कार्य कर सकती हैं तो परमपिता परमात्मा की रची हमारी यह शरीररूपी अद्भुत मशीन तत्त्वों की उपासनासे क्या नहीं कर सकती?

हमारे पूर्वजोंने इन तत्त्वोंके सेवनसे जो दिव्य शक्ति प्राप्त की थी उसे सुनकर हम अपनी वर्तमान कमजोरीके कारण उस पर विश्वास भी नहीं करते। परन्तु हमारे पूर्वजों के पराक्रम की कथाएँ अक्षरशः सत्य हैं। हमें आज तोप, बन्दूक और गोलों पर बड़ा अभिमान है। हम समझते हैं—इनके बलपर हम विश्व विजय कर लेंगे। परन्तु याद रखना चाहिये कि तोप गोलों पर निर्भर करनेवाले मनुष्य वास्तवमें भीरु और कमजोर होते हैं। जब तक उनके हाथमें बन्दूक है और उसे चलाने का अवसर उन्हें प्राप्त है तब तक उनकी बहादुरी है। बन्दूक हाथसे छिन जाते ही वे शत्रुके प्रहारसे अपनेको बचानेमें अक्षम हो जाते हैं। हमारे पूर्वज—महावीर, भीम आदि को तोप गोलेके विना ही सारी शक्ति प्राप्त थी जो समय-कुसमय उन्हें शत्रुसे बचा सकती थी। वृक्ष उखाड़ कर, पहाड़के चट्टान तोड़कर वे शत्रुओं का संहार करने और आर्तजनों की रक्षा करनेमें समर्थ थे। मुष्टिका प्रहार मात्रसे आततायियों का कचूमर निकाल सकते थे।

योगदर्शनमें लिखा है कि उदान वायु को अपने अनुकूल कर लेनेसे हमारी अव्याहत गति हो जाती है। हम जहाँ भी इच्छा करें, जा सकते हैं; जहाँ चाहें, चल सकते हैं।

'उदानजयाज्जलपंककंटकादिष्वसंग उत्क्रान्तिश्च'

उदानके जयसे हम चाहें जल पंक और कांटों पर चल सकते हैं। उनपर चलते हुए हमारे पाँवोंमें जल, पंक और कांटों का स्पर्श तक नहीं हो सकता। हम जल पर चलें पाँव नहीं भीगेंगे, काँटों पर चलें पाँवोंमें काँटे नहीं गड़ेंगे। हम चाहे विना हवाई जहाजके आकाश में स्वच्छन्द विचरण कर सकते हैं।

आज हम कृत्रिम रेडियो यन्त्र पर गर्व करते हैं। हम समझते हैं

आकाश पर हमारी विजय हो गई। परन्तु हृदयके आकाश को निर्मल बना कर योगी जन अपनी अन्तरात्मामें ही आँख, कान आदि बाहरी इन्द्रियों को बन्द कर भूत, भविष्य, वर्तमानके सारे दृश्य देखा करते थे। उनके हृदयमें ही आकाशवाणी हुआ करती थी।

राम रावण का युद्ध क्या है ? वास्तवमें यह प्राकृतिक तत्त्वों और कृत्रिमता का युद्ध है। रावण कृत्रिमता का अवतार था। उसके पास हवाई जहाज और बिजलीके यन्त्र आदि थे। राम प्राकृतिक तेजके अवतार थे। उनके पास न तो थे विमान और न थीं मशीनें। सीता माता पृथ्वी माता थीं। कहा भी जाता है—वह पृथिवीसे निकलीं पृथिवीमें ही समा गईं। रामसे रावण की पराजय कृत्रिमता का प्राकृतिकतासे पराजय का द्योतक है।

ज्यों-ज्यों कृत्रिमता का बढ़ाव हो रहा है त्यों-त्यों तत्त्वों की शक्ति घट रही है। इनकी शक्ति घटनेके साथ-साथ प्राणी मात्र की एवं खाद्य पदार्थ की शक्ति भी घट रही है।

आज कृत्रिम साधनोंसे जो अन्न पैदा किया जा रहा है उसका बुरा परिणाम प्रत्यक्ष देखनेमें आ रहा है। अब अन्नमें उतनी ताकत नहीं रह गई है जितनी आजसे सौ वर्ष पहिले थी। वही हालत कृत्रिमता से तैयार किये हुए जल की है। हमारे शरीर को स्वस्थ और सबल बनाये रखने की जो शक्ति प्राकृतिक झरनों एवं (हमारी कृत्रिम गन्दगी से अदूषित) नदियोंके जलमें है वह शक्ति शहरों की नलोंसे आनेवाले जलमें नहीं है। कल-कारखानों के कारण नगरों का वायु इतना जहरीला हो रहा है कि नगरनिवासियोंकी आयु और शक्ति का दिन-प्रतिदिन ह्रास हो रहा है।

कृत्रिमताके कारण आज रात को भी दिन बनाया जा रहा है।

उसमें अग्नितत्त्व का बिजली आदिके रूपमें अति अधिक मात्रामें उपयोग होता है। इससे अग्नितत्त्वका ह्रास हो रहा है। जैसे बैटरीमें जितना चार्ज दिया जाता है उसका उचित मात्रामें उपयोग करनेसे वह अधिक समय तक काम करती रहेगी परन्तु यदि उसका अधिक मात्रामें व्यय किया जायगा तो वह शीघ्र ही समाप्त हो जायगी। वैज्ञानिक कहते हैं कि सूर्य का ताप घट रहा है। इसका कारण अग्नितत्त्व का कृत्रिमताके द्वारा अधिक उपयोग ही हो सकता है। यदि यही क्रम [जारी रहा तो इसका परिणाम भविष्यमें हमारे लिए हितकर नहीं होगा।

तत्त्वों का अपव्यय करके जो नानाप्रकारके आविष्कार किये जाते हैं उनसे हमारी तृष्णा दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही है और उससे अशान्ति की भी वृद्धि हो रही है। इन आविष्कारोंके कारण हमारी शरीररूपी मशीन पुरुषार्थ करनेसे भी वंचित की जा रही है। इससे हमारी शक्ति का ह्रास हो रहा है।

प्राचीन ऋषि-मुनियों को भविष्य का ज्ञान था और इस कृत्रिमता के बुरे परिणाम को जानते हुए ही उन्होंने इसको नहीं अपनाया था। कृत्रिमताके बढ़ाव एवं तत्त्वों की शक्तिके ह्रास पर मेधावी पुरुषों को ध्यान देकर कृत्रिमताके बढ़ाव को रोकने एवं बढ़ी हुई कृत्रिमता को जड़ से नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिये। तभी हमारा कल्याण होगा।

अतएव हमें सरदी, गरमी, हवा, वर्षा को सहन करने का अभ्यास रखना चाहिए। हमें तेज, वायु, जल आदिके सेवनसे जो शक्ति प्राप्त हो सकती है उसे शब्दोंमें वर्णन नहीं किया जा सकता। हमें तत्त्वों का सर्वदा सेवन करना चाहिये।

निर्भयता

निर्भयता सारे सत्कर्मों का मूल है। निर्भीक पुरुष ही सत्य बोलने

और सत्य पर आचरण करनेवाले होते हैं। वे ही धर्म और कर्त्तव्यके मार्ग पर अटल रह सकते हैं। संसारमें जितने भी महापुरुष हो गये हैं वा अभी हैं वे निर्भयताके कारण ही धर्मपरायण वा कर्त्तव्यशील हो सके हैं।

इस निर्भयता की प्राप्ति ज्ञान, पवित्र आचरण, प्राणी मात्रके हित चिन्तन और सर्वोपरि ईश्वर भक्तिसे हो सकती है। हम दिनमें जहाँ निर्भय विचरण कर सकते हैं रात्रि होते ही वहाँ जानेमें कुछ संशय उत्पन्न हो जाता है। हमें अन्धकारमें भय और प्रकाशमें निर्भयता होती है। कारण यह है कि प्रकाशमें सारी चीजें हमें स्पष्ट दीखती हैं। अन्धकारमें हम जान नहीं पाते कि वहाँ पर क्या है, क्या नहीं; इसलिये भय की भावना उत्पन्न हो जाती है। अतएव अज्ञान भयदायक और ज्ञान निर्भयता देनेवाला है।

अशुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे भी भय होता है। शायद भेद न खुल जाय, यह डर लगा रहता है। अमुक व्यक्ति हमारी दुर्बलता जानता है। वह रुष्ट हो जाय तो भेद खोल देगा। शुभ कर्मोंके करनेवाले मनुष्य को सब जगह ही निर्भयता है। वह सर्वत्र स्वतंत्र निर्भय विचरण करता है।

प्राणी मात्र के हितचिन्तन की भावना मनुष्य को पूर्ण रूपसे निर्भय बना देती है। हम सबका हित करें तो हमारा कौन अहित कर सकता है? योग शास्त्रमें लिखा है कि जो मनुष्य मन, वचन एवं कर्मसे अहिंसा का व्रती हो जाता है उससे हिंसक पशु तक वैर त्याग कर उसके मित्र हो जाते हैं। यहाँ तक कि उसकी अहिंसाके प्रभावसे पशु अन्य पशुओंसे भी वैर भाव छोड़ देते हैं। ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंमें बाघ और हरिण सर्प और नेवले भी एक साथ खेलते थे। अतः हमारा कर्त्तव्य है कि

हम मन, वचन और कर्मसे दूसरे का कल्याण ही सोचें और करें। इसी से हम निर्भय हो सकते हैं एवं स्वयं कल्याणके भागी हो सकते हैं।

ईश्वर भक्ति द्वारा ईश्वर का शरणागत होना निर्भयता प्राप्ति का सबसे बड़ा साधन है। यह कहावत प्रसिद्ध है कि अपने मालिक की ड्योढ़ी पर कुत्ते भी बलवान् होते हैं। माता की गोदमें छोटा-सा बच्चा भी पूर्ण रूपसे निर्भय होता है। हम अपने सर्व शक्तिमान् सर्वेश्वर सर्व व्यापक स्वामीके दरबारमें रहकर निर्भय क्यों नहीं होंगे, अपनी जगज्जननी जगदम्बा की गोदमें हमें किसका भय हो सकता है ?

अतएव मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वे सदा सत्कर्म करते रहें और सब कर्म ईश्वरार्पण करें। अहंभाव मनमें कदापि न लावें। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि "करो कोई लाख, करैयो कोई और है"। इसीसे हमारी सर्वदा उन्नति होगी। जब मनमें जरा भी भय उत्पन्न हो, तो ईश्वर का चिन्तन करना चाहिये। ईश्वर की ओर मन लगाने से मन की अशान्ति दूर हो जायगी। निर्भय रहनेसे शांति की वृद्धि होगी और ईश्वर हमें सद्बुद्धि देंगे एवं सदा ही हमारे संगी रहेंगे।

माता-पिता को उचित है कि वे बच्चों को सदा निर्भयता का ही उपदेश दें। भय देनेवाली कैसी भी चर्चा उनके सामने कदापि न करें। वीर रस की बातें एवं महापुरुषों का इतिहास आदि उन्हें सुनाया करें। निर्भयतासे ही ध्रुव, प्रह्लाद आदि महापुरुषों का नाम सदा ही अमर है। निर्भयता और सत्कर्मोंके कारण उनका ईश्वर सदा ही सहायक रहा है।

इस शरीर रूपी रथ पर रथ का स्वामी आत्मा सवार है। इस रथमें इन्द्रिय रूप घोड़े जुते हुए हैं। मन (बुद्धि) सारथि है। इन्द्रियोंके विषय—शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन घोड़ों को लुभानेवाली और रास्तेसे गिरानेवाली घास है जो रास्तेके बगलमें गड्डेमें लगी हुई

है। घोड़ों का दिल उस घास को देखकर ललचाता है। वे उसे खाने के लिए गड्ढेमें उतरना चाहते हैं। उस समय यदि सारथि लगाम को ढीला छोड़े तो घोड़े गड्ढेमें चले जायँगे। वे इस शरीर रूपी गाड़ी को भी साथ ले जायँगे। गाड़ी गड्ढेमें गिरकर चकनाचूर हो जायगी। उस पर सवार आत्मा ,जो अपने गन्तव्य स्थान को जाना चाहता था, गड्ढेमें गिरकर दुर्घटना का शिकार हो जायगा, अपने लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकेगा। इससे स्पष्ट होता है कि मनके ऊपर कितना अधिक उत्तरदायित्व है। सारी ज्ञानेन्द्रियाँ—यथा, आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा एवं कर्मेन्द्रियाँ—हाथ, पांव, मुख, पायु (गुदा) और उपस्थ (जननेन्द्रिय) इस मनके ही अधीन हैं और इसकी सहायतासे ही अपने-अपने कार्य करते हैं। इसलिए आवश्यक है कि मनसे सदा ज्ञानके सहित काम लिया जाय। मन जैसा होगा वैसा ही हम बनेंगे। इसलिये मन को सदा ही ऊँचा रखना चाहिये। कहा भी है कि 'मनके हारे हार है मनके जीते जीत'।

सिंह और हाथीके युद्धमें सिंह की ही विजय होती है, इसका कारण यह नहीं है कि हाथी सिंहसे दुर्बल है परन्तु सिंहके मनमें निर्भयता है, उसे आत्मविश्वास है। इसी कारण अपनेसे सबल हाथीके ऊपर भी वह विजय प्राप्त करता है।

शास्त्रमें कहा है—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः

अर्थात् मन ही मनुष्योंके बन्धन और मुक्ति का कारण है।

मनके सम्बन्धमें निम्नलिखित वेद मन्त्र विशेष मननके योग्य हैं—

शिव संकल्प मंत्र

यजुर्वेद अध्याय ३४ मंत्र १ से ६

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

यह मन जाग्रत अवस्थामें दूर-दूर जाता है। सुप्त अवस्थामें भी वैसे ही जाता है। यह अत्यन्त वेगवान और सारी ज्योतियों का भी ज्योती रूप है। यह दिव्य शक्तिसे युक्त मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

इस मनके द्वारा ही पुरुषार्थी, बुद्धिमान् एवं संयमी लोग यज्ञ (सत्कर्म, परोपकारादि) एवं युद्ध कार्य भी सफलतापूर्वक कर सकते हैं। यह मन मनुष्योंके बीचमें अपूर्व शक्तिवाला है। वह मेरा मन शिव संकल्प अर्थात् पवित्र कल्याणकारी निश्चयवाला होवे।

यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरंतरमृतं प्रजासु ।
यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥

जिस मनके द्वारा ही ज्ञान-विज्ञान (एवं ब्रह्मज्ञान), चिन्तन शक्ति एवं धीरता की प्राप्ति होती है, जो मनुष्यमें ज्योति रूप एवं अमृत रूप है, जिस मनके बिना कोई भी कर्म नहीं किया जा सकता वह मेरा मन उत्तम विचारवाला हो।

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मन. शिवसंकल्पमस्तु ॥

भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्के सारे व्यापार मनसे ही ग्रहण किये जाते हैं (वास्तवमें इस मनके मल आवरण और विक्षेपसे रहित होने पर हम क्रान्तदर्शी बन सकते हैं, परमात्मा तकके दर्शन कर सकते हैं) पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा अहंकार और बुद्धि इन सात होताओं द्वारा जो यह हमारा जीवनयज्ञ चल रहा है उस यज्ञ का अधिष्ठाता मन ही है।

वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

यस्मिन्नृचः सामयजूँषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिंश्चित्तꣳ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

जिस मनमें पद्य, गद्य, एवं गीतिमय सारे वेद रथचक्रमें आरोंके समान प्रतिष्ठित हैं। जिसके द्वारा ही सारे चिन्तन और मनन हो सकते हैं। (तात्पर्य यह है कि आदि सृष्टिमें भी परमात्माने जो ऋषियों को वेदों का ज्ञान दिया उस वेदज्ञान को उन हमारे पूर्वज ऋषियोंने मनके द्वारा ही ग्रहण किया। आज भी जो वेद शास्त्रादिके ज्ञाता हो सकते हैं वे भी उनको मन द्वारा ही ग्रहण और धारण कर सकते हैं)। वह मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिनइव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु॥

रथ का सारथि जिस प्रकार घोड़ों को चलाता है उसी प्रकार मन इन्द्रियरूपी घोड़ों को चलाता हुआ हमारे शरीररूपी रथ का सारथि है। यह हृदयमें स्थित सबसे अधिक वेगवान् एवं कभी बूढ़ा नहीं होनेवाला है। वह मेरा मन शुभसंकल्पवाला हो, क्योंकि इसीसे हमारा कल्याण हो सकता है।

प्रत्येक मनुष्य को ध्यानमें रखना चाहिए कि अपनी रीढ़ (मेरुदण्ड) सदा सीधी रहे। जप, पूजा, ध्यानके समय तो वह सीधी रहनी ही चाहिए। बैठते, चलते और सोते समय भी रीढ़ को सीधा ही रखना चाहिए। रीढ़ सीधी रहना आयु और स्वास्थ्यके लिए बहुत ही लाभदायक है। रीढ़ सीधी रहनेसे चित्तमें सदा प्रसन्नता रहती है। रीढ़रूपी यह दण्ड (मेरु दण्ड) यदि बराबर सीधा रहे तो वृद्ध अवस्थामें सहारेके लिए लकड़ीके दण्ड (लाठी) की कोई आवश्य-

कता नहीं पड़ेगी।

गौ, ब्राह्मण, गुरु, साधु, माता-पिता और वृद्धजनों की सेवा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। निःस्वार्थ भावसे की गई सेवा ही सची सेवा है।

गौ की रक्षा करना मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है। रक्षा उसकी शक्ति की ही करनी चाहिए। जिस वृक्षसे पुष्ट और सुमधुर फल लेने की हम आशा रखते हैं, उस को यत्नपूर्वक रक्षा करके उसको मजबूत बनानेसे ही हमारी आशा पूरी होती है, न कि उसकी जड़ काटने से। गोवंश की रक्षा भी तभी हो सकती है जब उसकी शक्ति की रक्षा की जाय। स्तन्यपायी प्राणी मात्र शैशव कालमें माताके दूधसे ही पलते हैं तथा शक्ति प्राप्त करते हैं। उस समय यदि उन्हें माताके दूधसे वंचित कर दिया जाय तो वे कदापि पुष्ट, सबल और दीर्घजीवी नहीं हो सकेंगे। गो के फल स्वरूप उनके बछड़े या बैल हैं। जैसे वृक्ष के फल मनुष्यके लिए उपयोगी हैं उसी तरह बैल की आवश्यकता मनुष्य मात्र के लिये है। उसके बिना मनुष्य की खेती-बाड़ी बिल्कुल ही नहीं चल सकती। बैल जितने ही अधिक शक्तिशाली होंगे उतनी ही हमारे कृषिकार्य की उन्नति होगी और हमें अन्न प्राप्त होगा। इसलिए आवश्यक है कि बैलों को शक्तिशाली बनानेके लिए हम उन्हें उनकी माताओं के दूधसे वंचित न करें और उनकी शक्ति की बराबर रक्षा करें। पूर्ण रूपसे गौ की रक्षा होनेसे ही अपना कल्याण होगा। प्राचीन कालमें बैलोंके पराक्रम की उपमा हाथी और सिंहके पराक्रमसे दी जाती थी। गीतामें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को स्थान-स्थान पर नरपुंगवके नामसे संबोधन करते हैं। पुंगव का अर्थ बैल, (सांढ़) होता है। मनुष्योंमें श्रेष्ठ को नरपुंगव कहा जाता था। कारण बैल पुरुषार्थ सात्विकता एवं

-धीरताके प्रतीक होते हैं। अकबर बादशाहके समयके इतिहासमें भी यह वर्णन आता है कि बैल इतना ऊँचा होता था कि उसको बैठाकर उस पर बोझ लादा जाता था। वह पराक्रम बैलों को उनकी माताके दूधसे ही प्राप्त था। प्राणिमात्र की शक्ति का आधार अपनी माता का दूध ही है।

शास्त्रोंने गौ का दूध लेना केवल यज्ञके लिए ही बतलाया है। वशिष्ठ संहितामें वशिष्ठजीसे उद्दालक कहते हैं—

गोदोहने महत्पापं वत्साहारप्रहारणे।

अर्थात् गाय का दूध दुहकर उसके बछड़े को माताके दूधसे वंचित करना महा पाप है।

वशिष्ठजी कहते हैं कि—

यज्ञसंरक्षणार्थाय गां दुहेयुः महत्फलम्।
अन्यथा दोहने गावे वत्साघातपातकम्॥

यज्ञके लिए गौ दूहना उचित है और कामके लिए—अपने भोजनादिके लिए—गाय का दूध निकालनेसे बछड़ेके वध का पाप लगता है।

यज्ञमें घृत दुग्धादि की आवश्यकता होती है और यज्ञसे प्राणिमात्र का जीवन है इसलिये यज्ञार्थ गाय दूहनेके सम्बन्धमें वशिष्ठजी और भी कहते हैं—

गोदोहने महत् पुण्यं केवलं यज्ञहेतवे।
यज्ञात् सृष्टिः प्रजायन्ते अन्नानि विविधानि च॥
तृणान्यौषधान्यथ च फलानि विविधानि च।
जीवानां जीवनार्थाय यज्ञः संक्रियतां बुधैः॥

केवल यज्ञके लिए ही गाय दूहनेमें बड़ा पुण्य है। क्योंकि यज्ञसे ही सृष्टि चलती है अन्न, घास, औषधि और फल उत्पन्न होते हैं।

प्राणिमात्रके जीवनधारणके लिए यज्ञ किया जाना ही चाहिये।

पद्मपुराण रामाश्वमेध प्रकरण, अध्याय ३३ में हनूमानजी कहते हैं–

य शूद्र कपिला गा वै पयोलुब्ध्यानुपालयेत्।
तस्य पाप ममैवास्तु चेत् कुर्यामनृत वच ॥

जो शूद्र दूध की अभिलाषासे गौ पालता है उसको जो पाप होता है वह पाप मुझे लगे यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न करूँ। (जब शूद्र को दूधके लिए गाय पालनेमें पातक हो सकता है इससे अधिक बुद्धिमान् द्विजोंके लिए दूध की इच्छासे गोपालन कदापि विहित नहीं हो सकता)।

मनुष्य जन्म की सफलताके लिए ज्ञान-विज्ञान की उन्नति की आवश्यकता है। यह तभी हो सकता है जब ज्ञान-विज्ञानके भडार, गुरु ब्राह्मणों को सेवा की जाय और उनसे उपदेश प्राप्त किए जायँ और उनके उपदेशानुसार चलकर ज्ञान की प्राप्ति की जाय।

महाभारत-अनुशासन पर्व अध्याय १५१ में लिखा है–

ते हि लोकानिमान् सर्वान् धारयन्ति मनीषिण।
ब्राह्मणा सर्वलोकाना महान्तो धर्मसेतव ॥
धनत्यागाभिरामाश्च वाक्सयमरताश्च ये।
रमणीयाश्च भूतानां निधान च धृतव्रता ॥

विद्वान् ब्राह्मण सभी लोकों को धारण करते हैं। (अर्थात् स्वयं मर्यादामें रहते हुए सदुपदेश द्वारा मनुष्यमात्र को मर्यादामें रखते हैं) वे ससारमें महान् हैं और धर्मके तो सेतु हैं। धन के त्यागसे वे सबके स्पृहणीय हैं। वे अपनी वाणी पर नियन्त्रण रखते हैं। लोकप्रिय हैं, प्राणिमात्रके सुखके आधार है एव सत्य, सयम आदि व्रतो पर दृढ़ रहनेवाले हैं।

गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होकर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर जो साधनासे

वृद्धजनों की सेवा करना भी हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। उन महानुभावों को भी अति उचित है कि गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होकर वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश कर सभी वासनाओं एवं एषणाओं को त्यागकर सबको समभावसे देखते हुए, मन को उच्च रखते हुए, ईश्वर भजन और प्राणि मात्र का हित चिन्तन करते हुए अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें।

शास्त्रोंने विद्या, कर्म, बन्धुवर्ग और धनके साथ ही आयु को भी मान का कारण बतलाया है। इसीलिये अपने यहाँ की तो यह परिपाटी रही है कि विद्वानों या धनवानोंके भी लड़के बड़े-बूढ़े शूद्रों को भी चाचा, दादा, भाई आदि शब्दोंसे सम्बोधन करते रहे हैं। मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

दूसरोंसे मिलने पर उन्हें अभिवादन (नमस्कार-प्रणाम आदि) करनेवाले एवं सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाले की आयु बड़ी होती है, उसकी विद्या बढती, यश और बल भी बढ़ते हैं। सचमुच वृद्धों की सेवा करनेसे, उन्हें प्रसन्न रखनेसे उनसे हमें उपदेश और आशीर्वाद प्राप्त होंगे। इससे हम सब प्रकारसे सुख समृद्धि प्राप्त करते रहेंगे। हमारा गार्हस्थ्य सुख-सम्पत्तिसे भरपूर होगा।

वृद्धों की सेवा क्यों करनी चाहिए, इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि किसी समय जब वे कार्य करनेमें समर्थ थे, उन्होंने हमारे लिये, जो कुछ कर सकते थे, किया है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि उनकी, वृद्धावस्थामें उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हम उनकी यथा-शक्ति सेवा करें और उनके ऋणसे मुक्त हों। दूसरा यह है कि अपनी

रहते हुए प्राणीमात्रके कल्याण का चिन्तन करते हैं और परोपकार निरत रहते हैं उन्हें साधु कहते हैं। उनकी सदा यही भावना होती है कि

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग् भवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी नीरोग रहें, सबका कल्याण हो, कोई दुःखी न रहे। ऐसे महानुभावों की सेवा करना और उनसे उपदेश ग्रहण कर तदनुसार आचरण करना, हम सबों का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य को जन्म देकर उनके पालन-पोषणमें माता-पिता को जितना असीम कष्ट उठाना पड़ता है उसका बदला मनुष्य सारे जीवनमें नहीं चुका सकता। अतः उनकी जितनी भी सेवा की जाय, उतनी ही थोड़ी है। उनके आदेशानुसार चलकर उनकी आत्मा को सब प्रकार से संतुष्ट रखना संतान का कर्त्तव्य है।

शुश्रूषते यः पितरं न चासूयेत् कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम्।
न च पश्येत नरकं गुरुशुश्रूषयात्मवान्॥

भीष्मपितामहने अनुशासन पर्व में राजा युधिष्ठिर को उपदेश करते हुए कहा है कि जो मनुष्य पिता, माता, ज्येष्ठ भ्राता, गुरु, आचार्य आदि श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा करते हैं और उनकी निन्दा या बुराई कदापि नहीं करते वे सब प्रकारके सुख और सम्मानके अधिकारी होते हैं। वे कभी दुःख शोक नहीं भोगते।

माता-पिता गुरु आदि पूजनीय व्यक्ति की आत्मा जो सेवासे प्रसन्न होकर आशीर्वाद देती है उससे ही घर को सुख-समृद्धि प्राप्त होती है। वह घर सदा फलता-फूलता रहता है।

वृद्धजनों की सेवा करना भी हमारा आवश्यक कर्त्तव्य है। उन महानुभावों को भी अति उचित है कि गृहस्थाश्रमसे निवृत्त होकर वानप्रस्थाश्रममें प्रवेश कर सभी वासनाओं एवं एषणाओं को त्यागकर सबको समभावसे देखते हुए, मन को उच्च रखते हुए, ईश्वर भजन और प्राणि मात्र का हित चिन्तन करते हुए अपनी आत्मा को उज्ज्वल बनावें।

शास्त्रोंने विद्या, कर्म, बन्धुवर्ग और धनके साथ ही आयु को भी मान का कारण बतलाया है। इसीलिये अपने यहाँ की तो यह परिपाटी रही है कि विद्वानों या धनवानोंके भी लड़के बड़े-बूढ़े शूद्रों को भी चाचा, दादा, भाई आदि शब्दोंसे सम्बोधन करते रहे हैं। मनुजी कहते हैं—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्धन्ते आयुर्विद्यायशोबलम्॥

दूसरोंसे मिलने पर उन्हें अभिवादन (नमस्कार-प्रणाम आदि) करनेवाले एवं सदा वृद्धजनों की सेवा करनेवाले की आयु बड़ी होती है, उसकी विद्या बढ़ती, यश और बल भी बढ़ते हैं। सचमुच वृद्धों की सेवा करनेसे, उन्हें प्रसन्न रखनेसे उनसे हमें उपदेश और आशीर्वाद प्राप्त होंगे। इससे हम सब प्रकारसे सुख समृद्धि प्राप्त करते रहेंगे। हमारा गार्हस्थ्य सुख-सम्पत्तिसे भरपूर होगा।

वृद्धों की सेवा क्यों करनी चाहिए, इसके कई कारण हैं। एक तो यह कि किसी समय जब वे कार्य करनेमें समर्थ थे, उन्होंने हमारे लिये, जो कुछ कर सकते थे, किया है। अब हमारा कर्त्तव्य है कि उनकी वृद्धावस्थामें उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेके लिये हम उनकी यथा-शक्ति सेवा करें और उनके ऋणसे मुक्त हों। दूसरा यह है कि अपनी

बड़ी आयुके कारण उन्होंने संसारमें उतार चढ़ाव जीवनके उत्थान-पतन की घड़ियाँ देखी हैं। उनका अनुभव बहुत अधिक है। यदि वे वयो-वृद्ध होनेके साथ ही विद्या वृद्ध और ज्ञानवृद्ध भी हैं तो उन्हें शास्त्र की विद्या और सत्यता का जीवनके क्षेत्रमें साक्षात्कार करने का पर्याप्त अवसर मिला है। हमारी पुस्तकी विद्या केवल तोता रटन्त है। वृद्धजनों का ज्ञान अनुभवसिद्ध और प्रत्यक्ष है। अतः उन वृद्धोंसे जो ज्ञान हमें प्राप्त हो सकता है उसका मूल्य बहुत अधिक है। उनके उस ज्ञान और अनुभव को हम उनकी सेवा द्वारा ही प्राप्त कर सकते हैं। किसीने ठीक ही कहा है कि—

गुरुशुश्रूषया विद्या पुष्कलेन धनेन वा।

विद्या प्राप्त करने का सबसे उत्तम तरीका है गुरु की सेवा। इसलिये वृद्धोंके अनुभवसे लाभ उठानेके लिये भी वृद्धसेवा की परम आवश्यकता है।

अपने शास्त्रों और इतिहास,-पुराणोंमें स्थान-स्थान पर हमें ऐसे प्रमाण मिलते हैं जहां वृद्धसेवा करनेवालों को ही यथार्थ विद्वान् या ज्ञानी माना गया है।

रामायण (वाल्मीकीय) युद्ध काण्ड सर्ग १८ श्लोक ८ में रामचन्द्र जी सुग्रीवके सम्बन्धमें कहते हैं—

अनधीत्य च शास्त्राणि वृद्धाननुपसेव्य च।
न शक्यमीदृशं वक्तुं यदुवाच हरीश्वरः॥

अर्थात् जिसने शास्त्र पढ़कर वृद्धों की सेवा नहीं की है वह ऐसा सुन्दर धर्मानुकुल नहीं बोल सकता है जैसा सुग्रीव बोलते हैं।

महाभारत सभापर्वमें भीष्मपितामह राजसूय यज्ञमें अग्रपूजाके लिये कृष्णजी का प्रस्ताव करते हुए कहते हैं—

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥

हे युधिष्ठिर, मैंने बहुतसे ज्ञानी वृद्धों की सेवा की है। उन सबोंके मुखसे मैंने श्रीकृष्णके गुणों की प्रशंसा सुनी है।

उसी महाभारत के सभा पर्वमें दुर्योधन अपने पिता धृतराष्ट्र से कहता है—

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥

हे राजन्, आप परिपक्व ज्ञानवाले, जितेन्द्रिय और वृद्धसेवी हैं।

धृतराष्ट्र युधिष्ठिरसे उनकी प्रशंसामें कहते हैं। (महाभारत सभा पर्व)

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥

हे तात, तुम विनयी और बड़े बुद्धिमान् हो, तुम वृद्धजनों की सेवा करनेवाले हो, धर्म की बारीकियों को जानते हो।

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १६३ में भीष्मपितामह युधिष्ठिरसे कहते हैं—

दानेन भोगी भवति मेधावी वृद्धसेवया।
अहिंसया च दीर्घायुरिति प्राहुर्मनीषिणः ॥

दानसे मनुष्य भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता है। वृद्धों की सेवा करनेसे मेधावी होता है और अहिंसा (मन, वचन, और कर्मसे प्राणिमात्र का हित साधन) से दीर्घायु की प्राप्ति करता है, ऐसा ज्ञानी बुद्धिमान् पुरुष कहते हैं।

लक्ष्मीजी कहती हैं—मैं (वृद्धोपसेवानिरते च दान्ते) वृद्धों की सेवा करनेवाले जितेन्द्रिय मनुष्यके पास सदा रहती हूँ। वृद्धजनों

सेवा और मदद द्वारा उनकी आत्मा को सब प्रकार से प्रसन्न रखना और शक्तिशाली बनाना हमारा परम धर्म है। जैसे किसान अपनी खेती के शेष भाग की उत्तम बीज के लिये रक्षा करता है जिससे आगे इन्हीं बीजों से पैदा हुए पौधे भी मजबूत हों। इसी तरह बीज-रूपी आत्मा भी पहिले जन्म में जितनी शक्तिशाली, ज्ञानसम्पन्न तेजस्वी होगी, पुनर्जन्म में भी वही शक्ति कायम रहेगी और वे शक्तिशाली आत्मायें, ज्ञानी, तेजस्वी, तपस्वी, महापुरुषों के शरीर धारण कर हमारे भावी समाज को अत्यधिक समुन्नत और शक्ति-संपन्न बनायेंगी।

कर्म, वचन और मनसे दश कर्मों को त्यागना उचित है, इस सम्बन्ध में भीष्म पितामहने महाराज युधिष्ठिर को अनुशासन पर्व के तेरहवें अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकोंमें उपदेश किया है—

कायेन त्रिविधं कर्म वाचा चापि चतुर्विधम्।
मनसा त्रिविधं चैव दश कर्मपथांस्त्यजेत्॥

शरीरसे तीन प्रकार के वचनसे चार प्रकार के और मनसे तीन प्रकारके कर्म त्याग देने चाहिये।

प्राणातिपातः स्तैन्यं च परदारानथापि च।
त्रीणि पापानि कायेन सर्वतः परिवर्जयेत्॥

जीव हिंसा, चोरी और परस्त्री गमन—ये तीन कर्म शरीरसे त्यागने योग्य हैं।

असत्प्रलापं पारुष्यं पैशुन्यमनृतं तथा।
चत्वारि वाचा राजेन्द्र न जल्पेन्नानुचिन्तयेत्॥

असम्बद्ध प्रलाप (बे मतलब की बात,) कठोर वचन, परनिन्दा (चुगली) और झूठ बोलना—ये चार वचनके कर्म त्यागने योग्य हैं।

अनभिध्या परस्वेषु सर्वसत्त्वेषु सौहृदम् ।
कर्मणा फलमस्तीति त्रिविधं मनसाचरेत् ॥

पराये धन पर मन चलाना, दूसरों का अहित सोचना, नास्तिकता (अर्थात् वेदादि शास्त्रों की निन्दा करना एवं कर्म फलमें विश्वास न रखना) ये तीन मानस कर्म हैं जो त्याज्य हैं। मनुष्य को पराये धन पर मन न चलाना चाहिये, प्राणिमात्रसे प्रेम रखना चाहिये, सुख-दुःख जो हमें प्राप्त हो रहे हैं वे हमारे कर्मों के फलस्वरूप ही हैं ऐसा दृढ़ विश्वास रखते हुए ईश्वर में आस्था रखनी चाहिए एवं वेद और ईश्वर की निन्दा न करनी चाहिये।

ये शरीर, वचन और मनके जो दस कर्म त्याज्य बतलाये गये हैं उन्हें कदापि नहीं करना चाहिये। कारण इन कर्मों का करनेवाला तो व्यक्तिगत रूपसे दुःख का भागी होगा ही साथ ही दूसरे लोग उसके असत् कर्मसे दुःख पायेंगे। उसकी देखादेखी दूसरे भी असत् कर्ममें प्रवृत्त हो जायेंगे। इससे संसार का अहित होगा। अतएव इन त्याज्य कर्मोंके त्यागनेमें ही अपना एवं संसार मात्र का कल्याण है।

एक बार पार्वतीजीने भगवान् शंकरसे पूछा था—स्वामिन्, किस शील, चरित्र और आचारसे मनुष्य स्वर्ग जाते हैं? इसका उत्तर भगवान् शंकरने निम्न रूपसे दिया है, जो महाभारत अनुशासन पर्वके अध्याय १४४ में वर्णित है।

देवि धर्मार्थतत्त्वज्ञे धर्मनित्ये दमे रते।
सर्वप्राणिहितः प्रश्नः श्रूयतां बुद्धिवर्द्धनः ॥

देवि, तुम धर्म एवं अर्थके विशेष तत्त्व को जानती हो। तुम सदा ही धर्ममें और इन्द्रिय दमनमें रत रहती हो। तुमने जो प्रश्न किया है उससे प्राणिमात्र का हित होगा और वह मनुष्यों की बुद्धि बढ़ाएगा। उसे सुनो।

सत्यधर्मरताः सन्तः सर्वलिङ्गविवर्जिताः ।
धर्मलब्धार्थभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो मनुष्य सत्य धर्ममें सदा ही रत रहते हैं, किसी प्रकार का बाहरी आडम्बर नहीं रखते और सम्पूर्ण कुलक्षणों एवं दुर्व्यसनोंसे विरत रहते हैं, और धर्मपूर्वक उपार्जित धन का उपभोग करते हैं, वे सुखी हैं। (धर्ममें सत्य सबसे बड़ा है। वह भगवान् का अन्यतम रूप है। यदि केवल सत्य की साधना की जाय तो सब वस्तु अपने आप प्राप्त हो जाय।)

नाधर्मेण न धर्मेण वध्यन्ते छिन्नसंशयाः ।
प्रलयोत्पत्तितत्त्वज्ञाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ॥

जो संशयसे रहित हैं, प्रलय और उत्पत्तिके तत्त्व को जाननेवाले हैं। वे सर्वज्ञ समदर्शी अधर्म या धर्मके भी बन्धनमें नहीं बँधते। (धर्म का फल स्वर्ग और अधर्म का फल नरक है पर हैं दोनों ही बंधन। स्वर्गमें सुख तो होता है पर वह अन्ततः नाशवान् है। फलतः सकाम कर्म का परिणाम बन्धन है परन्तु संशयरहित एवं सृष्टि की विशेषता जाननेवाले महाजन भव बन्धनमें कर्म करते रहने पर भी नहीं पड़ते)

वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः ।
कर्मणा मनसा वाचा ये न हिंसन्ति किञ्चन,
ये न सज्जन्ति कस्मिंश्चित्ते न बध्यन्ति कर्मभिः ॥

कर्म, मन और वचनसे जो किसी भी आत्मा को किसी भी तरह का कष्ट न देते, जो राग और द्वेषसे रहित तथा किसी भी विषयमें लिप्त नहीं होते वे कर्मोंके बन्धनमें नहीं बँधते।

प्राणातिपाताद्विरताः शीलवन्तो दयान्विताः।
तुल्यद्वेष्यप्रिया दान्ता मुच्यन्ते कर्मबन्धनैः॥

जो इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त रहते हैं, शीलवान् और दयालु हैं, शत्रु और मित्र को समान मानते हैं और जो मन को अपने वशमें रखते हैं वे कर्मोंके बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते हैं।

सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु।
त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो प्राणीमात्र पर दया रखते, जिन पर सभी प्राणी विश्वास करते और जिन्होंने हिंसा त्याग दी है और उत्तम आचारवाले हैं वे सुखी हैं।

परस्वे निर्ममा नित्यं परदारविवर्जकाः।
धर्मलब्धान्नभोक्तारस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन दूसरेके धन पर कभी भी मन नहीं चलाते, परायी स्त्री से सदा ही विरत रहते हैं और धर्म पूर्वक पुरुषार्थसे अन्न उपार्जन करके भोगते हैं वे सुखी हैं।

मातृवत्स्वसृवच्चैव नित्यं दुहितृवच्च ये।
परदारेषु वर्तन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन परायी स्त्रियों को सदा ही माता, बहन या कन्याके समान समझते हैं, वे सुखी हैं।

स्तैन्यान्निवृत्ताः सततं सन्तुष्टाः स्वधनेन च।
स्वभाग्यान्युपजीवन्ति ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कभी भी चोरी नहीं करते, सदा अपने धनमें ही संतुष्ट रहते, अपने भाग्यानुसार (कर्म करते हुए) भाग्य पर ही विश्वास करके अपना निर्वाह करते, वे सुखी हैं।

स्वदारनिरता ये च ऋतुकालाभिगामिनः ।
अग्राम्यसुखभोगाश्च ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन अपनी ही स्त्री में रत रहते हैं और ऋतुकालमें सन्तानोत्पत्तिके ही लिये गमन करते हैं न कि इन्द्रिय सुखके लिये वे ही सुखी हैं।

परदारेषु ये नित्यं चरित्रावृतलोचनाः ।
यतेन्द्रियाः शीलपरास्ते नराः स्वर्गगामिनः ॥

जो सज्जन कभी भी दूसरे की स्त्री को बुरी दृष्टिसे नहीं देखते और अपनी इन्द्रियों को सदा ही वशमें रखते हैं एवं शांत स्वभावसे रहते हैं वे ही सुखी हैं।

एष देवकृतो मार्गः सेवितव्यः सदा नरैः ।
अकषायकृतश्चैव मार्गः सेव्यः सदा बुधैः ॥
दानधर्मतपोयुक्तः शीलशौचदयात्मकः ।
वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा सेवितव्यः सदा नरैः ।
स्वर्गवासमभीप्सद्भिर्न सेव्यस्त्वत उत्तरः ॥

यह जो कल्याणकारी मार्ग है उस पर सभी को चलना चाहिये। यह पाप रहित है वस्तुतः इस राहमें दान, धर्म, तप, शील, शुद्धि और दया—सभी वर्त्तमान हैं। जीविका और धर्मके लिये भी इस मार्ग पर सदा ही चलना चाहिये। यह मार्ग सुख का देनेवाला है। इसके विपरीत कभी भी न चले।

उमोवाच

वाचा तु बध्यते येन मुच्यतेऽप्यथवा पुनः ।
तानि कर्माणि मे देव वद भूतपतेऽनघ ॥

भगवान् शङ्करसे पार्वतीजी पूछती हैं कि किस प्रकार की वाणीसे

मनुष्यों को बंधनमें पड़ना पड़ता है, किस प्रकार की वाणीसे बन्धनसे छुटता है एवं सुख को प्राप्ति होती है, यह आप कहिये।

महेश्वर उवाच

आत्महेतोः परार्थे वा नर्महास्याश्रयात्तथा।
ये मृषा न वदन्तीह ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन अपने लिये तथा परायेके लिये खेल (क्रीड़ा) और हँसी-दिल्लगी में भी झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

वृत्त्यर्थं धर्महेतोर्वा कामकारात्तथैव च।
अनृतं ये न भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन जीविका एवं धर्मके लिए और इच्छा की पूर्त्तिके लिये कभी भी झूठ नहीं बोलते, वे ही सुखी हैं।

श्लक्ष्णां वाणीं निराबाधां मधुरां पापवर्जिताम्।
स्वागतेनाभिभाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो वाणी कोमल एवं प्रिय तथा बाधारहित, साफ-साफ मतलब बतानेवाली और मीठी होने पर भी पाप रहित याने झूठ न हो जो सज्जन ऐसी वाणीके साथ सबका आदर-सत्कार करते हैं, वे सुखी हैं।

परुषं ये न भाषन्ते कटुकं निष्ठुरं तथा।
अपैशुन्यरताः सन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन कठोर कड़वी और निष्ठुर वाणी कभी भी नहीं बोलते एवं किसी की भी निन्दा (चुगली) नहीं करते वे ही सुखी हैं।

पिशुनां न प्रभाषन्ते मित्रभेदकरीं गिरम्।
ऋतं मैत्रं तु भाषन्ते ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मित्रोंके आपसमें भेद डालनेवाली चुगली नहीं करते और साथ ही ऐसी वाणी बोलते हैं जो सत्य तथा मित्रता को बढ़ाने-

वाली होती है वे ही सुखी हैं।

ये वर्जयन्ति परुषं परद्रोहं च मानवाः।
सर्वभूतसमा दान्तास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन आपसमें द्वेषता होते हुए भी कड़वी वाणी नहीं बोलते हैं, प्राणी मात्र को समभावसे समझते हैं एवं अपनी इन्द्रियों को वशमें रखते हैं वे ही सुखी हैं।

शठप्रलापाद्विरता विरुद्धपरिवर्जकाः।
सौम्यप्रलापिनो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन जो बात हितकर नहीं है तथा आपसमें विपरीत है उस पर कभी भी तर्क नहीं करते हैं। जो बात हितकर एवं ज्ञान देनेवाली है उसकी चर्चा सदा ही करते हैं वे सुखी हैं।

न कोपाद्व्याहरन्ते ये वाचं हृदयदारणीम्।
सान्त्वं वदन्ति क्रुद्धाऽपि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन क्रोध आने पर भी ऐसी वाणी नहीं बोलते हैं जिससे दूसरों के हृदय को चोट पहुंचे क्रोध आने पर भी शान्तिसे ही बोलते हैं वे ही सुखी हैं।

एष वाणीकृतो देवि धर्मः सेव्यः सदा नरैः।
शुभः सत्यगुणो नित्यं वर्जनीयो मृषा बुधैः॥

हे पार्वतीजी, यह जो वाणी का धर्म कहा गया है वह सदा ही सभी मनुष्योंके सेवन योग्य है यह शुभ है और सत्यगुणयुक्त है। झूठ को सर्वदा ही त्याग करना चाहिये।

उमोवाच

मनसा बध्यते येन कर्मणा पुरुषः सदा।
तन्मे ब्रूहि महाभाग देवदेव पिनाकधृक्॥

माता पार्वतीजीने शंकरजीसे पूछा कि हे भगवन् किस प्रकारके मानस-कर्मसे मनुष्य बंधन को प्राप्त होते हैं और कैसे मानस-कर्मसे सुख प्राप्त करते हैं वह आप कहिये।

महेश्वरउवाच

मानसेनेह धर्मेण सयुक्ता पुरुषा सदा।
स्वर्गं गच्छन्ति कल्याणि तन्मे कीर्तयत श्रृणु॥
दुष्प्रणीतेन मनसा दुष्प्रणीततराकृति।
मनो बध्यति येनेह श्रृणु वाक्य शुभानने॥

हे कल्याणी, जिस प्रकारसे मानस-धर्मसे युक्त मनुष्य सदा सुख को प्राप्त होते हैं एवं जिस प्रकारके मानसिक दुष्ट कर्मोंसे मनुष्य दुःख के भागी होते हैं वह मैं आपको बतलाता हूँ सुनिये।

अरण्ये विजने न्यस्त परस्व दृश्यते यदा।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नरा स्वर्गगामिन॥

जो सज्जन, जङ्गलमें या निर्जन स्थानमें पडे हुए अथवा रक्खे हुए भी दूसरेके धन को देखकर उसे लेने की इच्छा मनमें भी नहीं लाते वे ही सुखी हैं।

ग्रामे गृहे वा ये द्रव्यं पारक्यं विजने स्थितम्।
नाभिनन्दन्ति वै नित्यं ते नराः स्वर्गगामिन॥

जो सज्जन गाँव या घरमें भी निर्जन स्थानमें रक्खे हुए दूसरेके धन को देखकर कभी भी प्रसन्न नहीं होते, अथवा मन नहीं चलाते, वे ही सुखी हैं।

तथैव परदारान् ये कामवृत्तान् रहोगतान्।
मनसाऽपि न हिंसन्ति ते नरा स्वर्गगामिन॥

उसी प्रकार कामवासनासे युक्त एवं एकान्त स्थानमें मिली हुई

परायी स्त्री को जो सज्जन मनसे भी कभी नहीं चाहते वे ही सुखी हैं।

शत्रु मित्रे च ये नित्यं तुल्येन मनसा नराः।
भजन्ति मैत्राः सङ्गम्य ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन मिलने पर शत्रु और मित्रको सदा एकसे मनसे अभिनन्दन करते हैं तथा जो सबसे ही मित्रता रखते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रुतवन्तो दयावन्तः शुचयः सत्यसङ्गराः।
स्वैरर्थैः परिसन्तुष्टास्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन शास्त्रके जाननेवाले और दयावान हैं, भेदभावसे रहित (शुद्ध मन) और सत्यव्रतवाले हैं, अपने ही पुरुषार्थसे प्राप्त हुए धनसे सन्तुष्ट रहते हैं, वे ही सुखी हैं।

अवैरा ये त्वनायासा मैत्रीचित्तरताः सदा।
सर्वभूतदयावन्तस्ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन वैर-विरोध नहीं करते, सदा सबसे मित्रता का भाव रखते एवं सभी प्राणियों पर दया करते हैं वे ही सुखी हैं।

श्रद्धावन्तो दयावन्तश्चोक्षाश्चोक्षजनप्रियाः।
धर्माधर्मविदो नित्यं ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन सदा ही श्रद्धा (अर्थात् सत्य को ग्रहण करने एवं उस पर दृढ़ रहने की बुद्धि) से युक्त हैं, दयालु और पवित्र हैं और पवित्रजनों की संगति करते हैं एवं धर्म और अधर्म को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभानामशुभानां च कर्मणां फलसञ्चये।
विपाकज्ञाश्च ये देवि ते नराः स्वर्गगामिनः॥

जो सज्जन, शुभ और अशुभ कर्मोंके परिणाम को जानते हैं वे ही सुखी हैं।

न्यायोपेता गुणोपेता देवद्विजपरा सदा।
समुत्थानमनुप्राप्तास्ते नरा स्वर्गगामिन ॥

जो सज्जन सदा ही न्यायवान हैं, गुणवान हैं, देवताओं और गुरुजनों मे श्रद्धा रखते हैं तथा आत्मा की उन्नतिमे लगे रहते हैं वे ही सुखी हैं।

शुभै कर्मफलैर्देवि मयैते परिकीर्तिता ॥
स्वर्गमार्गपरा भूय किं त्वं श्रोतुमिहेच्छसि ॥

हे देवि, ऊपर जो मानस-कर्म मैंने कहे हैं उनके फल शुभ हैं। यही सुख का मार्ग है।

कर्मणा, वाचा, मनसाके जो ऊपर लिखे नियम भगवान शंकरजीने हमारे लिये बतलाये हैं इन नियमोंके अनुसार कर्म करनेसे ही हमारा कल्याण होगा लेकिन ये नियम तो हममें स्वभावसे ही होने चाहिये। इसमे हमारी विशेषता नहीं है। इन कर्मोंके विपरीत चलनेसे ही हमारा ह्रास होता है। अपने पुरुपार्थसे नि स्वार्थभावसे प्राणीमात्र की सेवा करने, तथा योगके द्वारा प्राकृतिक आयु को उन्नत करनेमे हमारी कुछ विशेषता भी है।

महाभारत आश्वमेधिक पर्वमें अर्जुन द्वारा कृष्णसे गीताके उपदेश को फिरसे कहने की प्रार्थना की जाने पर श्री कृष्णने जो काश्यप और सिद्धका संवाद अध्याय १७ (अनु गीता पर्व अध्याय २) में सुनाया था उसमेंसे आयुवृद्धिके जो नियम बताये गये हैं वे नीचे लिखे जाते हैं।

आयु कीर्तिकराणीह यानि कृत्यानि सेवते।
शरीरग्रहणे यस्मिंस्तेपु क्षीणेपु सर्वशः॥
आयुःक्षयपरीतात्मा विपरीतानि सेवते।
बुद्धिर्व्यावर्तते चास्य विनाशे प्रत्युपस्थिते॥

मनुष्य मात्र का कर्त्तव्य है कि वह अपने मनुष्य शरीर को सफल बनानेके लिए इस लोकमें वे ही कर्म करे जो कि आयु और कीर्ति को बढ़ानेवाले हैं तथा जिनका आचरण श्रेष्ठ पुरुष करते हैं। यदि उन सभी सत्कर्मों का लोप हो जाता है तो मनुष्य का भी पतन हो जाता है। कारण जिस मनुष्य की आयु का नाश होना चाहता है उसका मन स्थिर नहीं रहता और वह सब विपरीत कर्म करने लग जाता है। विनाश समीप आने पर बुद्धि भी विपरीत हो जाती है।

सत्त्वं वलं च कालं च विदित्वा चात्मनस्तथा।
अतिवेलमुपाश्नाति स्वविरुद्धान्यनात्मवान्॥

उस हालतमें अपना मनोवल, शरीरवल और समय को जानकर भी असंयमी होकर समय वेसमय अपने लिये हानिकारक आहार करने लगता है।

यदायमतिकष्टानि सर्वाण्युपनिषेवते।
अत्यर्थमपि वा भुंक्ते न वा भुंक्ते कदाचन॥
दुष्टान्नामिषपानं च यदन्योन्यविरोधि च।
गुरु चाप्यमितं भुंक्ते नातिजीर्णेऽपि वा पुनः॥

उस हालतमें मनुष्य बहुत ही कष्ट देनेवाले आहार-विहारों का सेवन करने लगता है। बहुत खाने लगता है या बहुत समय तक कुछ भी नहीं खाता। दूषित अन्न-जल (सड़े-गले बासी एवं जिसमें दुर्गन्ध पैदा हो गई हो) और परस्पर विरोधी अन्न तथा रस (जिनको एक साथ नहीं खाना चाहिये जैसे दूधके साथ नमक, केला, उड़द आदि, चीनीके साथ नमक आदि) का सेवन करने लगता है, गरिष्ट और मात्रा से अधिक भोजन करता है अथवा पहिले का किया हुआ भोजन पूरा पच जानेके पहिले ही फिर भोजन कर लेता है।

व्यायाममतिमात्रं च व्यवायं चोपसेवते ।
सततं कर्मलोभाद्वा प्राप्तं वेगं विधारयेत् ॥

अपनी शक्तिसे अधिक मात्रामें व्यायाम करता है, अधिक मात्रामें स्त्री-प्रसंग करता है। मल-मूत्र आदिके वेग को किसी दूसरे कामके करलेनेके लोभसे रोक रखता है। (सोते-जागते या कोई काम करते हुए जब भी मल-मूत्र आदि का वेग मालूम हो उससे तुरन्त ही निवृत्त होना चाहिये उसमें कदापि आलस्य न करना चाहिये। उसे रोकना बहुत हानिकारक है)।

रसाभियुक्तमन्नं वा दिवा स्वप्नं च सेवते।
अपक्वानागते काले स्वयं दोषान्प्रकोपयेत् ॥

अन्नके साथ अधिक रस (मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय) का सेवन करता है अथवा दिनमें सोता है। बिना पके हुए अथवा बेमौसिमके पके हुए अन्न फल का सेवन करता अथवा असमय में भोजन करता है जैसे भोजन का जो निर्धारित समय है उससे विपरीत समयमें भोजन करता है। इससे शरीरके दोष वात, पित्त, कफ-प्रकुपित होते हैं।

स्वदोषकोपनाद्रोगं लभते मरणान्तिकम्।
अपि वोद्बन्धनादीनि परीतानि व्यवस्यति ॥

वात-पित्त, कफके प्रकुपित होनेसे नाना प्रकारके रोग होते हैं। मृत्युतक हो जाती है। यहीं तक नहीं बुद्धिभ्रंशसे मनुष्य ऐसे-ऐसे विपरीत कार्य करलेता है जिससे बिना रोगके भी मर जाता है।

तस्य तैः कारणैर्जंतोः शरीरं च्यवते तदा।
चौर्णिदं, प्रेत्यसत्तं, मद्यपत्यदुष्पतदं॥

उपरोक्त कारणोंसे मनुष्य का शरीर अति शीघ्र क्षीण होता है तथा

आयु का ह्रास होता है। दीर्घायु, बल कीर्ति और ऐश्वर्य आदिके जो जीवन के उपयुक्त कर्म हैं मनुष्य को सदा धारण करना चाहिये।

महाभारत अनुशासन पर्वके अध्याय १०४ में भीष्मपितामहने युधिष्ठिरजी को सदाचारके नियमों का उपदेश मनुष्यमात्रके कल्याणार्थ किया है, उसके कुछ अंश नीचे उद्धृत किये गये हैं।

आचाराल्लभते ह्यायुराचाराल्लभते श्रियम्।
आचारात् कीर्तिमाप्नोति पुरुषः प्रेत्य चेह च॥

मनुष्य सदाचारसे दीर्घायु की प्राप्ति करता है। सदाचारसे ही लक्ष्मी की प्राप्ति करता है। सदाचारसे ही जीवित अवस्थामें कीर्ति प्राप्त करता है और मृत्युके बाद भी उसकी कीर्ति यहाँ कायम रहती है और उसका नाम अमर रहता है।

तस्मात् कुर्यादिहाचारं यदिच्छेद्भूतिमात्मनः।
अपि पापशरीरस्य आचारो हन्त्यलक्षणम्॥

इसलिए कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को उचित है कि वह सदाचार का सर्वदा पालन करे। सदाचारसे पाप शरीरके सारे कुलक्षण एवं दुर्व्यसन भी दूर हो जाते हैं।

आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणाः।
साधूनां च यथावृत्तमेतदाचारलक्षणम्॥

धर्म का स्वरूप आचार है। सदाचारसे युक्त पुरुष ही सन्त हैं। साधु पुरुषों का जो जीवन क्रम है वही आचार है। वही नियम सबके लिये हितकर है।

सर्वलक्षणहीनोपि समुदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति॥

और शुभ लक्षणोंसे हीन मनुष्य भी यदि सदाचारी और श्रद्धालु है एवं परनिन्दा नहीं करता वह सौ वर्ष की आयु प्राप्त करता है।

अक्रोधनः सत्यवादी भूतानामविहिंसक ।
अनसूयुरजिह्मश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

जो क्रोध नहीं करता सदा सत्य ही बोलता है प्राणिमात्र की आत्मा को कष्ट नहीं देता सदा सब का ही हित करता सरलस्वभावसे, युक्त है छल-कपट नहीं रखता तथा दूसरोंके अवगुणों की ओर नहीं देखता वह सौ वर्ष जीता है।

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
उत्थायाचम्य तिष्ठेत पूर्वां सन्ध्या कृताञ्जलि ॥

ब्राह्म मुहूर्त (सूर्योदयसे चार घडी अर्थात् प्राय डेढघण्टा पूर्व, यह काल अमृत वेला है) में उठे। उठकर धर्म और अर्थके लिये भगवान् का चिन्तन करे। आचमन करके प्रात काल की सध्या करे।

एवमेवापरा संध्या समुपासीत वाग्यत ।
ऋषयो नित्यसन्ध्यत्वाद् दीर्घमायुरवाप्नुवन् ॥

इसी प्रकार मौन होकर सायकाल की संध्या भी करे। ऋषि लोग प्रति दिन सायं प्रात संध्या करके बडी आयु प्राप्त करते थे।

परदारा न गन्तव्या सर्ववर्णेषु कर्हिचित्।
न हीदृशमनायुष्य लोके किंचन विद्यते ॥

किसी वर्ण का पुरुष भी परस्त्री गमन कदापि न करे। इससे बढकर आयु को नाश करनेवाला दूसरा कोई कर्म नहीं है।

यावन्तोरोमकूपाः स्यु, स्त्रीणां गात्रेषु निर्मिता ।
तावद्वर्पसहस्राणि नरक पर्युपासते ॥

नित्यमग्निं परिचरेद्भिक्षां दद्याच नित्यदा।
वाग्यतो दन्तकाष्ठं च नित्यमेव समाचरेत्॥

प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, भिक्षा देवे एवं मौन होकर दातौन करे।

न चाभ्युदितशायी स्यात्प्रायश्चित्ती तथा भवेत्।
मातापितरमुत्थाय पूर्वमेवाभिवादयेत्॥

सूर्योदय तक सोया न रहे, सूर्योदयसे पहिले ही उठ जावे। सूर्योदय के बाद उठनेसे प्रायश्चित्त (पश्चात्ताप) करे। उठकर सबसे पहिले माता-पिता को प्रणाम करे।

उदक्शिरा न स्वपेत तथा प्रत्यक्शिरा न च।
प्राक्शिरास्तु स्वपेद्विद्वानथवा दक्षिणाशिराः॥

उत्तर या पश्चिम दिशा की ओर शिर करके न सोवे पूर्व या दक्षिण की ओर शिर करके सोवे।

न भग्ने नावशीर्णे च शयने प्रस्वपीत च।
नान्तर्धाने न संयुक्ते न च तिर्यक् कदाचन॥

टूटे हुए अथवा जीर्ण-शीर्ण खाट पर न सोवे, दो व्यक्ति एक साथ (अर्थात् एक दूसरेसे सटके) न सोवें। टेढ़ा न सोवे (क्योंकि मेरुदण्ड सदा सीधा रहना चाहिए। चित्त न सोवे बाईं करवट सोवे)। जिस घरमें बाहरसे प्रकाश न आता हो बिल्कुल अन्धकारमय हो उस घरमें भी न सोवे एवं मुंह को ढकके न सोवे।

नोत्सृजेत् पुरीषं च क्षेत्रे ग्रामस्य चान्तिके।
उभे मूत्रपुरीषे तु नाप्सु कुर्यात्कदाचन॥

गाँवके निकटके खेत या मैदानमें पाखाना न करे। (तात्पर्य यह है कि पाखाना पेशाब आदि की गन्दगीसे किसी व्यक्ति को किसी भी हालतमें हानि न पहुंचे) पाखाना और पेशाब जलमें कदापि न करे।

नालीढया परिहृतं भक्षयीत कदाचन।
तथा नोदृधृतसाराणि प्रेक्षते नाप्रदाय च॥

रजस्वला स्त्री के हाथ का बना भोजन न करे। (रजस्वला स्त्री को ऋतुकालके प्रथम चार दिन पूर्ण विश्राम करना चाहिये)। ऐसे अन्न न खाने चाहिये जिसमें सार कुछ भी न हो। जो खाते हुए देख रहा हो उसे न देकर भी भोजन न करना चाहिये।

अन्नं बुभुक्षमाणस्तु त्रिर्मुखेन स्पृशेदपः।
भुक्त्वा चान्नं तथैव त्रिर्द्धिः पुनः परिमार्जयेत्॥
प्राङ् मुखो नित्यमश्नीयाद् वाग्यतोन्नमकुत्सयन्।

भोजन करनेके पूर्व तीन वार आचमन करे, भोजनके पश्चात मुख को दो तीन वार अच्छे प्रकार साफ करके धोवे और गहरा कुल्ला करे। विशेष करके पूर्व की ओर मुंह करके मौन होकर खावे। (चारों दिशाओं की ओर मुख करके खानेमें शास्त्र निषेध नहीं करते) खाते समय प्रसन्न चित्त रहे। अन्न की किसी प्रकार निन्दा न करे। उसे बुरे भावसे न देखे। भोजनके समय अन्नमें ही मन लगावे।

सायंप्रातश्च भुञ्जीत नान्तराले समाहितः।
वालेन तु न भुञ्जीत परश्राद्धं तथैव च।

सायंकाल और प्रातःकाल दो वार ही भोजन करे, बीचमें न खावे। केश जिस भोजनमें पड़ गया हो उसे न खावे और दूसरेके श्राद्ध का अन्न भी न खावे।

वाग्यतो नैकवस्त्रश्च नासंविष्टः कदाचन।
भूमौ सदैव नाश्नीयान्नानासीनो न शब्दवत्॥
भुञ्जानो मनुजव्याघ्र नैव शंकां समाचरेत्।
सौहित्यं न च कर्त्तव्यं रात्रौ न च समाचरेत्॥

चुपचाप शांत चित्तसे भोजन करे। एक वस्त्रसे भोजन न करे (अर्थात् गमछा आदिके रूपमें दूसरा वस्त्र पासमें रखना चाहिये) सोकर कदापि न खावे। अन्न को भूमिपर रखकर न खावे (किसी पात्रमें रखकर खावे) सीधा बैठकर ही खावे, चलता-फिरता या खड़ा नहीं खावे। खाते समय किसी तरह का शब्द न करे। मनमें किसी प्रकार की शङ्का भोजन करते समय न करे कि यह पचेगा या नहीं। खूब ठूंस-ठूंसकर न तो स्वयं खावे और न दूसरे को खिलावे। रात में तो कभी भी डटके नहीं खाना चाहिये।

न दिवा मैथुनं गच्छेन्न कन्यां न च बन्धकीम्।
न चास्नातां स्त्रियं गच्छेत्तथायुर्विन्दते महत्॥

दिनमें स्त्रीप्रसंग कदापि न करे। कन्या (युवावस्थासे पहिले) एवं बाँझ स्त्रीसे मैथुन न करे। जिस स्त्रीने ऋतुस्नान न किया हो अथवा अन्य प्रकारसे अपवित्र हो उससे भी समागम न करे। इस प्रकारके कर्म करनेसे आयु का ह्रास होता है। इसलिये ऐसे कर्म न करे।

वृद्धो ज्ञातिस्तथा मित्रं दरिद्रो यो भवेदपि।
गृहे वासयितव्यास्ते धन्यमायुष्यमेव च॥

वृद्ध कुटुम्बी एवं मित्र यदि दरिद्र अथवा कमजोर हो जांय तो उन्हें अपने घरमें रखकर सब प्रकारसे उनकी मदद करनी चाहिये। इससे धन और आयु की वृद्धि होती है।

संध्यायां न स्वपेद्राजन् विद्यां न च समाचरेत्।
न भुञ्जीत च मेधावी तथायुर्विन्दते महत्॥

संध्या समय (सूर्यास्तके समय) न सोवे और न स्वाध्याय करे। उस समय भोजन भी न करे। इससे आयु घटती है।

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा ॥
वयस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति ॥

अच्छे कुलमें पैदा हुई शुभलक्षणोंसे युक्त युवतीसे ही विद्या और व्रत को समाप्त करके युवा अवस्था को प्राप्त गृहस्थाश्रममें प्रवेश करने की इच्छा रखनेवाला बुद्धिमान् पुरुष विवाह करे।

अपत्यमुत्पाद्य ततः प्रतिष्ठाप्य कुलं तथा।
पुत्राः प्रदेया ज्ञानेषु कुलधर्मेषु भारत ॥
कन्या चोत्पाद्य दातव्या कुलपुत्राय धीमते।
पुत्रा निवेश्याश्च कुलाद्भृत्या लभ्याश्च भारत ॥

सन्तान उत्पन्न कर उन्हें सब प्रकारसे योग्य बनाकर कुल की प्रतिष्ठा को बढ़ावे। पुत्रों को पूर्ण विद्या प्राप्तिके लिए विद्वान् गुरुओंके हवाले करे उन्हें कुल-धर्मके पालन करने की भी प्रेरणा करे। कन्या को भी योग्य बनाकर उनका श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न तथा विद्वान् वरके साथ विवाह करे। पुत्र का विवाह भी उत्तम कुलमें ही करे। सेवक भी कुलीन ही रखे।

वर्जयेद् व्यङ्गिनीं नारीं तथा कन्यां नरोत्तम।
समार्षां व्यङ्गितां चैव मातुः स्वकुलजां तथा ॥
पिंगलां कुष्ठिनीं नारीं न त्वमुद्वोढुमर्हसि।
अपस्मारिकुले जातां निहीनां चापि वर्जयेत् ॥
श्वित्रिणां च कुले जातां क्षयिणां मनुजेश्वर।

ऐसी स्त्री से विवाह न करे जो हीन अङ्गवाली अथवा अतिरिक्त अङ्गवाली हो, एक ही गोत्र की हो अथवा माताके कुलमें उत्पन्न हुई हो। पिंगल वर्णवाली किंवा कुष्ठरोगसे पीड़ित स्त्री से विवाह न करे। जो कुल सत्कर्मसे हीन हो जिसमें मृगी, श्वेतकुष्ठ अथवा क्षयरोग हो वैसे कुलके साथ भी विवाह सम्बन्ध न करे।

न चेर्ष्या स्त्रीषु कर्त्तव्या रक्ष्या दाराश्च सर्वशः।
अनायुष्या भवेदीर्ष्या तस्मादीर्ष्यां विवर्जयेत्॥

स्त्रियोंसे ईर्ष्या न करे। उनकी सब प्रकारसे संभाल करे। ईर्ष्यासे आयु की हानि होती है अतएव ईर्ष्या छोड़ देनी चाहिये।

अनायुष्यं दिवा स्वप्नं तथाभ्युदितशायिता।
प्रगे निशामाशु तथा नैवोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥

दिनमें सोनेसे अथवा प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने तक सोये रहने से आयु का नाश होता है। सायंकाल सूर्यास्तके समय भी नहीं सोना चाहिये और जूठे मुंह भी नहीं सो जाना चाहिये।

सन्ध्यायां च न भुञ्जीत न स्नायेन्न तथा पठेत्।
प्रयतश्च भवेत्तस्यां न च किंचित् समाचरेत्॥

सन्ध्याकालमें अर्थात् दिन और रात की सन्धिवेलाओंमें भोजन, स्नान या पढ़ना-लिखना न करे। उस समय समाहित चित्त होकर संध्योपासन करे और दूसरा काम कुछ न करे।

अनिमन्त्रितो न गच्छेत यज्ञं गच्छेत दर्शकः।
अनर्चिते ह्यनायुष्यं गमनं तत्र भारत॥

किसीके यहाँ बिना बुलाये न जावे। यज्ञमें दर्शकके रूपसे जा सकता है। कहीं बिना सम्मानके अपमानित होकर जानेसे आयु क्षीण होती है।

न चैकेन परिव्रज्यं न गन्तव्यं तथा निशि।
अनागतायां सन्ध्यायां पश्चिमायां गृहे वसेत्॥

अकेला कहीं न जावे। सूर्यास्तके पूर्व ही घर चला आवे और रातमें घरमें ही रहे। (रात्रिमें निर्जनताके कारण हिंसक जीवजन्तुओं का भय रहता है)।

मातु पितुर्गुरूणां च कार्यमेवानुशासनम्।
हितं चाप्यहितं चापि न विचार्यं नरर्षभ ॥

माता-पिता तथा गुरु की आज्ञा का अवश्य पालन करे। उसमे हित अनहित का विचार न करे।

यत्नवान्भव राजेन्द्र यत्नवान् सुखमेधते।
अप्रधृष्यश्च शत्रूणा भृत्याना स्वजनस्य च ॥

मनुष्य को सदा कर्मशील एवं पुरुषार्थी होना चाहिये। पुरुषार्थी मनुष्य ही सुखी रहता है और सदा उन्नति करता है। शत्रु, सेवक और आत्मीय स्वजन उसका कदापि निरादर नहीं कर सकते।

युक्तिशास्त्रं च ते ज्ञेयं शब्दशास्त्रं च भारत।
गान्धर्वशास्त्रं च कला. परिज्ञेया नराधिप ॥

मनुष्य को तर्कशास्त्र, व्याकरण, गान विद्या एवं कला का भी यथा-योग्य ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।

पुराणमितिहासाश्च तथाख्यानानि यानि च।
महात्मना च चरितं श्रोतव्यं नित्यमेव ते ॥

पुरावृत्त, इतिहास, सुन्दर वृत्तान्त, एवं महापुरुषोंके चरित्र नित्यमेव सुनने चाहिये।

पत्नी रजस्वला या च नाभिगच्छेन्न चाह्वयेत्।
स्नाता चतुर्थे दिवसे रात्रौ गच्छेद् विचक्षण ॥
पञ्चमे दिवसे नारी षष्ठेऽहनि पुमान्न भवेत्।
एतेन विधिना पत्नीमुपगच्छेत पण्डित. ॥

रजस्वला पत्नीसे न तो समागम करे और न उसे अपने पास बुलावे। चौथे दिन पत्नीके ऋतुस्नान करनेके पश्चात् रात्रिमें उसके समीप जावे। पांचवीं रात्रिमें गर्भ रहनेसे कन्या और छठी रात्रिमें पुत्र

उत्पन्न होता है। इसी विधिसे (युग्म रात्रिमें पुत्र अयुग्म रात्रिमें कन्या उत्पन्न करने की इच्छासे प्रथम रजोदर्शनसे सोलहवीं रात्रि तक) सन्तानार्थी बुद्धिमान पुरुष स्त्रीप्रसंग करे।

ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि पूजनीयानि सर्वशः।
यष्टव्यं च यथाशक्ति यज्ञैर्विविधदक्षिणैः॥

सगोत्र सम्बन्धियों एवं मित्रों का यथायोग्य आदर-सत्कार करना चाहिये। शक्तिके अनुसार अवश्य यज्ञ करने चाहिये और ऋत्विजों को विविध प्रकारके द्रव्य दक्षिणामें देने चाहिये।

एष ते लक्षणोद्देश आयुष्याणां प्रकीर्तितः।
शेषस्त्रैविद्यवृद्धेभ्यः प्रत्याहार्यो युधिष्ठिर॥

भीष्मपितामह जी कहते हैं कि हे राजा युधिष्ठिर आयु को बढ़ाने-वाले नियम ऊपर मैंने संक्षेपसे कहे। विशेष चारों वेदोंके विद्वान् एवं वृद्ध पुरुषोंसे पूछकर जान लेना चाहिये।

आचारो भूतिजनन आचारः कीर्तिवर्द्धनः।
आचाराद् वर्धते ह्यायुराचारो हन्त्यलक्षणम्॥
आगमानां हि सर्वेषामाचारः श्रेष्ठ उच्यते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मादायुर्विवर्द्धते॥

सदाचारसे ऐश्वर्य, कीर्ति एवं आयु की वृद्धि होती है। सदाचारसे सारे कुलक्षण नष्ट होते हैं। सारे वेदोंमें आचार को ही सर्वश्रेष्ठ माना है। धर्म सदाचारसे ही उत्पन्न होता है। धर्मसे आयु बढ़ती है।

अनुशासन पर्व अध्याय ७५ से निम्नलिखित विषयों पर भीष्म-पितामहके उपदेश लिखे जाते हैं—

विधिवत् पावकं हुत्वा ब्रह्मलोके नराधिप।
अधीत्यापि हि यो वेदान् न्यायविद्भ्यः प्रयच्छति॥

ब्राह्मण का धर्म विधिपूर्वक यज्ञ करना (और कराना) है तथा वेदों को पढ़कर उन्हें न्याय शास्त्र के जाननेवाले योग्य शिष्यों को पढ़ाना भी ब्राह्मण का धर्म है।

(इस सम्बन्धमें मनुस्मृति अध्याय १ का श्लोक ८८ तथा गीताके अध्याय १८ का श्लोक ४२ अर्थके सहित नीचे लिखे जाते हैं।

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु० ॥

पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना, एवं यज्ञ कराना, दान देना, एवं दान लेना ये छः कर्म ब्राह्मण के कहे गये हैं। दान लेना बहुत प्रशंसित कर्म नहीं है इसको मनु महाराजने अन्यत्र इस प्रकार कहा है कि 'प्रतिग्रह. प्रत्यवर.'।

शमोदमस्तप शौचं क्षान्तिरार्जवमेवच।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥ गीता ॥

मन की शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, तप, शौच अर्थात् शरीर मन और आत्मा की पवित्रता, क्षमाशीलता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान (सृष्टिके सारे पदार्थों एवं परमात्माके सम्बन्ध का विशेष ज्ञान) एवं आस्तिकता अर्थात् वेद, ईश्वर एवं कर्मफलमें विश्वास ये ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।)

क्षत्रियोऽध्ययने युक्तो यजने दानकर्मणि।
युद्धे यश्च परित्राता सोपि स्वर्गे महीयते ॥

क्षत्रिय का धर्म है अध्ययन करना, यज्ञ और दान करना तथा युद्ध में प्रवीण होना और प्रजा एवं शरणमें आये हुए व्यक्तियों की रक्षा और प्रतिपालन करना।

वैश्य· स्वकर्मनिरत· प्रदानाल्लभते महत्।

अपने वर्णके विहित कर्मों को करता हुआ वैश्य भी उत्तम गति को

प्राप्त होता है। (मनु महाराजने वैश्योंके ये कर्म बतलाये हैं—पशुओं का पालन और रक्षण, दान देना, यज्ञ करना, विद्याध्ययन करना, वाणिज्य करना, धन की वृद्धि कर उसे शुभ कर्ममें लगाना, एवं खेती करना)।

शूद्रः स्वकर्मनिरतः स्वर्गं शुश्रूषयाच्छँवि।

स्वकर्ममें निरत शूद्र सेवा धर्मके द्वारा सब सुखों की प्राप्ति करते हैं।

सत्य की महिमा

धारणं सर्ववेदानां सर्वतीर्थावगाहनम्।
सत्यं च ब्रुवतो नित्यं समं वा स्यान्न वा समम्॥

चारों वेदों का पाण्डित्य एवं सब तीर्थोंमें स्नान ये भी सत्य बोलने की समतामें आ सकते हैं इसमें सन्देह ही है।

अश्वमेधसहस्रं च सत्यं च तुलया धृतम्।
अश्वमेधसहस्राद्धि सत्यमेव विशिष्यते॥

तराजूके पलड़ों पर यदि एक ओर रखें जावें एक हजार अश्वमेध यज्ञ और दूसरी ओर रखें सत्य को तो सत्य का ही वजन अधिक होगा (अर्थात् मन, वचन एवं कर्मसे सदा सत्य का पालन करनेवाला व्यक्ति एक हजार अश्वमेध यज्ञ करनेवालेसे बड़ा है)।

सत्येन सूर्यस्तपति सत्येनाग्निः प्रदीप्यते।
सत्येन मरुतो वान्ति सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

सत्यसे ही सूर्य तपता है, सत्यसे ही अग्नि जलती है, सत्यसे ही वायु बहती है। सबकुछ सत्यमें ही प्रतिष्ठित है।

सत्येन देवाः प्रीयन्ते पितरो ब्राह्मणस्तथा।
सत्यमाहुः परो धर्मस्तस्मात् सत्यं न लंघयेत्॥

सत्यसे ही देवता, पितर और ब्राह्मणों की प्रीति होती है। सत्य

का ही परम धर्म कहा गया है। अतएव सत्य का कदापि उल्लंघन न करे।

मुनयः सत्यनिरता मुनयः सत्यविक्रमाः।
मुनयः सत्यशपथास्तस्मात्सत्यं विशिष्यते ॥

सर्वदा सत्यमे निरत रहनेवाले, सत्य के लिए ही पुरुषार्थ और पराक्रम करने वाले एवं सत्यसे कभी भी न डिगनेवाले मनुष्य मुनि हैं एवं बड़ी उच्चकोटिके हैं। अतः सत्य ही सबसे बढ़कर है।

ब्रह्मचर्य की महिमा

आजन्ममरणाद्यस्तु ब्रह्मचारी भवेदिह।
न तस्य किंचिदप्राप्यमिति विद्धि नराधिप ॥

भीष्मपितामह कहते हैं कि हे युधिष्ठिर जो जन्मसे लेकर मृत्यु पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहता है उसके लिए संसारमें कोई पदार्थ दुर्लभ नहीं है जो चाहे पा सकता है। (ब्रह्मचर्यसे शक्ति प्राप्त होती है और शक्तिमान् पुरुषके लिए कोई वस्तु भी दुर्लभ नहीं है)।

सत्ये रताना सततं दान्तानामूर्ध्वरेतसाम्।
ब्रह्मचर्यं दहेद्राजन् सर्वपापान्युपासितम् ॥

सदा सत्य मानने, सत्य बोलने और सत्य पर ही आचरण करनेवाले, इन्द्रियों का पूर्ण निग्रह करनेवाले, ऊर्ध्वरेता नैष्ठिक ब्रह्मचारियों का ब्रह्मचर्य व्रत सारे पापों, दुःख और दुर्गुणों को जला डालता है। तात्पर्य यह कि कोई पाप, दुःख, शोकादि उनके पास तक नहीं फटक सकते।

बिभेति हि यथा शक्रो ब्रह्मचारिप्रधर्षितः।
तद्ब्रह्मचर्यस्य फलमृषीणामिह दृश्यते ॥

ब्रह्मचारीके क्रोधसे इन्द्र जैसे पराक्रमी एवं सर्वैश्वर्यशाली राजा को भी भय होता है। अभिप्राय यह है कि ब्रह्मचारी की अतुलित शक्ति

के सामने बड़े-से-बड़े राजाओं को हार माननी पड़ती है। इस ब्रह्मचर्य के फल को उसकी महिमा को ऋषि तुल्य नैष्ठिक ब्रह्मचारी इस लोकमें प्रत्यक्ष देखते हैं।

श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्धके १४ वें अध्यायमें महाराज युधिष्ठिर के प्रश्न पर नारदजी गृहस्थधर्म के सम्बन्धमें उपदेश करते हैं—

सत्संगाच्छनकैः संगमात्मजायात्मजादिषु।
विमुञ्चेन्मुच्यमानेषु स्वयं स्वप्नवदुत्थितः॥

गृहस्थ को सदा सत्संग (अर्थात् धर्मात्मा, विद्वान्, परोपकारी, कर्मनिष्ठ एवं पवित्र आचरणवाले श्रेष्ठ पुरुषों का संग) करना चाहिये। स्त्री पुत्रादिमें आसक्ति या ममत्व त्यागना चाहिये। परिवार पालन अपना कर्त्तव्य और ईश्वरीय आज्ञा समझकर करना चाहिये।

यावदर्थमुपासीनो देहे गेहे च पण्डितः।
विरक्तो रक्तवत्तत्र नृलोके नरतां न्यसेत्॥

गृहस्थाश्रमके लिए अर्थ (धन) की नितान्त आवश्यकता है (क्योंकि धनके बिना परिवार पालन पंच महायज्ञ आदि गृहस्थके व्यापार चल नहीं सकते) धन का उपार्जन धर्मानुकूल साधनोंसे करने में यथाशक्ति तत्पर रहे। पर अपने शरीर और गृह आदि में आसक्त न हो जावे। शरीर तो धर्मार्जन का पहला और बड़ा साधन है और उसकी रक्षा कर उसे स्वस्थ और कार्यके योग्य बनाये रखना अपना आवश्यक कर्त्तव्य है परन्तु मिथ्या देहाभिमान, शरीर की सजावट और शृङ्गारादिमें लिप्त न होना चाहिये। गृहस्थ को उचित है कि वह कभी भी पुरुषार्थमें शिथिलता न आने दे।

अर्थ से प्रयोजन है उस साधनसे जिससे भौतिक शरीर की आवश्यकताएँ पूरी हो सकें और शरीर स्वस्थ रहकर धर्म की प्राप्तिमें साधक

हो सके। अतएव अर्थ आवश्यक रूपसे सिक्के या नोट को ही नहीं कहते हैं। सिक्के या नोट अर्थ तभी कहला सकते हैं जबतक उनकी चलन है और वे शरीरके लिए आवश्यक पदार्थों की प्राप्तिमें सहायक हो सकते हैं। शरीरके भोग्य पदार्थों की प्राप्ति तो पृथिवी मातासे ही होती है। गृहस्थ की सारी आवश्यकताएँ पृथिवी मातासे ही पुरुषार्थ द्वारा पूरी हो सकती हैं। अतएव हमारे लिए सच्चा धन तो पृथिवी ही है।

ज्ञातयः पितरौ पुत्रा भ्रातरः सुहृदोऽपरे।
यद्वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः॥

माता-पिता, पुत्र, भाई, कुटुम्बी और मित्र जो कहें अथवा इच्छा करें उसका यथाशक्ति आसक्ति रहित होकर अनुमोदन करना चाहिये। ये लोग जो कुछ कहते हैं वे हमारे हितके लिए ही कहते हैं इसलिए उनके कथनानुसार करनेमें ही अपना और उनका कल्याण होगा। यदि वे अपने लिए भी कुछ इच्छा करें तो उसकी पूर्ति भी तन-मन धन से करनी चाहिये।

दिव्यं भौमं चान्तरिक्षं वित्तमच्युतनिर्मितम्।
तत्सर्वमुपयुञ्जान एतत् कुर्यात् स्वतो बुधः॥
यावद्भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

दैव (पूर्व जन्मके कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त) भौम (पुरुषार्थ द्वारा पृथिवी मातासे प्राप्त) एवं आन्तरिक्ष (अयाचित एवं अकस्मात् प्राप्त) तीनों प्रकारके जितने भी धन हैं वे सब परमात्माके ही न्यास या थाथी के रूपमें हैं। सब मनुष्यों को यह अत्यन्त उचित है कि वे ऐसा ही समझकर अपने प्राप्त धन का उपयोग करें। जितने धनसे अपना निर्वाह हो सकता है उतना ही धन अपना है। बाकी धन जो अपने

पास है वह दूसरोंके लिए अपने पास ट्रस्ट स्वरूप ईश्वरने दिया है अतएव अपनी उदरपूर्तिके योग्य धनसे अधिक धन को अपना समझना अज्ञानता है और दण्डनीय है। उसे प्राणिमात्रके हितमें ही लगाना चाहिये।

> मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृपखगमक्षिकाः।
> आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत्॥

मृग, ऊँट, गदहा, बन्दर, चूहा, सर्प, पक्षी, मक्खी अर्थात् प्राणिमात्र को पुत्रके समान प्रेम की दृष्टिसे देखे। सारे प्राणीमात्र को ही अपना समझे किसीसे भेदभाव न रखे।

> त्रिवर्गं नातिकृच्छ्रेण भजेत गृहमेध्यपि।
> यथादेशं यथाकालं यथादैवोपपादितम्॥

त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति गृहस्थ भी अत्यन्त कष्टके साथ न करे। देश, काल और ईश्वरेच्छासे पुरुषार्थ द्वारा जो प्राप्त हो सके उतनेसे संतुष्ट रहे। अर्थ और काम की प्राप्ति तो गृहस्थ के लिए आवश्यक है ही धर्म तो सबके लिये ही प्रयोजनीय है परन्तु इन सब की प्राप्तिके लिए भी शरीर को अत्यधिक कष्ट न देवे। धन की प्राप्तिके लिए थके हुए पर भी खटते जाना और धर्मानुष्ठानके लिए दीर्घकालव्यापी उपवासादिसे शरीर को क्षीण करना वर्जनीय है।

> आश्वाघान्तेवसायिभ्यः कामं सं विभजेद्यथा।
> अप्येकामात्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः॥

अपने प्राप्त साधनों में से कुत्ते, पतित, चाण्डाल आदि तक को भाग देवे। बलिवैश्व, अतिथि सत्कार, आदि कार्य करनेके लिये अपनी एक मात्र स्त्री तक को विशेष रूपसे नियुक्त करे।

सिद्धैर्यज्ञावशिष्टार्थैः कल्पयेद्वृत्तिमात्मनः।
शेषे स्वत्वं त्यजन्प्राज्ञः पदवीं महतामियात्॥

पवित्र साधनोंसे धन उपार्जन करना चाहिये और इस प्रकार उपार्जित धन को यज्ञ कार्यमें लगाना चाहिये। यज्ञसे बचे हुए धनसे ही जीवन निर्वाह करे उसीको अपना समझे, बाकी धन को अपना न समझे। इस प्रकार जीवन यापन करनेसे मनुष्य अत्यन्त उच्च पद को प्राप्त होता है।

यज्ञ शब्दके तीन अर्थ होते हैं—'देवपूजा', 'संगतिकरण' और 'दान'। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदि देवों की प्रसन्नता सम्पादन करनेके लिए होम यज्ञ करना, विद्वान् महात्मा सत्पुरुषों की संगति करना तथा उनकी सब प्रकारसे सेवा और मदद करना एवं दीन, दुःखी, संतप्तों को दान देना ये सारे सत्कर्म 'यज्ञ' के अन्तर्गत हो जाते हैं। इन सब कर्मोंमें धन लगाकर बाकी धन अपने उपयोगमें लाना इसी को शास्त्रोंमें यज्ञ शेष का भोग करना कहा गया है।

देवानृषीन् नृभूतानि पितृनात्मानमन्वहम्।
स्ववृत्त्या गतवित्तेन यजेत पुरुषं पृथक्॥

अपने गुण कर्म स्वभावके अनुकूल सद्वृत्तिसे प्राप्त धनके द्वारा देवयज्ञ (अग्निहोत्रादि), ऋषि यज्ञ (स्वाध्याय, विद्या प्रचार आदि), नृयज्ञ (अतिथि सत्कार), भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेव अर्थात् कुत्ता, कौवा, कीटादि, तथा कठिन रोगोंसे पीड़ित एवं अन्य प्रकारसे पुरुषार्थ करनेमें असमर्थ मनुष्यों को अन्नदान) पितृयज्ञ (माता-पिता की सेवा एवं पितृ श्राद्धादि) करे, अपनी आत्मा को सन्तुष्ट रखे एवं अन्तर्यामी परमात्मा की आराधना करे।

यद्यात्मनोऽधिकाराद्याः सर्वाः स्युर्यज्ञसम्पदः ।
वैतानिकेन विधिना अग्निहोत्रादिना यजेत् ॥

अपने जो अधिकार आदि हैं वे सभी यज्ञ की सम्पत्ति हैं ऐसा समझना चाहिये। जो कर्म जिस किसी पद या अधिकारसे किये जांय स्वार्थ की भावनासे न किये जांय, बल्कि उनके करनेमें प्राणिमात्र का हित ही लक्ष्य हो। इसके अतिरिक्त हवन यज्ञादि भी मण्डपादि निर्माण कर विधिके अनुसार किये जांय।

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्यते हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः ॥

सब यज्ञोंके भोक्ता परमात्मा का पूजन अग्निरूपी मुखमें आहुति डालनेसे तो होता ही उससे भी अधिक ब्राह्मणरूपी मुखमें आहुति डालनेसे अर्थात् ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करनेसे होता है। (वेदादि शास्त्रोंमें अग्नि को देवों का मुख कहा है। तात्पर्य यह कि अग्नि में आहुति डालनेसे ही वह जल, वायु, पृथिवी, आकाश, सूर्यादि देवों को प्राप्त होती है और इससे वृष्टि द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण होता है। परमपिता की सन्तान प्राणिमात्र का यज्ञ द्वारा हित साधन ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। इसी कारण परमात्मा को यज्ञों का भोक्ता कहा गया है)। जिन ब्राह्मणों की सेवा सहायता का स्थान हवन यज्ञसे ऊपर कहा गया है वे ब्राह्मण कैसे हों उसके सम्बन्धमें नारदजी युधिष्ठिर से आगे चलकर यों कहते हैं—

पुरुषेष्वपि राजेन्द्र सुपात्रं ब्राह्मणं विदुः।
तपसा विद्यया तुष्ट्या धत्ते वेदं हरेस्तनुम् ॥

हे राजन् मनुष्योंमें सत्पात्र, सच्चे ब्राह्मण को इसलिये कहा गया है कि उनमें तपस्या, विद्या और संतोष होते हैं। वे परमात्माके ज्ञानस्वरूप

सर्वज्ञानमय वेदों को धारण करते हैं। (इन्हीं वेदोंके प्रचारसे संसार में धर्म की मर्यादा स्थिर रह सकती है। यज्ञादि सारे सत्कर्म ब्राह्मणोंके वेद प्रचार द्वारा ही संसारमें प्रवृत्त हो सकते हैं। अतएव सत्पात्र, विद्वान, तपस्वी, संतोषी, वेदज्ञ ब्राह्मणों की सेवा और सहायता करके उन्हें पेट की चिन्तासे मुक्त कर देना और इस प्रकार उन्हें स्वाध्याय करने और वेद प्रचार द्वारा प्राणिमात्रके कल्याणके लिए प्रयत्न करने का सुयोग देना निःसन्देह सारे सत्कर्मों का मूल है। हाँ, जो लोग कोई समाजसेवा का कार्य नहीं करते और कमानेमें जो परिश्रम होगा उससे बचनेके लिए ही आलस्यवश भिक्षावृत्ति करते हैं ऐसे लोगों का वचन मात्रसे भी सत्कार न करना चाहिये ऐसी शास्त्रों की स्पष्ट आज्ञा है कारण ऐसे लोगों की सहायता करनेसे संसारमें अकर्मण्यता फैल जायगी जो वांछनीय नहीं है। (मनुस्मृति अध्याय ४ में लिखा है—

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति ॥

जो तपस्वी और विद्वान् नहीं है एवं दान लेनेमें बड़ी रुचि रखते हैं ऐसे नाममात्रके ब्राह्मण अपने तो दुःखभागी होते ही हैं, अपने दाता को भी साथ ले डूबते हैं जैसे पत्थर की नाव पर चढ़कर समुद्रमें तैरनेवाले समुद्रमें डूब जाते हैं।

न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।
न बकव्रतिके विप्रे नावेदविदि धर्मवित् ॥ १९२

विडालव्रतवाले अर्थात् धर्म का दिखावा करनेवाले, लोभी, हिंसा-युक्त स्वभाववाले बकव्रती अर्थात् बगुलाके जैसे ध्यान करनेवाले परन्तु खुद अपने स्वार्थ की ही चिन्तामें रहनेवाले, एवं वेदादि शास्त्रों के न जाननेवाले नाम मात्रके ब्राह्मण को कुछ दान न देना चाहिये।

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च ॥ १९३

ऊपर कहे हुए इन तीनों प्रकारके मनुष्यों को अपनी पवित्र कमाई का भी धन देनेवाले दाता का तो धन नाशरूप तत्काल ही अनर्थ होता है, वैसे लेनेवालों के भी इह लोक और पर लोक बिगड़ जाते हैं।)

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अध्याय १५ में के निम्नलिखित उपदेश विशेष मननीय हैं—

असंतुष्टस्य विप्रस्य तेजो विद्या तपो यशः।
स्रवन्तीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यते ॥

संतोपरहित पुरुष की विद्या उसके तेज, तप और यश सारेके सारे उसकी इन्द्रियों की चंचलताके कारण चू जाते हैं, उसका ज्ञान छिन्नभिन्न होकर नष्ट हो जाता है।

कामस्यान्तं हि क्षुत्तृड्भ्यां क्रोधस्यैतत् फलोदयात्।
जनो याति न लोभस्य जित्वा भुक्त्वा दिशो भुवः ॥

भूखे और प्यासे रहनेसे काम की समाप्ति हो जाती है। (भूख प्याससे पीड़ित व्यक्ति को काम नहीं सता सकता है)। क्रोध का अन्त क्रोध जिस कारणसे हुआ उसके निवारणसे हो जाता है। किन्तु लोभ का अन्त तो पृथ्वी की सारी दिशाओं को जीतकर एवं उनपर राज्य करके भी नहीं हो सकता है। (अतएव लोभ मनुष्य का सबसे बड़ा शत्रु है उसपर विजय करके ही मनुष्य सुखी हो सकता है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम धर्मानुकूल पुरुषार्थ करते हुए परमात्मा की व्यवस्था से हमें जो प्राप्त हो जाय उसीमें संतोष करें। दूसरेके धन पर मन न चलावें और न अन्यायसे कोई वस्तु लेने की इच्छा करें।)

पण्डिता:बह्वो राजन् बहुज्ञाः संशयच्छिदः।
सदसस्पतयोऽप्येके असंतोषात् पतन्त्यधः॥

हे राजा युधिष्ठिर, संसारमें शास्त्रोंके पण्डित बहुत हैं उनका ज्ञान अपार है और वे अपने विद्याबलसे दूसरेके संशयों का समाधान भी कर सकते हैं। बहुतेरे चतुर वक्ता भी हैं एवं सभाओंमें अपनी वक्तृत्व शक्तिसे जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर सकते हैं, उसे जिधर चाहें घुमा सकते हैं। परन्तु यदि एक असंतोष उन विद्वान्, शास्त्रज्ञ, व्याख्याताओंमें है तो वह उनको नीचे गिरानेके लिये पर्याप्त है। असंतोष सारे सद्गुणोंका नाश करनेवाला है अतएव हमें असन्तोष (लोभ) सर्वथा त्याग देना चाहिये।

असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्षणात्॥

विषयोंके चिन्तनसे मनको हटाकर काम पर विजय प्राप्त करना चाहिये। काम वासनाके त्यागनेसे क्रोध पर विजय होती है। लोभ पर विजय प्राप्त करने का उपाय यह है कि अर्थसे होनेवाले अनर्थों को समझे। अर्थ चार पदार्थोंमेंसे जो मनुष्यके लिए प्राप्तव्य कहे गये हैं अन्यतम है। संसारयात्रा (मनुष्य की) बिना अर्थके एक क्षण भी नहीं चल सकती है परन्तु उसके येनकेन प्रकारेण संग्रह करनेसे महान् अनर्थ भी होते हैं इस बात को जो सर्वदा ध्यानमें रखते हैं वे ही लोभ पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। भय पर विजय परमात्मतत्त्वके चिन्तनसे होती है। परमात्मा हमारा पिता है, वह सब जगह वर्तमान है, हमें देख रहा है, हम उसके पुत्र हैं, वह हमारी रक्षा अवश्य करेगा। ऐसी दृढ भावना मनमें रखनेसे हमें कदापि भय नहीं हो सकता है।

आन्विक्षिक्या शोकमोहौ दंभं महदुपासया ।
योगान्तरायान् मौनेन हिंसां कामाद्यनीहया ॥

वेदादि शास्त्रों की चर्चा एवं स्वाध्यायसे शोक और मोह पर विजय प्राप्त होती है। दंभ या मिथ्या अभिमान पर विजय अपनेसे बड़ों की सेवा या संग करनेसे होती है। व्यर्थ इधर-उधर की बातें करना एवं व्याधि आदि जो योग अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोधमें बड़ी बाधाएँ हैं उन पर विजय पानेके लिये मौन का अवलम्बन करना ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। मनमें कामादिके संकल्प न उठने देनेसे मनुष्य हिंसा या परपीड़न से निवृत्त होते हैं।

कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ।
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्वनिषेवया ॥

भौतिक दुःख अर्थात् वे दुःख जो हमें दूसरे प्राणियों (चोर, सर्प, व्याघ्रादि) से प्राप्त हो सकते हैं वे दुःख कृपा अर्थात् प्राणिमात्रके हित-चिन्तन और कल्याण साधनसे दूर होते हैं। दैव दुःख अर्थात् मन, इन्द्रियों की चंचलता, किंवा पूर्व जन्ममें किये कर्मोंके फलस्वरूप जो दुःख हमें प्राप्त होते हैं उसका नाश समाधि द्वारा परमात्माके चिन्तनसे होता है। (वस्तुतः किये कर्मों का फल तो भोगना ही होगा परन्तु साधारण पुरुष की अपेक्षा भक्तों को दुःख की अनुभूति बहुत न्यून किंवा नहींके बराबर होती है, वे पर्वतके समान बड़ी विपत्तिमें भी विचलित और अधीर नहीं होते हैं)। आत्मिक दुःख अर्थात् आत्मा और शरीरके दुःख, रोगादि, आसन, प्राणायाम आदि योगके अंगोंके अनुष्ठानसे दूर होते हैं।

वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड प्रथम सर्ग में मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र जीके गुणों का वर्णन—

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥

रामचन्द्रजी सदा ही शान्त चित्त रहते थे। मधुर वचन बोलनेवाले थे। उनके प्रति यदि कोई कठोर वचन कहे तो उसका उत्तर नहीं देते थे।

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥

उनका कोई एक बार भी कुछ उपकार करदे तो उसे कभी नहीं भूलते थे। परन्तु उनकी बुराई बार-बार करने पर भी उसे भूल जाते थे, क्योंकि वे सबको अपना ही समझते थे।

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि॥

अस्त्रशस्त्रके अभ्यासके जो समय मिलता था उसमें वे चरित्रवान् ज्ञानी और वृद्धजनोंके साथ ज्ञान की चर्चा किया करते थे।

बुद्धिमान्मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः॥
न चानृतकथो विद्वान्वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते॥

वे बुद्धिमान् एवं सदा ही मधुर और प्रिय बोलनेवाले थे। मिलनेवालों से पहिले ही बोलते थे उनके बोलने की प्रतिक्षा नहीं करते थे। बड़े पराक्रमशाली थे परन्तु अपने बल का लेशमात्र भी अभिमान आपमें न था। वे कभी असत्य भाषण नहीं करते तथा वृद्धों की पूजा सत्कार करने वाले थे। वे प्रजा को चाहते प्रजा उनको चाहती थी।

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः॥

वे दयालु थे क्रोध पर आपको विजय प्राप्त थी। ब्राह्मणोंके पूजक, दीनों पर दया करनेवाले, धर्मज्ञ और इन्द्रियों को वशमें रखनेवाले थे।

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते।
मन्यते परया प्रीत्या महत्स्वर्गफलं ततः॥

अपने कुलकी मर्यादा का उन्हें ध्यान था। क्षात्रधर्ममें अनुरक्त थे एवं प्रजापालन को सारे सुखों का मूल मानते थे।

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा।

सदा शुभकर्मोंमें रुचि रखनेवाले एवं सबके कल्याणमें अपना कल्याण समझनेवाले थे। इधर-उधर की बातों एवं वैर-विरोध की बातों में उनकी रुचि नहीं थी। कथोपकथनमें युक्ति देनेमें आप वृहस्पतिके समान थे।

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान्देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः॥

वे सदा नीरोग रहते थे, उनकी युवावस्था स्थिर थी। वे चतुर वक्ता एवं प्रियदर्शन थे। किस मनुष्यमें क्या सार है (कौन कितने पानीमें है) यह जान जाते थे और एक ही साधु थे।

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः॥

अपने श्रेष्ठ गुणोंके कारण वे प्रजाके शरीरसे बाहर स्थित प्राणके समान थे। (साधारण प्राण तो शरीरके भीतर रहकर ही शरीरधारी

को जीवित रखते हैं परन्तु आपमें यह विशेषता थी कि आप प्रजाके शरीरसे वाहर थे फिर भी प्रजा आपके ही कारण जीवित थी।

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः॥

आप सारी विद्याओं को समाप्त करके स्नातक हुए थे। ब्रह्मचर्य-पूर्वक विद्या समाप्तिके अनन्तर गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया था। शिक्षा, कला, व्याकरण, निरुक्त, छन्दः शास्त्र और ज्योतिष इन छः वेदाङ्गोंके साथ चारों वेदों का अध्ययन किया था। अस्त्र-शस्त्र की विद्यामें तो अपने पितासे भी बढ़चढ़ कर थे।

कल्याणभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः॥

वे कल्याणों के निधान और परोपकारी थे। क्षोभके कारण उपस्थित होने पर भी सदा अक्षुब्ध रहते थे। किसी भी अवस्थामें असत्य भाषण नहीं करते थे। छल-कपट तो आपको छू तक नहीं गया था। आपकी शिक्षा, वृद्ध, ज्ञानी, धर्मात्मा विद्वानों द्वारा हुई थी।

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान्प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः॥

आप धर्म अर्थ और कामके यथार्थ स्वरूप को जानते थे। आपकी स्मरणशक्ति और प्रतिभा अपूर्व थी। लौकिक और सामयिक व्यवहारोंमें आप सफल पण्डित थे।

निभृतः संवृताकारो गुप्तमंत्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित्॥

आप बड़े विनयी थे, आपके अभिप्राय गूढ़ रहते थे बाहरी आकृति पर उनका असर न दीख पड़ता था आपकी मंत्रणा गुप्त रहती थी फल

प्राप्ति पर्यन्त वह दूसरों पर प्रकट नहीं हो सकती थी। राजकाजमें आप मंत्रियोंसे परामर्श लेकर कार्य करते थे। आपके क्रोध और हर्ष कभी निष्फल नहीं होते थे। जिस पर आपका क्रोध होता था उसका त्राण होना कठिन था जिस पर आपकी प्रसन्नता होती वह निहाल हो जाता था।

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित्॥

गुरु आदि मान्यजनोंमें आपकी दृढ़ भक्ति थी, आपकी बुद्धि निश्चल थी, आप असत् पुरुषों किंवा वस्तुओं का ग्रहण नहीं करते थे, अनुचित विषयोंमें आपका आग्रह नहीं था। दूसरेके दिल को दुखा देनेवाले वचन नहीं बोलते थे। आप आलस्य नहीं करते थे। कर्तव्य कर्मोंके सम्पादनमें शिथिलता नहीं करते। अपने दोषों और दूसरोंके दोषों को अच्छे प्रकार जानते थे।

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः॥

आप शास्त्रोंके मर्म को समझनेवाले थे। अपने प्रति किये गये थोड़ेसे उपकार को भी नहीं भूलनेवाले थे। एक पुरुषसे दूसरे पुरुषमें क्या अन्तर है यह समझते थे अथवा किसी भी पुरुषके हृदयके भावों को जाननेवाले थे। यथोचित रीतिसे दण्ड या पुरस्कार की व्यवस्था करनेमें प्रवीण थे।

सत्संगानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च।
आयकर्मण्युपायज्ञः सदृष्टव्ययकर्मवित्॥

आप अच्छे पुरुषों को खोज-खोजकर अपने पास रखते थे। उनके तथा उनके परिवार आदिके पालन-पोषण की उचित व्यवस्था करते थे।

किसको दण्डादि द्वारा निग्रह करना चाहिये यह भले प्रकार जानते थे।

प्रजा का शोषण न करते हुए भौंरा जिस प्रकार फूलोंसे मधु संचय करता है उसी प्रकार आप प्रजासे कर संचय कर राजकोष की वृद्धि करते थे और अपने भोग-विलासमे प्रजा का धन व्यय न कर प्रजा-पालनके कार्योंमें ही उस धनके व्यय करने को जो शास्त्रविधि है उसको जानने और तदनुकूल करनेवाले थे।

श्रेष्ठयं चास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः॥

आप शस्त्रास्त्र की विद्यामे तो निपुण थे ही (वेदादिके पंडित तो प्रसिद्ध ही थे)। संस्कृत, प्राकृत, आदि भाषाओंके इतिहास, नाटकादि ग्रन्थोंसे भी परिचित थे। धर्म और अर्थके संग्रहमे जिससे बाधा न पहुंचे उसी मात्रामे काम (शारीरिक सुख आदि) का सेवन करते थे। धर्म और (धर्माचरण पूर्वक) अर्थ की प्राप्तिमे आलस्य नहीं करते थे।

वैहारिकाणा शिल्पाना विज्ञातार्थविभागवित्।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम्॥

आप मनोविनोद और निर्दोष क्रीडा सम्बन्धी कलाओं, गीतवादित्र एवं चित्रकारी आदिके ज्ञाता थे। न्यायोचित पुरुषार्थसे उपार्जित धन को पांच विभागोंमे बांटकर सद्व्यय करने की जो शास्त्रों की आज्ञा है आप उसे अच्छे प्रकार जानते थे। हाथी घोडों की सवारी करना तथा उन्हें अपने वशमे रखनेमें भी आप निपुण थे। शास्त्रोंमें धन को समुचित रूपसे धर्म प्राप्तिके लिए, कीर्तिकर कार्योंके लिए, स्व शरीर एवं आत्मा तथा अपने स्त्री पुत्रादि कुटुम्बियोंके लिए व्यय करने का आदेश है केवल एक काममें ही धन खर्च करना अनुचित है इस आदेश का सूचक श्लोक है—

धर्माय यशसेऽर्थाय आत्मने स्वजनाय च ।
पंचधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च शोभते ॥
धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसंमतः ।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥

आप युद्ध विद्यामें विशारद थे। महान् योद्धाके रूपमें आप लोकमें प्रसिद्ध थे। युद्धके लिए कब प्रस्थान करना चाहिये कब शत्रु पर आक्रमण करना चाहिये सेना का किस प्रकार संचालन करना चाहिये व्यूह आदि की रचना कैसी होनी चाहिए सारी बातें जानते थे।

अप्रधृष्यश्च सङ्ग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः ।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ।

युद्धक्षेत्रमें देवता ओर असुर आदि भी क्रोध करके आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते थे और आपके सामने नहीं ठहर सकते थे। यों तो आपमें परनिन्दा, क्रोध अभिमान और वैर-विरोध का लेशमात्र भी नहीं था।

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः ।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥

आपके अतुल तेजके कारण संसार का कोई प्राणी आपकी अवहेलना या अपमान करने का साहस नहीं कर सकता था। आप कालके वशवर्ती होकर चलनेवाले नहीं थे। (साधारण लोग समय की दुहाई देकर अपनी कमजोरी नहीं छोड़ पाते, धर्मके सिद्धान्तों पर नहीं चल सकते, कहते हैं क्या करें जमाना ऐसा ही है। परन्तु महापुरुष जमाने के प्रवाहमें कदापि नहीं बहते वे अपने धर्म और पुरुषार्थ पर अटल रहते हैं और जमाने को अपने पीछे चलाते हैं स्वयं जमानेके पीछे नहीं चलते)। इन सारे श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त आप प्रजाके प्रिय थे।

संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येचापि शचीपतेः॥

तीनों लोकोंमें आप आदरणीय थे। आप क्षमामें पृथिवीके समान बुद्धिमें बृहस्पति एवं पराक्रममें इन्द्रके समान थे।

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः॥

सारी प्रजा को अपने श्रेष्ठ गुणोंके द्वारा इतने प्रिय होनेके कारण श्री रामचन्द्रजी पिता को ऐसे अच्छे लगते थे जैसा किरणोंसे शोभायमान सूर्य।

ऊपर लिखे इन सारे श्रेष्ठ गुणों के कारण ही भगवान् राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। हमें उनके चरणचिह्नों पर चलते हुए उनके ये सब गुण धारण करने का सदा प्रयत्न करते रहना चाहिये।

कूर्म पुराण उत्तर विभाग, अध्याय १५:—

वेदं वेदौ तथा वेदान् विन्याद्वा चतुरो द्विजः।
अधीत्य चाभिगम्यार्थं ततः स्नायाद् द्विजोत्तम॥

जीवनके प्रथम भाग को ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययनमें लगाकर एवं चारों वेदों वा कमसे कम एक वेद को भी सांगोपांग पढ़कर तब ही गृहस्थ आश्रममें प्रवेश करे।

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद् बहिर्माल्यं न धारयेत्।
अन्यत्र कांचनाद्विप्रः न रक्तां विभृयात् स्रजम्॥

गृहस्थाश्रममें आकर भी स्वाध्याय करना न छोड़े। प्रतिदिन नियमित रूपसे धर्मग्रन्थों एवं अन्य ज्ञानवर्द्धक पुस्तकों को पढ़ता पढ़ाता किंवा सुनता सुनाता रहे। लाल रंग की माला न धारण करे। सोने की मालाके सिवा दूसरी माला को वस्त्रके ऊपर धारण न करे।

शुक्लाम्बरधरो नित्यं सुगन्धः प्रियदर्शनः।
न जीर्णमलवद्वासा भवेद् वै वैभवे सति ॥

सदा सफेद कपड़े पहने, शरीर और वस्त्र को ऐसे स्वच्छ और पवित्र रखे कि जिससे दुर्गन्ध न आवे (दुर्गन्धसे अपना चित्त भी प्रसन्न नहीं रहता स्वास्थ्य की भी हानि होती है साथ ही अपने पास बैठनेवाले लोगों को भी ग्लानि होती है)। मैले-कुचैले कपड़े न पहने।

ऋतुकालाभिगामीस्याद् यावत्पुत्रोभिजायते।

ऋतुकालमें ही भार्याके पास जावे जबतक पुत्र का जन्म न हो। (संतान उत्पन्न हो जाने पर जबतक उस गोदवाली संतान का पूर्णरूप से लालन पालन न हो जावे तबतक स्त्री समागमसे पृथक् रहे)।

वेदोदितं स्वकं कर्म नित्यं कुर्यादतन्द्रितः।
अकुर्वाणः पतत्याशु नरकान् याति भीषणान् ॥

वर्णाश्रमके जो विहित कर्म हैं उनके करनेमें कदापि आलस्य न करे। सदा पुरुषार्थ के साथ सत्कर्म करता रहे। ऐसा नहीं करनेसे नरक का भागी होगा।

अभ्यसेत् प्रयतो वेदं महायज्ञांश्च भावयेत्।
कुर्याद् गृह्याणि कर्माणि संध्योपासनमेव च ॥

वेदों का पढ़ना पढ़ाना तथा सुनना सुनाना यत्नपूर्वक करे। पंच महायज्ञ तथा गृहस्थ आश्रमके अन्य शास्त्र विहित कर्म एवं संध्या उपासना भी प्रतिदिन नियमसे करे।

सख्यं समाधिकैः कुर्यादर्चयेदीश्वरं सदा।
दैवतान्यधिगच्छेत कुर्याद् भार्याविभूषणम् ॥

मित्रता अपने समान अथवा अपनेसे बड़ोंके साथ करनी चाहिये। देव पूजन, ईश्वर आराधन एवं अपनी स्त्री का भूषणादिसे सत्कार सदा करे।

न धर्मं ख्यापयेद् विद्वान् न पापं गूहयेदपि ।
कुर्वीतात्महितं नित्यं सर्वभूतानुकम्पनम् ॥

अपने किये धम कार्यों को अपने आप न कहता फिरे अपने दुष्कर्म को भी कदापि न छिपावे (अपनेसे कोई भूल हो जावे तो उसको स्वीकार कर लेना चाहिये, इससे आगे सुधार होने की संभावना रहती है)। अपनी आत्मा को सब प्रकारसे उठाने का यत्न करना चाहिए एवं प्राणिमात्र पर दया रखनी चाहिये ।

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च ।
वेदवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरेद्विहरेत् सदा ॥

अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या, कुल, वेद, वाणी और बुद्धि के अनुरूप ही सर्वदा आचरण और व्यवहार रखना चाहिये ।

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः ॥
तेन यायात् सता मार्गं तेन गच्छन्न रिष्यति ॥

जिस मार्गसे अपने पिता पितामह आदि चले हों उसी मार्गसे चलना चाहिये परन्तु वह मार्ग सत्पुरुषों का मार्ग होना चाहिये यदि पिता पितामह आदि धर्मानुकूल मार्गमें न चले हों तो उस अवस्थामें उनकी देखादेखी कदापि न करना चाहिये । उनके असत् मार्ग को छोड़ देना चाहिये । इसीमें अपना कल्याण है ।

विभागशीलः सततं क्षमायुक्तो दयालुकः ।
गृहस्थस्तु समाख्यातो न गृहेण गृही भवेत् ॥

समय का एवं धन का उचित रीतिसे विभाग करके धर्म, अर्थ और काम (त्रिवर्ग) का समान रूपसे सेवन करनेवाला, क्षमाशील एवं दयालु मनुष्य ही यथार्थमें गृहस्थ कहलाने योग्य है । केवल घर होनेसे ही कोई गृहस्थ नहीं हो जाता है ।

क्षमा दया च विज्ञानं सत्यं चैव दमः शमः।
अध्यात्मनिरतज्ञानमेतद् ब्राह्मण लक्षणम्॥

क्षमा, दया, विज्ञान, सत्य, इन्द्रियनिग्रह शान्ति, तथा आत्मा परमात्मा का चिन्तन एवं नित्य ज्ञान को ही चर्चा ये ही ब्राह्मणके लक्षण हैं।

स्वदुःखेष्विव कारुण्यं परदुःखेषु सौहृदात्।
दयेति मुनयः प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य साधनम्॥

मनुष्य का हृदय इतना विशाल होना चाहिये कि वह दूसरेके दुःख को अपने निजके दुःखके समान अनुभव करे। दूसरेके दुःख को अपना दुःख समझना ही धर्म का साक्षात् साधन कहा गया है।

चतुर्दशानां विद्यानां धारणं हि यथार्थतः।
विज्ञानमिति तद्विद्याद्येन धर्म्मो विवर्द्धते।

चौदह विद्याओं (चार वेद, ऋग्, यजुः, साम, और अथर्व, चार उपवेद यथा गांधर्व वेद, अर्थ वेद, आयुर्वेद एवं धनुर्वेद तथा छः वेदांग यथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष) का यथार्थ रूपसे धारण करना ही विज्ञान कहलाता है। विज्ञान यथार्थमें वही है जिससे धर्म की वृद्धि हो। जिस विज्ञानसे अधर्म या नास्तिकता की वृद्धि हो वह विज्ञान कोई विज्ञान नहीं है। उसे त्याग देना चाहिये।

धर्मस्यायतनं यत्नाच्छरीरं प्रतिपालयेत्।
न च देहं विना रुद्रो विद्यते पुरुषैः परः॥

शरीर धर्म का आयतन अर्थात् घर है। (शरीर के विना धर्म का आचरण नहीं हो सकता है)। इस कारण शरीर को यत्नके साथ पालन करे विना शरीरके परमपुरुष परमात्मा की आराधना नहीं हो सकती है।

नित्यं धर्मार्थकामेषु युज्येत नियतो बुधः।
न धर्मवर्जितं काममर्थं वा मनसा स्मरेत्॥
सीदन्नपि हि धर्मेण न त्वधर्मं समाचरेत्।

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों ही की प्राप्तिके लिये बुद्धिमान गृहस्थ सदा ही पुरुषार्थ करे किन्तु ऐसे अर्थ और काम जिनकी प्राप्तिके लिये अधर्म का आचरण करना पड़े उनका मनमें भी विचार न लावे। धर्म पर चलता हुआ यदि कष्ट भी पावे तो भी अधर्म का आचरण न करे। (लोग धर्म मार्ग पर चलते हुए भी कभी कभी दु.ख प्राप्त कर जाते हैं परन्तु वह दु ख उनके पहिले किये हुए अशुभ कर्मों का फल है। साधारण लोग उसे परोपकारादि शुभ कर्मों का फल ही मानकर धर्मसे उदासीन हो जाते हैं। हमे सदा यह अटल विश्वास रखना चाहिये कि धर्म का फल सदा ही कल्याणकारी होता है। आज यदि हम अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके फलस्वरूप दु ख भोग रहे हैं तो आजके धर्म का शुभ फल आगे चलकर अवश्य प्राप्त करेंगे। शुभ अशुभ कोई भी कर्म परमात्मा के विधानमे निष्फल नहीं जा सकते।)

नाधार्मिकैर्वृते ग्रामे न व्याधिबहुले भृशम्।
न शूद्रराज्ये निवसेन्न पाषण्डजनैर्वृते॥

जिस ग्राममे धर्मात्मा पुरुष नहीं है, जहां का जलवायु स्वास्थ्यकर नहीं है, जहां पर मूर्खों का राज्य है या पाषण्डी (अर्थात् असाधु किन्तु धर्म की ढोंग करनेवाले) मनुष्यों की भरमार है वहां न रहना चाहिये।

परक्षेत्रे गा चरन्तीं न चाचक्षीत कस्यचित्।

दूसरेके खेतमें चरती हुई गाय को देखकर किसीसे न कहे।

आत्मन. प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

जैसी बात या व्यवहार दूसरे हमारे साथ करें और हमे पसन्द न

हो वैसी बात या वैसा व्यवहार हमें भी दूसरेके साथ कदापि न करना चाहिये। (यह एक ऐसा धार्मिक सिद्धान्त हैं कि इसे संसारके सारे मत मतान्तरके लोग एक मत होकर निर्विवाद स्वीकार करते हैं।)

न देवगुरुविप्राणां दीयमानन्तु वारयेत्।
न चात्मानं प्रशंसेद्वा परनिन्दां च वर्जयेत्॥

देवताओंके उद्देश्यसे किंवा गुरुओं और ब्राह्मणों को यदि कोई कुछ दे रहा हो तो उसे नहीं रोके। अपने मुंहसे अपनी प्रशंसा आप न करे, दूसरे की निन्दा न करे।

वर्जयेद्वै रहस्यं च परेषां गूहयेद्बुधः।

दूसरे की गुप्त बात जानने की चेष्टा न करे दूसरे की कोई गोपनीय बात यदि अपनेको मालूम हो तो उसे प्रकट न करे।

न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषं वा कदाचन।
न च मूत्रं पुरीषं वा न च संसृष्टमैथुनम्॥

नग्न स्त्री या पुरुष को न देखे, टट्टी, पेशाब भी न देखे, दूसरे को मैथुन करते न देखे।

विविध श्लोक

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि वलप्रदम्।
अमृतं भोजनार्धे तु भुक्तस्योपरि तद्विषम्॥

अजीर्णमें जल औषधिके समान है, भोजन पच जाने पर जल पीना वल वर्द्धक है, भोजनके बीचमें अमृत तुल्य हितकारी, एवं भोजन के अन्तमें जल पीना हानिकारक है।

इदमेव हि पाण्डित्यं चातुर्यमिदमेव हि।
इदमेव सुबुद्धित्वमायादल्पतरो व्ययः॥

आमदनीसे कम खर्च करना ही सची पण्डिताई, चतुराई एवं बुद्धिमानी है।

आशाया ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा येषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जो आशा (लोभ या तृष्णा) के दास हैं वे सारे संसारके दास हैं। जिन्होंने आशा को वशमें कर लिया है सारा संसार उनका दास हो जाता है।

तावन्महतां महती यावत् किमपि हि न याचते लोकम्।
बलिमनुयाचनसमये श्रीपतिरपि वामनो जातः॥

बड़ों का बड़प्पन तभी तक है जब तक वे दूसरोंसे कुछ मांगते नहीं हैं बलिसे याचना करते समय पराक्रमी विष्णु भगवान् को भी वामन (छोटा) होना पड़ा।

सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य संतुष्टं यस्य मानसम्।
उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतेव भूः॥

जिसका मन सन्तुष्ट है उसको सारी सम्पत्ति प्राप्त है, वही धनी और सुखी है। जिसके पांवोंमें जूते हैं उसको पृथ्वी पर चलनेमें कांटों से बचनेके लिए पृथ्वी पर चम बिछाने की आवश्यकता नहीं है वह जहाँ चाहे सुखपूर्वक जा सकता है उसके लिये तो सारी पृथ्वी ही चर्म से आच्छादित है। वास्तवमें अधिक धनके लिए बेचैनी मनके असंतोष के कारण ही तो होती है। असंतोष के कारण जितना ही धन प्राप्त होता जायगा उतना ही अधिक पाने की लालसा बढ़ती जायगी और उससे बेचैनी भी बढ़ती जायगी।

तुलसीदासजीने बड़ा ही अच्छा कहा है—

धनहीन कहै धनवान सुखी, धनवान कहै सुख राजा को भारी।
राजा कहै महाराज सुखी, महाराज कहै सुख इन्द्र को भारी।
इन्द्र कहै चतुरानन सुखी, चतुरानन कहै सुख विष्णु को भारी।
तुलसीदास विचारि कहै, हरिभक्ति बिना सब लोक दुखारी॥

अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्॥

यह अपना है वह दूसरा है यह विचार क्षुद्र पुरुषों का होता है। उदार हृदयवाले (शुद्ध आचरणवाले) मनुष्योंके लिये तो सारा संसार ही अपना कुटुम्बी है।

उत्तमे तु क्षणं कोपो मध्यमे घटिकाद्वयम्।
अधमे स्यादहोरात्रं चाण्डाले मरणान्तिकः॥

श्रेष्ठ पुरुषों का क्रोध क्षणभरके लिए होता है। मध्यम श्रेणीके लोगों का क्रोध दो घड़ी रहता है, नीचे दर्जेके लोग एक दिन-रात क्रोध रखते हैं, चाण्डाल का क्रोध जीवन भर रहता है (उसका यदि कोई कुछ बुरा कर दे तो उसे मरते दमतक क्षमा न करेगा)। अतएव महापुरुष वे ही हैं जो किसीसे बदला लेने की भावना दिलमें नहीं रखते हैं।

उद्योगे नास्ति दारिद्र्यं जपतो नास्ति पातकम्।
मौनेन कलहो नास्ति नास्ति जागरतो भयम्॥

पुरुषार्थी मनुष्य को दरिद्रता नहीं हो सकती। ईश्वरके नाम का ज्ञान सहित जप करनेसे पाप पास नहीं आ सकता। चुप रहनेसे कलह नहीं हो सकता और सचेत रहनेसे भय नहीं हो सकता।

कोहि भारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सुविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥

समर्थ मनुष्योंके लिए कुछ भी भारी नहीं है, परिश्रमी मनुष्योंके

लिए कहीं भी दूर नहीं है। विद्वानोंके लिए कोई भी देश-विदेश नहीं है। सब जगह विद्याके कारण स्वदेशके जैसा ही उनका आदर होगा। जो प्रिय बोलनेवाले हैं उनके लिये कोई भी पराया नहीं है सब को वे अपनी वाणीसे अपना बना लेते हैं।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।
गृहं तु गृहिणीहीनं कान्तारमिति मन्यते॥

यथार्थमें ईंट पत्थरके बने मकान को गृह नहीं कहते हैं, गृहिणी ही गृह है अर्थात् गृहिणीसे ही घर की शोभा है एवं गृहस्थाश्रम की सारी व्यवस्था चल सकती है। जिस घरमें उत्तम गृहिणी नहीं है वह जंगल के तुल्य है, यथार्थमें उसको घर नहीं कह सकते।

गृहासक्तस्य नो विद्या नो दया मांसभोजिनः।
द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यं स्त्रैणस्य न पवित्रता॥

घरमें आसक्ति रखनेवाले को (घरघुसे लोग अर्थात् जो घर छोड़ कर बाहर जाना ही नहीं चाहते उन्हें) विद्या नहीं हो सकती। मांसाहारी कभी दयालु नहीं हो सकता। धनलोलुप व्यक्तिमें सत्य नहीं हो सकता। परदारा में निरत अथवा अपनी स्त्री में भी सर्वदा कामबुद्धि से आसक्त पुरुषमें पवित्रता नहीं रह सकती।

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव।
राजानमविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम्॥

सांप जैसे विलमें रहनेवाले जन्तुओं को ग्रस लेता है उसी प्रकार भूमि इन दोनों को ग्रस लेती है, एक तो ऐसे क्षत्रिय को जो युद्धसे डरे, और दूसरे उस ब्राह्मण को जो विदेश न जावे। घरमें विद्या, कला आदि का यथार्थ आदर नहीं हो सकता।

जरामरणदुःखेषु राज्यलाभसुखेषु च ।
न बिभेमि न हृष्यामि तेन जीवाम्यनामयः ॥
यथाकालमुपायातावर्थानर्थौ समौ मम ।
हस्ताविव शरीरस्थौ तेन जीवाम्यनामयः ॥
यदा यदा मुने किंचिद्विजानामि तदा तदा ।
मतिरायाति नौद्धत्यं तेन जीवाम्यनामयः ॥
करोमीशोपि नाक्रान्ति परितापे न खेदवान् ।
दरिद्रोपि न वाञ्छामि तेन जीवाम्यनामयः ॥
सुखितोऽस्मि सुखापन्ने दुःखितो दुःखिते जने ।
सर्वस्य प्रियमित्रं च तेन जीवाम्यनामयः ॥

बुढ़ापा, मृत्यु किंवा दुःख अथवा राज्यलाभ कुछ भी प्राप्त होनेपर न तो डरे (या दुःख करे) और न हर्ष ही करे बल्कि दुःख-सुख हानि लाभ सबमें एक रस रहे वही मनुष्य नीरोग और सुखी रहता है। समय समय पर अर्थ और अनर्थ प्राप्त होते रहते हैं इनको जो दोनों हाथोंके जैसा समान भावसे देखता है वही मनुष्य नीरोग और सुखी है। जब-जब कोई नई विद्या की प्राप्ति करे तो मनुष्य को उचित है कि वह उससे अपनी बुद्धि को पवित्र करे उद्धत न हो जावे। इसीसे सुख और आरोग्य की प्राप्ति होती है। शक्ति रहते हुए भी जो दूसरों पर आक्रमण नहीं करता, विपत्ति प्राप्त होने पर भी जो शोक नहीं करता तथा धनहीन होते हुए भी जो दूसरे के धन पर मन नहीं चलाता वही सुखी और नीरोग रहता है। दूसरेके सुखसे सुखी और दूसरेके दुःखसे जो दुःखी होता है तथा जो गर्वीले मनुष्योंसे भी घृणा नहीं करता वही सुखी और नीरोग रह सकता है।

धनिकः श्रोत्रियो राजा नदी वैद्यस्तु पंचमः ।
पञ्च यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥
लोकयात्रा भयं लज्जा दाक्षिण्यं त्यागशीलता ।
पंच यत्र न विद्यन्ते न तत्र दिवसं वसेत् ॥
यस्मिन् देशे न संमानो न प्रीतिर्न च बान्धवाः ।
न च विद्यागमः कश्चिन्न तत्र दिवसं वसेत् ॥

जहां पर धनी, विद्वान्, राजा, नदी और वैद्य नहीं हों वहां पर एक दिन भी न रहे। जहां पर जीविका का साधन न हो, पाप और कुकर्म से लज्जा करनेवाले न हों, चतुर बुद्धिमान और त्यागशील लोग न हों वहां पर एक दिन भी न रहे। जिस देशमें सम्मान न हो, प्रीति करनेवाले और बन्धुबान्धव न हों, विद्याप्राप्ति न होवे उस देशमें एक दिन भी न रहे।

दाने तपसि शौर्ये च विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो नहि कर्तव्यो वहुरत्ना वसुन्धरा ॥

दानशीलता, तप, बल, पराक्रम, ज्ञानविज्ञान, विनय और नीतिज्ञता अपनेमें जितनी भी अधिक क्यों न हो उसका अभिमान नहीं करना चाहिये। पृथ्वी रत्नोंसे भरी है। इसमें एकसे एक बढ़कर हैं।

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा नो विविक्तासनो भवेत् ।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

अपनी माता, बहिन, या पुत्रीके साथ भी एकान्तमें एक साथ न बैठे। इन्द्रियां बड़ी चंचल होती हैं और विद्वानों को भी पथभ्रष्ट कर सकती हैं। अतएव बुद्धिमानी इसीमें है कि ऐसा अवसर ही न आने दें। यों भी जब-जब किसी पुरुष को परायी स्त्री से बात करने की आवश्यकता हो तो मातृभाव को मनमें रखते हुए ही उससे वार्तालाप

करे, और स्त्री को भी ऐसा ही उचित है कि पराये पुरुषसे पुत्रवत् भाव मनमें रखते हुए ही बातचीत करे।

> दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
> सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत् ॥

दृष्टिसे पवित्र करके (अच्छी तरह देखकर) भूमि पर पाँव रखे, जल को वस्त्रसे छान कर ही पीवे, वाणी को सत्यसे पवित्र करके बोले (अर्थात् असत्य, अप्रिय एवं परहानि करने वाले वचन न बोले) आचरण मन की पवित्रतासे ही करे (किसी भी कर्मके करनेमें मनमें हिंसा, राग, द्वेष, लोभ आदिके भाव न हों, कर्तव्यनिष्ठा और परहित की ही भावना सदा रहे)।

> येषां न विद्या न तपो न दानं ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
> ते मृत्युलोके भुवि भारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥

जिनमें विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण वा धर्म कुछ भी नहीं है वे पृथ्वी पर भारस्वरूप ही हैं।

> रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्
> अम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नैतादृशाः।
> केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद्वृथा
> यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥

कवि चातक को सम्बोधन करके कह रहा है कि जरा सावधान होकर सुनो—आकाशमें मेघ बहुत हैं पर सभी समान नहीं हैं। कोई कोई मेघ तो वृष्टिसे पृथ्वी को आर्द्र कर ओषधियों और वनस्पतियों को भोजन प्रदान करते हैं और उनके द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण करते हैं परन्तु कितने मेघ तो यों ही गर्जते हैं पर बरसते नहीं हैं। अतएव जिस किसीको भी देखकर ही दीन वचन बोलना मत आरम्भ कर दो।

मनुष्यके लिये यही शिक्षा है कि सब किसीको अपने दु:ख न सुनाया करे और न हर किसीसे कुछ मांगता ही रहे। अपना दु:ख केवल परमपिता परमात्मासे ही कहे और प्रभुसे ही याचना करे। परमात्माने जो हमारे शरीरमे विवेकके साधन मन आदि, ज्ञानेन्द्रिय और हाथ पाँव आदि कर्मेन्द्रिय देकर हमें अच्छे बुरे का विवेक करते हुए ज्ञानपूर्वक पुरुषार्थ करने का शुभ आदेश दिया है उस आदेश का यथाशक्ति पालन करनेसे प्रभु हमें सारे भोग्य पदार्थ अवश्य देंगे और हमारी सारी कमी को पूरी करेंगे इसमें सन्देह नहीं है।

यामममध्ये न भोक्तव्यं द्वियाम नैव लंघयेत्।
यामममध्ये रसोत्पत्तिरत ऊर्ध्वं रसक्षय.॥

दिनके पहले पहरमे अर्थात् सूर्योदयसे तीन घंटे तक भोजन न करे। दो पहर तक बिना भोजन किये भी न रहे। बारह बजेके पहले अवश्य ही खा लेवे। एक पहरके भीतर भोजन करनेसे आम रस की वृद्धि होती है (जिससे आमाशय, आम वात आदि रोगोंके होने की सम्भावना है)। दो पहर तक उपवास करनेसे रस का क्षय होता है।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नत ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु:खहा॥

कृष्ण भगवान गीतामे कहते हैं कि भोजनभट्ट आदमी योग नहीं कर सकता। बिल्कुल भूखा रहने वाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता है। बहुत सोनेवाला अथवा बिल्कुल ही नहीं सोनेवाला मनुष्य भी योग नहीं कर सकता। उचित मात्रामें आहार विहार करनेवाले तथा

सोने जागनेवाले और चेष्टा करनेवाले ही योगके द्वारा सारे दुःखों का नाश करनेमें समर्थ होते हैं। (अधिक भोजनसे अजीर्ण, आलस्य आदिके कारण शरीरमें काम करने की क्षमता नहीं रह जाती है अधिक उपवाससे अथवा पाचनशक्तिसे कम खानेसे भी शरीर क्षीण होकर कार्य करनेमें असमर्थ हो जाता है। कृष्णजी ने गीतामें योग का अर्थ बतलाया है 'योगः कर्मसु कौशलम्' अर्थात् अपने कर्त्तव्य कर्म को सुचारु रूपसे सम्पादन करना। दूसरा अर्थ है—

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।

पुरुषार्थ करते हुए सफलता असफलता जो कुछ भी प्राप्त हो उसमें सम भाव रखना, सफलतामें हर्ष अथवा असफलतामें शोक न करना। चित्त का निरोध करके उसे ईश्वरमें लगाना भी योग है। इन सारे कार्योंके लिये शरीर की स्वस्थता नितान्त प्रयोजनीय है।)

देशाटनं पण्डितमित्रता च वृद्धोपसेवा च सभाप्रवेशः।
अनेकशास्त्राणि विलोकितानि चातुर्यमूलानि भवन्ति पंच॥

अनेक देशों का भ्रमण, विद्वानोंसे मित्रता, वृद्धों की सेवा, राजसभा में प्रवेश, तथा शास्त्रों का अध्ययन ये पांच चतुराईके मूल हैं।

परान्नं परवस्त्रं च परशय्या परस्त्रियः।
परवेश्मनि वासश्च शक्रस्यापि श्रियं हरेत्॥

दूसरे का अन्न खाना, दूसरे का वस्त्र अपने काममें लाना, दूसरे की शय्या पर सोना, परायी स्त्री में कामवासना रखना, दूसरेके घरमें रहना, ये कर्म इन्द्र की भी श्री को हरनेवाले हैं साधारण मनुष्यों का तो कहना ही क्या है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

अपने जाने नहीं, गुरुजनों एवं शास्त्रोंमें श्रद्धा भी नहीं रखे, सदा मनमें संशय रखे एवं सबमें सन्देह करे ऐसे मनुष्यके लोक परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं।

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

नीतिमें निपुण लोग निन्दा करें या प्रशंसा करें, लक्ष्मी आवे अथवा जहाँ इच्छा चली जावे, मृत्यु आज ही हो जावे किंवा एक युगके बाद होवे, इसकी लेशमात्र भी चिन्ता न कर धीर (बुद्धिमान्) पुरुष न्याय (धर्म) के मार्गसे एक पग भी विचलित नहीं होते।

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः॥

जिनका मन सदा विद्या की चर्चामें ही लगा रहता है, जिन्होंने उत्तम शील की शिक्षा धारण की है, सत्य ही जिनका व्रत है, जिनमें अभिमान का मल जरा भी नहीं है, जो संसारके प्राणिमात्र का दुःख दूर करनेमें प्रयत्नशील हैं तथा परोपकारमें ही सर्वदा निरत रहते हैं वे महापुरुष धन्य हैं।

धर्मं शनैः संचिनुयाद् वल्मीकमिव पुत्तिकाः।
परलोकसहायार्थं सर्वभूतान्यपीडयन्॥

किसी भी प्राणी को पीड़ा नहीं देते हुए धर्म का शनैः शनैः करते जाना चाहिये। परलोकमें सहायक एक मात्र धर्म ही है

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः॥

परलोकमें माता, पिता, स्त्री, पुत्र, कुटुम्बी आदि सहायताके लिये उपस्थित नहीं हो सकते। एक मात्र धर्म ही वहां पर साथ दे सकता है। अतएव माता, पिता, स्त्री, पुत्रादिके मोहमें पड़कर धर्म को न त्याग देवे। धर्म उन सबसे अधिक उपकारी है उसका सेवन सदा ही करता रहे और धर्म की मर्यादामें रहते हुए ही पुत्रादि परिवारवर्ग का पालन करे।

ऐतरेय ब्राह्मणमें महाराज हरिश्चन्द्रके पुत्र रोहिताश्व को इन्द्रने बड़ा सुन्दर उपदेश दिया है जो यों है :—

नाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम।
पापो नृपद्वरो जनः। इन्द्र इच्चरतः सखा।
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥ १॥

इन्द्र कहते हैं, रोहित, वृद्धों और ज्ञानी पुरुषोंसे हम सुनते हैं कि विना कठिन परिश्रमके लक्ष्मी नहीं प्राप्त होती है। बेकार आलसी बैठा हुआ मनुष्य पापी होता है। परमात्मा जो परम ऐश्वर्यशाली है बराबर चलते रहनेवाले अर्थात् सदा उद्योग करते रहनेवाले मनुष्य का ही मित्र है। अतएव मनुष्य को सदा कर्म करते रहना चाहिये। कभी निठल्ला नहीं बैठना चाहिये।

पुष्पिण्यौ चरतो जंघे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः।
शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताः॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

परिश्रमी पुरुषके पांव धन्य हैं, उसकी आत्मा सब प्रकारसे विभूषित होती है। वह सारे शुभ फलों को प्राप्त कर उनका उपभोग करता

है। उसके सारे दुर्गुण परिश्रमशीलता रूप अग्निमे जलकर नष्ट हो जाते हैं। अतएव चलते-चलो—सदा पुरुषार्थ करते रहो, कभी निठल्ले न बैठो।

अँगरेजीमे एक कहावत है कि आलसी मनुष्य का मन शैतान का कारखाना है। यह अक्षरश सत्य है। जो मनुष्य कोई काम करता होता है उसके हाथ-पाँव आदि इन्द्रिया उस काममे लगी होती हैं, और मनके सहयोगके बिना इन्द्रियां कार्य कर ही नहीं सकतीं इसलिये मन उन इन्द्रियों को सहयोग देनेमें व्यस्त रहता है। आलसी मनुष्य की कर्मेन्द्रिया तो बेकार बैठी रहती हैं। मन कभी भी बेकार नहीं रह सकता, वह सदा ही सक्रिय रहता है। यही उसका स्वभाव है। जब उसके सामने हम कोई शुभ कार्य्य का प्रयोग नहीं रखेंगे तो वह अपने आप कुछ न कुछ सोचेगा ही। रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि विषयोंमे बड़ा आकर्षण है। उन्हीके चिन्तनमें मन लग जाता है। देखा भी जाता है कि अकर्मण्य लोग ही ससारमे सारे अनर्थ करते हैं, व्यर्थ इधर-उधर की बातें, परनिन्दा, हिंसा आदि वे ही करते हैं। काममे लगे हुए लोगों को इन बातोंके लिये अवकाश ही कहाँ है ?

आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्टत ।
शेते निपद्यमानस्य । चराति चरतो भग ॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ॥

बैठे हुए मनुष्य का ऐश्वर्य (भाग्य) बैठा हुआ रहता है, खड़े हुए का खड़ा रहता और सोये हुए का सो जाता है। अतएव बराबर पुरुषार्थ करता रहे कभी कर्महीन न होवे।

कलि शयानो भवति सजिहानस्तु द्वापर ।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति । कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति ॥

सोये हुए का नाम कलि है। अंगड़ाई लेता हुआ द्वापर है। उठकर खड़ा त्रेता है। चलता हुआ सत्ययुग है। अतएव चलते-चलो, आगे बढ़ो, आलस्य को छोड़ो।

लोगों की ऐसी धारणा है कि सत्ययुगमें धर्मके चारों चरण थे, त्रेता में तीन चरण, द्वापरमें दो चरण (अर्थात् आधा पुण्य आधा पाप) तथा कलियुगमें धर्म का एक चरण ही शेष रहा है, पापके तीन चरण हो गये हैं, अधर्म का प्राबल्य हो गया है। यथार्थ में ऐसा कोई समय नहीं होता है। अच्छे और बुरे लोग सब समयमें होते हैं। जिस युग में प्रह्लाद् पैदा हुआ उसी युगमें हिरण्यकशिपु और हिरण्याक्ष भी हुए। रामके युगमें ही लङ्कामें रावण आदि राक्षसों का बाहुल्य था जिससे पृथिवी पर हाहाकार मचा हुआ था। आज हम कहीं भी किसी को बुरा काम करते देखते हैं तो हम कहने लगते हैं कि यह कलियुग का प्रभाव है, कलियुगमें ऐसा होगा ही। ऐसा समझनेसे धर्मके आचरणमें बाधा होती है लोगों के मनमें हो जाता है कि धर्म कोई कलियुगमें कर ही कैसे सकता है, जो हो रहा है वह अनिवार्य है दैवी इच्छा है। यह बात नहीं है। आज भी जहां बुरे लोग हैं वहां बड़े-बड़े महापुरुष भी तो हैं। एक देश की अवस्था अनुन्नत है तो दूसरे देशोंमें सुखसमृद्धि की भरमार है। यथार्थमें ऊपर लिखा हुआ ब्राह्मण वाक्य कलि आदि का अर्थ बतला रहा है। कर्मशील, उद्यमी, पुरुषार्थी लोग इस कलियुगमें भी सत्ययुग का निर्माण कर सकते हैं। अकर्मण्य मनुष्य ही कलियुगके अवतार हैं।

चरन् वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥
चरैवेति चरैवेति चरैवेति॥

चलती हुई ही मधुमक्खियाँ मधु प्राप्त करती हैं। पक्षीगण चलते हुए (उद्यमशीलताके द्वारा) ही सुन्दर स्वादिष्ट फल अपने भोजनके लिए प्राप्त करते हैं। सूर्य कभी आलस्य न कर नियमित रूपसे जाडा, गर्मी, बरसातमे अपने समयसे निकलकर और आकाशमे विचरण कर प्राणिमात्र को जीवन प्रदान करता है। उसी प्रकार कर्मपरायण निरालस्य मनुष्य संसारमें मधु आदि सुन्दर भोग्य पदार्थ प्राप्त करते हैं, ससारके प्राणिमात्रका उपकार करनेमे समर्थ होते हैं। अतएव हमे पुरुषार्थ कभी न त्यागना चाहिये सदा अविश्रान्तभावसे परिश्रम करते रहना चाहिये।

यज्ञ रूप प्रभु हमारे, भाव उज्ज्वल कीजिये।
छोड देवें छल कपट को, मानसिक बल दीजिये॥
वेद की बोलें ऋचाएं, सत्य को धारण करें।
हर्ष मे हों मग्न सारे, शोक सागर से तरें॥
अश्वमेध आदिक रचाएँ, यज्ञ पर उपकार को।
धर्म मर्यादा चलाकर, लाभ दें ससार को॥
नित्य श्रद्धा-भक्ति से, यज्ञादि हम करते रहें।
रोग पीडित विश्व के, सन्ताप सब हरते रहें।
कामना मिट जाए मनसे, पाप अत्याचार की।
भावनाएँ पूर्ण होवें, यज्ञसे नर नारि की॥
लाभकारी हों हवन, हर जीवधारी के लिए।
वायु जल सर्वत्र हों, शुभ गन्ध को धारण किये॥
स्वार्थ भाव मिटे हमारा, प्रेम पथ विस्तार हो।
इदं न मम का सार्थक, प्रत्येक मे व्यवहार हो॥
हाथ जोड झुकाए मस्तक, वन्दना हम कर रहे।
नाथ करुणारूप करुणा, आपकी सब पर रहे॥

वेदों की शिक्षा

अथर्ववेदके काण्ड ११ सूक्त ५ में ब्रह्मचर्य की जो अमूल्य शिक्षायें हैं उनमेंसे कुछ निम्न लिखित हैं—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सं मनसो भवन्ति।
सदाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥

ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याध्ययन करता हुआ विद्यार्थी ही पृथिवी और द्यु लोक (सूर्यादि लोक) के रहस्यों की खोजकर सकता है अर्थात् भूगोल और खगोल को सारी विद्यायें प्राप्त करने की शक्ति लाभ कर सकता है। सारे देवगण (परमात्मा, अग्नि जलादि तत्त्व, आत्मा एवं इन्द्रियादि तथा समस्त विद्वान्) उसके अनुकूल होकर उसकी सहायता करते हैं। वह अपनी विद्यादि सामर्थ्य से पृथ्वी और द्यु लोक को मनुष्यमात्रके लिए अधिकसे अधिक कल्याणकारी बना सकता है अर्थात् उनसे बहुत अधिक लाभ उठा सकता है। (तात्पर्य यह कि प्रभु की सृष्टिसे अनन्त लाभ उठाया जा सकता है परन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुष ही वह लाभ उठाते, साधारण लोग नहीं। गङ्गाके अविरत प्रवाह से जहां अज्ञानी मनुष्य एक चुल्लू जल ले सकता है वहां उससे अधिक बुद्धिमान् गङ्गामें जहाज चलाकर लाखों मन खाद्यान्न लोगों तक पहुंचा सकता है)। ब्रह्मचारी ही अपने ब्रह्मचर्यसे गुरु की महिमा को बढ़ा सकते हैं क्योंकि जैसे अच्छे क्षेत्रमें बोया हुआ बीज ही उपज सकता है ऊपरमें पड़ा हुआ नहीं उसी प्रकार सत् शिष्य को पढ़ाकर ही गुरु का श्रम सफल होता है उसको यश मिलता है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥

ब्रह्मचर्यरूपी तपसे ही राजा (राष्ट्रपति) अपने राष्ट्र की विशेष रूप

से रक्षा करने की योग्यता प्राप्त करता है। पूर्ण ब्रह्मचर्यसे रहकर जिसने विद्या प्राप्त की है एवं जिसको गृहस्थाश्रममें रहता हुआ भी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त है वही सच्चा आचार्य (गुरु) होने की योग्यता रखता है।

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥

ब्रह्मचर्यसे रहकर और विद्या प्राप्त कर कन्या अपने योग्य ब्रह्मचारी युवा पति को प्राप्त करे (तभी गृहस्थाश्रम सुचारु रूपसे चल सकता है)। साढ़ और घोड़े भी ब्रह्मचर्यसे रहकर ही भरपेट घास खाकर पुष्ट होते हैं पश्चात् संतानोत्पत्तिके योग्य होते हैं।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥

ब्रह्मचर्यरूपी तपके द्वारा ही देवगण मृत्यु पर विजय पाते हैं (ब्रह्मचारी इच्छामृत्यु हो जाते हैं, मृत्युसे उन्हें लेशमात्र भी भय नहीं होता)। देवराज इन्द्र ब्रह्मचर्यके द्वारा ही देवों का सुख सम्पादन करते हैं। (ब्रह्मचर्य पूर्वक रहता हुआ राजा ही ब्राह्मणों अर्थात् विद्वानों को सुखी कर उनके द्वारा धर्म की मर्यादा कायम रख सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही आत्मा इन्द्रियों को सच्चा सुख प्रदान कर सकती है)।

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥
पार्थिवा दिव्या पशव आरण्या ग्राम्याश्चये।
अपक्षा पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥

ओषधियां (अन्न शाकादिके पौधे), भूत, भविष्य, दिन-रात, वृक्षादि एवं संवत्सर (वर्ष) इन सबोंमें ऋतुकाल हैं। इनमें भ्रम हैं,

पूर्वापरता है, पुष्प फल लगानेके पृथक् समय हैं) अतएव इस जड़ सृष्टिमें भी ब्रह्मचर्यके नियम का पालन हो रहा है। पृथ्वी, आकाश, जंगल और ग्रामके रहनेवाले पशुपक्षी आदि सभी ऋतुकाल का पालन करते हैं अर्थात् समय पर ही संतान उत्पत्ति की क्रिया करते हैं, अतएव वे सबके सब ही ब्रह्मचारी हैं। गृहस्थ आश्रमवाले मनुष्य को भी ऋतु कालमें ही सन्तानोत्पत्तिके निमित्त ही स्त्री प्रसंग करने की वेदों की आज्ञा है। वैसा ऋतुकालाभिगामी पुरुष भी ब्रह्मचारी ही है जैसा कि यह मंत्र कह रहा है। मनु महाराज भी कहते हैं—

ऋतुकालाभिगामी स्यात् स्वदारनिरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रकुत्राश्रमे वसन्॥

अर्थात् ऋतुकाल के अभिमानी और अपने पति वा स्त्री में ही निरत रहनेवाले गृहस्थाश्रमी स्त्री-पुरुष भी ब्रह्मचारी ही हैं।

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो मापमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ
मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ अथर्व० ६

मनुष्य का स्वाभाविक भोजन क्या है इस सम्बन्धमें प्रभु का उपदेश है कि हे मनुष्यो तुम व्रीहि अर्थात् चावल यव (एवं गेहूं, मक्का, आदि), माष (उड़द, मूँग, मसूर, चना आदि दाल) एवं तिल (तेलहन जिनमें मेवे आदि भी सम्मिलित हैं), अर्थात् अन्न और फल, ये ही खाया करो। रमणीयताके लिए अर्थात यदि तुम सुखपूर्वक रहना चाहते हो तो तुम्हारा भाग यही है। हे मनुष्यो पशु पक्षी आदि जो तुम्हारे रक्षक और मान्यकर्त्ता हैं (अर्थात् जिनके भरोसे तुम्हारा जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है) उनके लिये तुम्हारे दाँत कदापि घातक न हों। पशु-पक्षी आदि मनुष्यके रक्षक और पालक हैं अतएव शतपथब्राह्मणमें

पशुओं को भी प्रजापति कहा गया है। यहा पर उन्हीं को पिता-माता कहा गया है। उनकी हिंसा कर अपना पेट पालना अथवा उनके आहार स्वरूप उनकी माताओं का दूध अपने लिये लेकर उनकी शक्ति का ह्रास करना ही माता-पिता की हिंसा करना कहा गया है जो मनुष्यमात्र के लिये परमात्मा की आज्ञा के विरुद्ध होनेसे सर्वथा त्याज्य है। पशु पक्षी आदि हमारे माता-पिता यों हैं कि वे सभी हमारा कल्याण साधन करते हैं। गौवों से कृपिकार्यमें असीम सहायता मिलती, बकरोंके हमारे घरोंमें रहनेसे यक्ष्मा रोग नहीं हो सकता। कुत्ते हमारे घरों की रखवाली करते हैं, सूअर कौवे आदि तक पृथ्वी परके मल को साफ करते हैं, गन्दगी रहने ही नहीं देते। मछली आदि जलचर जल की गन्दगी को दूर कर जल को पवित्र और जीवनोपयोगी बनाते हैं। रोगके कीटाणुओं का नाश कर हमे मलेरिया, हैजा आदि भयकर बीमारियोंसे बचाते हैं। इनकी सब प्रकारसे रक्षा करने से ही हमारी रक्षा हो सकती है। उनके सहार से हमारा क्षणिक लाभ हो सकता है परन्तु बराबरके कल्याणसे हम वंचित हो जाते हैं। एक तो मांसादिसे मानव शरीर की पुष्टि होगी यह धारणा ही निर्मूल है। मास तो बिल्कुल ही नि सार पदार्थ है। आधुनिक विज्ञान तो वनस्पतियों को ही शक्ति का आधार बतला रहा है। एक क्षणके लिए यदि मान भी लें कि दूसरेके मांससे अपनी पुष्टि हो सकती है तो भी क्या यह कर्तव्य हो सकता है? केवल अपनी पुष्टि का ही लक्ष्य रखा जाय तो कुकर्म द्वारा परद्रव्यहरणसे भी शरीर की पुष्टि होनेके कारण उसके करने की शिक्षा भी प्रचलित हो सकती है जिससे कोई धर्म की मर्यादा न बन सकेगी। अतएव दूसरेको मारकर या कमजोर कर अपनेको पालने का अभिप्राय मनमे कदापि न लाना चाहिये।

समानी प्रपा सह वो अन्नभाग समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित ॥ अथर्व वेद ३

तुम्हारी प्याऊ (पानी पीने का स्थान) और तुम्हारे अन्न का भाग समान हो (अर्थात् मनुष्य मात्र का एक जैसा ही शुद्ध, पवित्र, पुष्टि-कारक निरामिष आहार होवे और सबको जीवन धारणोपयोगी पर्याप्त भोजन प्राप्त होवे जिससे सब समान रूपसे सुखी रहें और असमानता के कारण वर्गवाद की उत्पत्ति मानव समाजमें न होवे)। गृहस्थाश्रममें और समाजमें सबके सब परमात्मा के उपासक और अग्निहोत्र करने-वाले होवें। तुम सब एक ही उद्देश्यवाले हो।

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ अथर्व० ३

भगवान् कहते हैं—हे मनुष्यो मैं तुम सबको हृदयके साथ बनाता हूं (मनुष्य को सहृदय होना चाहिये, प्राणिमात्रके हित की भावना उसके अन्दर होनी चाहिये, परस्पर प्रेम की भावनासे ही गृहस्थ आश्रम चल सकता है, समाज की सुव्यवस्था बन सकती है)। साथ ही तुम सब को मन अर्थात् मनन करने की—बुद्धिपूर्वक कार्य करने की—शक्ति भी देता हूं। यदि केवल हृदय ही हो, मन न हो, तो भी मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता है, इसलिए बहुत बार हम किसी का हित करना चाहते हैं पर फल उल्टा ही होता है। (माता-पिताके विचारशून्य प्रेमसे बहुतसे बच्चे बिगड़ जाते हैं)। हे मनुष्यो तुम एक दूसरेसे द्वेषभाव न रखो। (यदि किसीमें कुछ बुराई हो उसे प्रेमसे समझा कर छुड़ाना चाहिये, बुरे मनुष्यसे घृणा करने की आवश्यकता नहीं है बुराई से ही घृणा करनी चाहिये। वैद्य रोगके शत्रु होते हैं, रोगी के नहीं)। एक दूसरेसे ऐसा ही व्यवहार करो जैसे गाय अपने नवजात बच्चेके साथ करती है (उसके शरीरके मैल को साफ कर देती उसकी रक्षाके लिये अपने प्राणों तक की परवा नहीं करती)।

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम्॥ अथर्व० ३

पुत्र अपने पिताके अनुकूल व्रतवाले हों अर्थात् सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य आदि नियमों पर चलनेवाले हों। माताके मनके अनुसार चलने वाले हों और उनमें (माता पुत्रमें) प्रेम होवे। स्त्री-पुरुष का व्यवहार बड़ा ही प्रेमपूर्ण होवे, स्त्री मधुमें घोलकर पतिसे वाणी बोले, पति भी सदा अपनी पत्नी का मान-सम्मान करे।

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ अथर्व० ३

भाई-भाई, भाई बहिन, और बहिन बहिन आपसमें द्वेष न रखें। सब एक दूसरेके सहयोगी होवें, सभी समान व्रतवाले अर्थात् समान रूपसे सत्य आदि धर्मके नियमों का पालन करनेवाले होवें एवं एक ही पवित्र उद्देश्य रखनेवाले होवें। एक दूसरेसे ऐसे ही वचन बोलें जिससे परस्पर वैर-विरोध न होवे, उन सब का कल्याण होवे एवं उनके प्रेम पूर्वक एक साथ रहकर कार्य करनेसे संसार का कल्याण होवे।

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥ अथर्व०

वाणी देवी है (दिव्य गुणोंसे युक्त है), परमात्मा की विशेष कृपा से केवल मनुष्यों को ही प्राप्त है (अन्य जीवधारी वाणी द्वारा अपने भाव दूसरे पर नहीं प्रकट कर सकते)। इस वाक् देवी के अन्यथा प्रयोगसे संसारमें बड़े-बड़े अनर्थों की सृष्टि हुआ करती है। (यथार्थ में रामायण और महाभारत आदि की दुःखदायी घटनाएँ मन्थरा की चुगली, सहदेव द्रौपदी आदिके दुर्योधनके प्रति कटुभाषण आदि, वाणी के असत् प्रयोगसे ही तो घटी हैं)। परमात्मासे प्रार्थना है कि वह हमें

ऐसी सद्बुद्धि देवें जिससे हम वाणीके असत्य, असूया आदि दूषणोंसे बचें और देवी वाणी हमारे लिये कल्याणकारिणी होवे।

येन देवा न वियन्ति न च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वा गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ अथर्व ३

जिस कारणसे विद्वान् ज्ञानी जन अपने कर्तव्यपथसे विचलित नहीं होते, एवं एक दूसरेसे शत्रुता नहीं रखते उसी ब्रह्म की आराधना तुम्हारे घरोंमें होवे यही उपदेश मैं (परमात्मा) सारे मनुष्यों को समझाकर करता हूं। (ब्रह्मके अर्थ होते हैं परमात्मा, वेद, ब्राह्मण आदि। मनुष्यों के घरोंमें अर्थात् गृहस्थाश्रम में परमात्मा की पूजा, ब्रह्मचर्य का पालन, वेदों का स्वाध्याय, ब्राह्मणों का मान्य एवं उनसे सदुपदेश श्रवण एवं तदनुकूल आचरण ये कार्य सदा होने चाहिये। इसीसे सबोंमें प्रेम एवं परस्पर हानि लाभ, सुख दुःखमें एकता कायम रह सकती है)।

वाङ्म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ अथर्व० १६

मेरे मुखमें पूर्ण आयु की समाप्ति तक उत्तम वाणी बोलने की शक्ति रहे, नासिकामें प्राण शक्ति का संचार होता रहे, आंखोंमें दृष्टि उत्तम प्रकारसे रहे, कानोंमें सुनने की शक्ति वर्तमान रहे, मेरे बाल सफेद न हों, मेरे दांत मैले न होवें, मेरे बाहुओंमें बहुत बल रहे।

ऊर्वोरोजो जंघयोर्जवः पादयोः।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मा निभृष्टः॥ अथर्व० १६

मेरे उरुओंमें शक्ति रहे, जंघोंमें वेग और पांवोंमें स्थिरता और दृढ़ता रहे। मेरे सब अंग प्रत्यंग हृष्टपुष्ट होवें एवं आत्मा उत्साहपूर्ण रहे।

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः

शवश्च शृणुयाम शरद शतं प्रब्रवाम शरद शतमदीना स्याम शरद शतं भूयश्च शरद शतात्॥ यजु० ३६

देवों का परम हितैषी परम प्रभु हमारा नेत्र रूप पथप्रदर्शक सर्वदा हमारे साथ है उसकी कृपा एवं सहायतासे (एव अपने सत्कर्मोंके द्वारा) हम सौ वर्षों तक देखने की शक्ति कायम रखें, सौ वर्षों तक जीवित रहें सौ वर्षों तक हमारे कानोंमें सुनने की शक्ति बनी रहे, सौ वर्षों तक बोलने की शक्ति हममें वर्त्तमान रहे जिससे हम सत्य, हितकर एवं उचित कथन कर सकें, सौ वर्षों तक हम पराधीन और दीन न होकर स्वाधीन और स्वावलम्बी रहें। सौ वर्ष से अधिक भी इसी प्रकार रहें। (वेदोंमें चार सौ वर्ष तक मनुष्य की परमायु कही गई है जो मनुष्य के ४८ वर्ष पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्यके पालन से प्राप्त हो सकती है।)

प्रिय मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।

प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्रे उतार्ये॥ अ० का० १६

मुझे ब्राह्मणों (विद्वानों) का प्रिय बनाओ, राजन्यवर्ग (योद्धाओं एवं शासकों) का प्रिय बनाओ, वैश्य समुदाय (किसानों एवं वाणिज्य व्यापार करनेवालों) का प्रिय बनाओ, शूद्रों (श्रमजीवियों) का प्रिय बनाओ, जिस किसीसे मिलने का अवसर हो सभी मुझसे प्रेम करें।

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।

आयु प्राणं प्रजा पशून् कीर्तिं यजमान च वर्धय॥ अ०१६

प्रभु कहते हैं हे ज्ञानी मनुष्य उठो (शुभ कर्मके लिये तैयार रहो) अपने उत्तम कर्म, पुरुषार्थ, ज्ञानप्रचार आदिके द्वारा विद्वानोंमें स्फूर्ति एव जागरण पैदा करो, आयु, प्राण, प्रजा (स्वसन्तान आदि अथवा जनता), गौ आदि पशु, कीर्ति एव शुभ कार्य करनेवाले लोकोपकारी जनों को सब प्रकारसे वृद्धि एव उन्नति करो।

ऊपरके पांच मंत्रोंमें मनुष्यके अभ्युदय का क्रम बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया गया है। (१) सबसे पहले मनुष्य को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों की उन्नति करनी चाहिये। जिसका शरीर स्वस्थ और बलवान् नहीं है मन निर्बल और बुद्धि क्षीण है वह संसार में औरोंके उपकारार्थ कुछ नहीं कर सकता है उसका तो निज का जीवन ही भारस्वरूप है। (२) दूसरी बात जो आवश्यक है वह है दीर्घ आयु की प्राप्ति। विद्या और संसारके अनुभव प्राप्त करके ही मनुष्य परोपकारमें प्रवृत्त हो सकता है, किसी प्रकारके लोकहितकर कार्य कर सकता है। उसके लिए कमसे कम १०० वर्ष की आयु की आवश्यकता है क्योंकि पचास वर्ष तो ब्रह्मचर्य और गृहस्थाश्रम की समाप्तिमें ही लग जाते हैं, विद्या और अनुभव प्राप्त करनेमें ही लगते हैं। चालीस पचास वर्ष की आयुमें मरजानेवाले लोग जनताके लाभके लिए कुछ कर सकने का समय ही कैसे पायेंगे ? अतः पुरुषार्थी मनुष्य को उचित है कि शारीरिक मानसिक एवं आत्मिक शक्ति प्राप्त करने के साथ ही साथ दीर्घायु बनने का भी यत्न करें। (३) तीसरी आवश्यकता है लोकप्रिय बनने की। अपनी अप्रिय वाणी या व्यवहारके कारण यदि मनुष्य, समाजमें अप्रिय हो जाता है, लोग उससे मिलना-जुलना या बोलना-चालना नहीं पसन्द करते हैं तो वह अन्य प्रकारसे शुद्ध भावापन्न अथवा आचारवान् होता हुआ भी दूसरोंके कल्याणके लिए कुछ कर सकनेमें असमर्थ हो जाता है। लोग उसे चाहते ही नहीं, उसकी सुनेगा ही कौन ? (४) लोकप्रिय, लोकेषणासे, नामवरी या वाहवाही की इच्छासे, अभिनन्दन कराने या स्वागत समारोह रचाने की वासनासे, नहीं होना चाहिये। लोकप्रियता को परोपकारके कार्य करनेका एक साधन ही समझ प्राप्त करना चाहिये। यथार्थमें लोक-

प्रिय नेता का कार्य है जनताके स्वास्थ्य आदि की उन्नति करना बालक बालिकाओं की शिक्षा आदि की उचित व्यवस्था कर कराके उन्हें योग्य नागरिक बनाना, पशुधन की उन्नति करना, विद्वानोंमें जागृति पैदाकर उनके द्वारा जनता का हित साधन करना, शुभ कर्ममें निरत एवं मान्य पुरुषों को सब प्रकारसे मान और प्रोत्साहन प्रदान करना। यह मनुष्य जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिये। ऊपर लिखे क्रमसे चलता हुआ मनुष्यमात्र इस लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है यह वेद का पवित्र संदेश है।

स्वस्ति पन्थामनुचरेम सूर्याचन्द्रमसाविव।
पुनर्ददताघ्नता जानता संगमेमहि॥ ऋ० ५

हम सूर्य और चन्द्रमाके समान कल्याणके पथ पर निरालस्य होकर चलें। दानी अहिंसक और विद्वान मनुष्यों का सदा संग करें।

देवानां भद्रा सुमतिर्ऋजूयतां देवानाꣳ रातिरभि नो निवर्त्तताम्।
देवानाꣳ सख्यमुपसेदिमा वयं देवा न आयुः प्रतिरन्तु जीवसे॥ यजु०२५

छल-कपट रहित, सरल स्वभाववाले विद्वानों की सुन्दर बुद्धि हमारे लिए कल्याणकारिणी होवे। हमें देवों अर्थात् विद्वानोंके दान (उपदेश आदि) प्राप्त होवें, हम विद्वानों की मित्रता की प्राप्ति करें और उनके सदुपदेशों द्वारा अपनी आयु को बढ़ावें।

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ यजु०

हे व्रतोंके पालक प्रकाशस्वरूप परमात्मन्, मैं व्रत का अनुष्ठान करूँगा। आप मुझपर ऐसी कृपा कीजिये कि मैं उसमें सफल होऊँ। मेरा व्रत सत्यरूप ही होवे मैं असत्य को त्यागने और सत्य को ग्रहण करने की शक्ति प्राप्त करूँ।

संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते ॥ ऋग्वेद, १०

समानो मंत्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मंत्रमभिमंत्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ऋग्० १०

परमात्मा मनुष्यमात्र को उपदेश देते हैं कि हे मनुष्यो तुम सब साथ मिलकर चलो, एक साथ बैठकर विचार विमर्श करो और एक स्वरसे अपने विचार व्यक्त करो (तुममें मतभेद न होवे), तुम्हारे विद्वानोंके मन एक हों (उनमें वैर-विरोध न होवे, वे निःस्वार्थ भाव से सबके हितके लिए सद् विद्याओं का उपदेश करें)। तुम सब मिलकर अपने पूर्वज ऋषियों की तरह एक ही भजनीय प्रभु की उपासना करो और तुम्हारा मूल मंत्र अथवा उद्देश्य एक ही हो कि प्राणिमात्र का हित किया जाय। तुम्हारी सभा अथवा संगठन इसी समान उद्देश्य को लेकर होवे, तुम्हारे मन और चित्त एक जैसे होवें और तुम्हारे भोग्य पदार्थ भी एक ही जैसे होवें।

वैदिक राष्ट्र

आब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् ॥ दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु ॥ फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ॥ योगक्षेमो नः कल्पताम् ॥ यजुर्वेद अ० २२

हे भगवन्, हमारे राष्ट्रमें सब ओर ब्रह्मवर्चससे युक्त, ज्ञानसम्पन्न, तेजस्वी, परोपकारी, निःस्वार्थ एवं अत्यंत प्रभावशाली ब्राह्मण होवें (जो अपने विशाल ज्ञान एवं तपोबलसे जनता का उचित पथप्रदर्शन कर सकें तथा राजा और प्रजा को धर्म की मर्यादामें चला सकें)। हमारे

क्षत्रिय अर्थात् शासक और रक्षकवर्ग शूर वीर होवें वे अस्त्र शस्त्रसे युक्त एवं युद्ध विद्यामें प्रवीण होवें, नीरोग एवं स्वस्थ और सबल होवें। हमारे देशमें प्रचुर दूध देनेवाली गायें होवें जिससे बैल मजबूत होकर कृषि कार्य की उन्नति हो सके। बैलोंके द्वारा अन्नादि पदार्थ देशमें सर्वत्र एक स्थानसे दूसरे स्थान को भेजे जा सकें। गौवों के दूधसे यज्ञकार्य चल सके और उससे प्राणिमात्र का कल्याण होवे। शीघ्रगामी घोडे होवें, यानके अन्य साधन भी होवें जिससे यातायात मे सुविधा रहे। हमारी देवियां और मातायें देश का नेतृत्व करने की शक्ति रखनेवाली होव, (यथार्थमें राष्ट्र निर्माण का कार्य स्त्रियों पर ही निर्भर करता है। वे ही नेता, शासक, विद्वान्, सब की माता अर्थात् निर्मात्री हैं। उनमे पूर्ण विद्या, ज्ञान, शील, धैर्य, गृहकार्य मे प्रवीणता, देश प्रेम आदि होनेसे ही राष्ट्र उन्नत हो सकता है)। राष्ट्रके सारे गृहस्थ यज्ञ करनेवाले (अर्थात् जलवायु, वृष्टि आदि की अनुकूलता सम्पादनार्थ हवन यज्ञ, तथा साधु, सन्यासी, विद्वान्, गुरु अतिथि, माता-पिता आदि की सेवा एवं निर्बलों की सहायताके हेतु पंच महायज्ञ आदि सत्कर्म करनेवाले) हों। हमारे नवयुवक जिष्णु अर्थात् जयशील होवें (पक्की लगनवाले हों, एव ऐसे उद्यमशील हों कि जिस काम को हाथमें लें उसमे उनको सदा ही सफलता प्राप्त हो, उनके हृदयमें अदम्य उत्साह एवं उमंग होवे कि वे सर्वत्र विजयी होवें), रथ आदिसे युक्त होवें, शूर वीर और पराक्रमी होवें तथा सभेय अर्थात् सभ्य होवें, (सभामें वक्तृता आदि देने, एव सभामें मान्य प्राप्त करनेवाले भी हों)। यज्ञादिके द्वारा वृष्टि अनुकूल होवे अर्थात् वृष्टि की जब-जब आवश्यकता हो तभी हुआ करे। ओष-धियां अर्थात् अन्नादि एवं फल मूल, कन्दादि प्रचुर मात्रामें उत्पन्न होवें। हमें योग (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति) एवं क्षेम (प्राप्त वस्तु की रक्षा के साधन) प्राप्त होवे।

हे प्रभो, आप हमें ऐसा बना दीजिये कि मनुष्यमात्र का हम कल्याण कर सकें, किसी की बुराई नहीं। पशुओं तथा अन्य प्राणियों को भी हमसे कुछ भय न होवे। न हम किसीसे डरें और न स्वयं दूसरे को डरावें।

दृते दृ ध्ंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

यजु० ३६

हे भगवन् आप हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि जिससे हमे संसारके सारे प्राणी मित्र की दृष्टिसे देखें (अर्थात् अपना मित्र समझें)। हम भी दूसरे सारे प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टिसे देखें। तथा हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्रकी दृष्टिसे देखा करें। (यथार्थमें यदि कोई भी मनुष्य हमसे द्वेष करता है तो इसका कारण हमे अपनेमे ही खोजना चाहिये क्योंकि वही मनुष्य जो हमसे द्वेष करता है दूसरेसे प्रेम भी तो करता है। अतएव प्रेम की कमी उसमे नहीं है हम अपनी किसी कमीके कारण अपनेको उसके अनुकूल नहीं बना पाते हैं। हमें इस कमी को दूर करना चाहिये दूसरेसे कुढ़ने की आवश्यकता नहीं है। प्राणीमात्रके हित चाहने वाले, हिंसक पशुओं तक को अपने मित्र बना लेते हैं)।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्रा।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवासस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

कानोंसे कल्याणमय शुभ शब्द ही सुनें, आंखोंसे कल्याणकारक दृश्य ही देखें। हमारे सारे अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वस्थ और सबल रहें। हम ईश्वर, वेद एवं सत्पुरुषों की प्रशंसा करें और दीर्घ आयु प्राप्त कर उसे देवोंके हितमें लगावें। (अर्थात् अपनी आत्मा को उन्नत करें, अग्नि,

भगवान्से जो प्रार्थना की गई है उसकी प्राप्ति विना मनुष्यके पुरुषार्थ के नहीं हो सकती। भगवान् की वेदोंमें यही आज्ञा है कि भक्त जो मांगता है उसके लिए स्वयं शक्ति भर प्रयत्न करे तभी ईश्वर की सहायता प्राप्त होती है। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपने सारे प्राप्त साधनों द्वारा ज्ञान सहित प्रबल पुरुषार्थ करके राष्ट्र को ऊपर लिखे आदेशके अनुसार बनाने का यत्न करें। तभी हमारी प्रार्थना सफल होगी।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे। अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ अथर्व० का० १६

प्रभो, हमें अन्तरिक्ष, पृथिवी एवं सूर्यादि लोकोंसे निर्भयता की प्राप्ति हो। हमें अपने आगे, पीछे, ऊपर नीचे कहींसे भी भय न होवे।

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्। अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ अथर्व० का० १६

हे परमात्मन्, हमें मित्रसे भय न होवे, शत्रुसे भी भय न होवे। परिचित व्यक्तियों एवं वस्तुओंसे निर्भयता प्राप्त होवे। परोक्षमें भी हमारे लिये कुछ भय न होवे। हमें दिनमें, रातमें सभी समय निर्भयता रहे। किसी भी दिशामें हमारे लिए कोई भय का कारण न रहे। सर्वत्र हमारे मित्र ही मित्र होवें।

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्यो अभयं नः पशुभ्यः॥ यजु० ३६

हे परमात्मन्, जहां कहीं भी आपके सृष्टि रचना, धारण आदि कार्य हो रहे हैं वहां सब जगह हमको आप अभय कर दीजिये। हमें कहीं भी भय न होवे। मनुष्यमात्रसे हमारा कल्याण होवे। हमें पशुओं से भी निर्भय बना दीजिये जिससे हिंसक पशु भी हमें भय न दे सकें।

हे प्रभो, आप हमें ऐसा बना दीजिये कि मनुष्यमात्र का हम कल्याण कर सकें, किसी की बुराई नहीं। पशुओं तथा अन्य प्राणियों को भी हमसे कुछ भय न होवे। न हम किसीसे डरें और न स्वयं दूसरे को डरावें।

दृते दृ ꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥

यजु० ३६

हे भगवन् आप हमें ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करें कि जिससे हमें संसारके सारे प्राणी मित्र की दृष्टिसे देखें (अर्थात् अपना मित्र समझें)। हम भी दूसरे सारे प्राणिमात्र को मित्र की दृष्टिसे देखें। तथा हम सब परस्पर एक दूसरे को मित्रकी दृष्टिसे देखा करें। (यथार्थमें यदि कोई भी मनुष्य हमसे द्वेष करता है तो इसका कारण हमे अपनेमें ही खोजना चाहिये क्योंकि वही मनुष्य जो हमसे द्वेष करता है दूसरेसे प्रेम भी तो करता है। अतएव प्रेम की कमी उसमें नहीं है हम अपनी किसी कमीके कारण अपनेको उसके अनुकूल नहीं बना पाते हैं। हमे उस कमी को दूर करना चाहिये दूसरेसे कुढ़ने की आवश्यकता नहीं है। प्राणीमात्रके हित चाहने वाले, हिंसक पशुओं तक को अपने मित्र बना लेते हैं)।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

कानोंसे कल्याणमय शुभ शब्द ही सुनें, आंखोंसे कल्याणकारक दृश्य ही देखें। हमारे सारे अङ्ग प्रत्यङ्ग स्वस्थ और सबल रहें। हम ईश्वर, वेद एवं सत्पुरुषों की प्रशंसा करें और दीर्घ आयु प्राप्त कर उसे देवोंके हितमें लगावें। (अर्थात् अपनी आत्मा को उन्नत करें, अग्नि,

वायु आदि तत्त्वों का पूजन, सेवन और शोधन करें, विद्वानों का सत्कार एवं ईश्वरार्चन करें)।

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते स्वाहा ॥ यजु०

मुझे दो मैं तुम्हें दूँगा, मेरे पास रखो मैं तुम्हारे पास रखूंगा, मेरे यहांसे कुछ ले जाते हो, मैं तुम्हारे यहांसे कुछ ले आऊँगा।

मनुष्य का व्यवहार लेन-देन (आदान-प्रदान) पर ही निर्भर करता है। प्रभुने कितने सीधेसादे शब्दोंमें यह अमूल्य शिक्षा दी है। कोई भी मनुष्य अपनी सारी आवश्यकताएँ अपनेसे ही पूरी नहीं कर सकता है। प्रत्येक मनुष्य न तो सारे काम अपने से ही कर सकता है और न सारे पदार्थ एक ही मनुष्यके पास हो सकते हैं। अतएव आवश्यक है कि मनुष्यमात्र सहयोगितासे परस्परके कार्य एवं समाजके व्यवहार को चलायें अपने पास जो है मुक्त हस्तसे दूसरों को दें, जो अपने पास नहीं है वह दूसरोंसे ग्रहण करनेमें संकोच न करें। विद्वान अपनी विद्या, धनवाले अपने धन, एक दूसरे की सहायता और कल्याणके लिये देवें लेवें, बलवान अपने बलसे सबकी रक्षा करें, धन, बल, विद्या आदि साधन जिनके पास नहीं है वे शरीरसे ही समाज की सेवा करें और बदलेमें धन, विद्यादि साधन सम्पन्न मनुष्योंसे सहायता प्राप्त करें। यही वर्णव्यवस्था है, सारी मानवी उन्नति का मूल है।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजु०४०।२

निष्काम भावसे उत्तम कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीवित रहने की इच्छा करे (और उसके लिये प्रयत्न भी करे)। यही एकमात्र उपाय है कि जिससे मनुष्य कर्मबन्धनमें नहीं बंध सकता है। कारण, सकाम

कर्म अर्थात् ऐसे कर्म जो फल की आशासे किये जाते हैं उनके फल भोगनेके लिये शरीर धारण करना अनिवार्य है और इससे मनुष्य जन्म मरण के चक्रसे मुक्ति नहीं पा सकता। यथार्थ में ज्ञानपूर्वक अनासक्त भावसे कर्त्तव्य समझ कर ही पुरुषार्थ करनेवाला मनुष्य उत्तम गति को प्राप्त कर सकता है।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ यजु० ४०।१

सारे जगत्के प्रत्येक अणु परमाणुमें परमात्मा व्याप्त है, सब जगह वर्तमान है, मनुष्य उसी प्रभुके दिये हुए भोग्य पदार्थों का उपभोग कर रहा है। ऐसा समझते हुए किसी पदार्थसे अपनापन या ममत्व न जोड़कर एवं यथाशक्ति दूसरे को देकर मनुष्य सारे पदार्थों का भोग करे। अन्यायसे दूसरे की वस्तु लेने का यत्न न करे। अपने पुरुषार्थसे ही संतुष्ट रहे, दूसरेके धन पर मन न लगावे। (वेदोंमें सारे ऐश्वर्य प्राप्त कर उनके भोग करने की आज्ञा है परन्तु शर्त यही है कि मनुष्य उन्हें अपना न समझे, प्रभु का समझे, और प्रभु की संतान प्राणिमात्र के हितमें उस ऐश्वर्य को अर्पित करनेमें संकोच न करे, इसी भाव को ब्रह्मार्पण भी कहते हैं)

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥ यजु० ४०।३

घोर अन्धकारसे युक्त सूर्यके प्रकाशसे रहित लोकोंमें वे मनुष्य मरकर जाते हैं जो आत्मघाती हैं। आत्मघातीसे आत्महत्या करनेवाले— अपनी जान देनेवाले—लोग तो अभिप्रेत हैं ही क्योंकि वे समाजके बड़े प्रबल शत्रु हैं, जिनको अपनी आत्मासे प्रेम नहीं है वे संसारभर का अनिष्ट कर सकते हैं इसमें संदेह नहीं। आत्मघाती उन्हें भी कहते हैं

जो अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ के विरुद्ध आचरण करते हैं। यह सभी मनुष्यों का अनुभव है कि जो कार्य बुरे होते हैं उनके करनेमें आत्माके अन्दर ग्लानि, लज्जा, भय एवं निरुत्साहके भाव उदय होते हैं आत्मासे धिक्कार की आवाज आती है। अच्छे कर्मोंके करनेमें आनन्द, उत्साह, उमंगके भाव होते हैं। ऐसे कार्य तो करने योग्य हैं परन्तु पूर्वोक्त कार्य अर्थात् जिसके करनेमें आत्मग्लानि आदि होवे मनुष्य को कदापि नहीं करने चाहिये, यदि इतना ध्यानमें रखा जाय तो मनुष्य सारे पापोंसे बच सकता है।

मन्द्रा कृणुध्वं धिय आ तनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वम्।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः॥ ऋग्० १०

परमात्मा राष्ट्रके नेताओं को उपदेश देते हैं कि सब कोई सखा अर्थात् मित्रतायुक्त और एक समान ज्ञानवाले होवें, वे सभी उत्तम (ओजस्वी एवं सत्य और हितकर) भाषण करें, ज्ञान-विज्ञान का प्रसार करें, यातायात के लिए और युद्धके लिये भी सुन्दर मजबूत नौकाएँ बनावें। शत्रुसे राष्ट्र की रक्षाके लिये पूरा प्रबन्ध रखें। प्रत्येक मनुष्य भी अपनी आत्मरक्षा के साधनोंसे युक्त रहे। कृषि और वाणिज्य द्वारा अन्न की वृद्धि करें, दृढ़ शस्त्रास्त्र तैयार रखें जिससे समयानुसार शत्रुसे देश की रक्षा की जा सके एवं शासन की सुव्यवस्था रह सके। धन, बल, विद्या, विज्ञानादि द्वारा देश को आगे बढ़ावें, यज्ञ आदि सत्कर्मों की देशमें वृद्धि करें एवं सब प्रकारसे प्रजा का पालन करें।

स्थिरा वः सन्त्वायुधः पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥ ऋ० १।३६

ईश्वर उपदेश करते हैं कि हे राजपुरुषो तुम्हारे आग्नेय आदि अस्त्र और शतघ्नी अर्थात् तोप, भुशुण्डी अर्थात् बन्दूक तथा धनुष बाण तल-

धार आदि शस्त्रास्त्र आक्रमणकारी शत्रुओं को पराजित करने और उनसे स्व राष्ट्र की रक्षा करनेके लिए प्रशंसित और दृढ होवें तुम्हारी सेना विशाल और प्रशसनीय होवे कि जिससे तुम सदा विजयी रहो और शत्रु तुम्हारा बाल भी वांका न कर सके)। परन्तु जो निन्दित अन्याय रूप कर्म करनेवाले हैं उनके पूर्वोक्त वस्तु न होवें। (तात्पर्य यह है कि जब तक मनुष्य धार्मिक रहते हैं तभी तक राज्य बढ़ता है अर्थात् सब प्रकारसे उन्नति करता है और जब दुराचारी होते हैं तब नष्टभ्रष्ट हो जाता है। धर्मात्मा पुरुषोंके लिये प्रभु का यह आदेश भी इस मन्त्रमें है कि वे अन्यायी दुराचारी पुरुषों की शक्ति को कदापि न बढ़ने देवें। सब प्रकारसे अन्यायकारियोंके बल की हानि और न्यायकारी धर्मात्माओंके बल की उन्नति करनेमें ही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी अभिप्राय को भगवान कृष्णने गीतामें कहा है—

परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥

अर्थात् सज्जन धर्मात्मा पुरुषों की रक्षा और पापी दुराचारी लोगों के विनाश द्वारा धर्म की मर्यादा को स्थिर रखनेके लिये मैं बार-बार जन्म लेता हूं।)

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सु सहासति॥ ऋ० १०।१९१

तुम सबका ध्येय समान ही हो। तुम सबके हृदय समान हों, मन भी समान हों जिससे तुम सब की शक्ति उत्तम हो। सबके उद्देश्य, हृदयके भाव, मनके विचार एक होनेसे ही सबमें एकता होती है और संघ का बल बढ़ता है सबको सब प्रकार का उत्तम कल्याण प्राप्त होता है।

ईश्वरभक्ति

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१

जिसने परमात्मा का साक्षात्कार किया है वह मुक्त पुरुष कहता है कि मैं उस परम पुरुष परमात्मा को जानता हूं वह स्व प्रकाश स्वरूप है और अन्धकारसे सर्वथा पृथक् है। उस परमेश्वर को जानकर ही मनुष्य मृत्युके दुःखसे, आवागमनके चक्रसे, छूटकर अमृत हो सकता है—परम आनन्द की प्राप्तिके लिए और कोई दूसरा रास्ता नहीं है। भौतिक भोगोंमें सच्चा आनन्द नहीं है उनकी जितनी अधिक मात्रामें प्राप्ति होगी उतनी ही अधिक पाने की लालसा उदय होती जायगी और हाहाकार बढ़ता जायगा। इसलिये महर्षि कपिलने सांख्य दर्शनमें कहा है—"न दृष्टात्तत्सिद्धिर्निवृत्तेरप्यनुवृत्तिदर्शनात्"। अर्थात् इन्द्रियसे प्राप्त होनेयोग्य पदार्थोंसे दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति नहीं हो सकती है क्योंकि जैसे ही हम किसी अभिलषित पदार्थ को पा लेते हैं फिर हमें और पाने की इच्छा हो जाती है। उपनिषद् कहती है—'भूमावै तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सबसे अधिक में ही सुख है अल्पमें सुख कदापि नहीं हो सकता। परन्तु सांसारिक सुख भोग अल्प ही हो सकते हैं कारण संसार भर की सारी धन सम्पत्ति एक ही मनुष्यके पास सिमट कर नहीं आ सकती। यदि ऐसा करने का यत्न भी किया जाय कि दुनिया की सारी सम्पत्ति एक ही व्यक्ति ले लेवे तो संसारके अन्य लोग गरीबी और भूखमरीसे पीड़ित हो ऐसी हाय-हल्ला मचायेंगे कि उस सम्पत्तिवान् मनुष्य का अस्तित्व ही कायम न रह सकेगा। अतएव आनन्द निधान पूर्ण पुरुष की ही प्राप्तिसे संसारमें आनन्द का

स्रोत बह सकता है। उसे यदि एक मनुष्य प्राप्त कर ले तो दूसरेके लिए भी वह पूर्ण रूपसे ही शेष रहता है। "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"—पूर्णसे पूर्ण घटानेसे पूर्ण ही शेष रहता।) अतएव हम सबों को सच्चिदानन्द प्रभु की भक्तिसे ही सारे सुखों और सच्चे आनन्द की प्राप्ति हो सकती है, दूसरे उपायसे नहीं। इस हेतु हमारा सबसे बड़ा पुरुषार्थ उस प्रभु का भक्ति द्वारा प्राप्त करनेके लिए होना चाहिये। यही हमारा ध्येय होना चाहिये। संसारके और पदार्थ व्यवहारिक हैं अर्थात् शरीरयात्राके निर्वाहार्थ हैं और उसी विचारसे उनका धर्मपूर्वक संग्रह करना योग्य है। सांसारिक पदार्थोंके उपार्जनमें किंवा परिवार आदिके पालनमें हमें परमात्मा को कदापि नहीं भूल जाना चाहिये। उन सारे व्यवहारों को परमात्मा की आज्ञा समझकर उसकी आज्ञा पालन रूप आराधना करनेके विचारसे ही करना चाहिये। ऐसे मनुष्य जनक याज्ञवल्क्य आदि की तरह गृहस्थाश्रमके सारे कार्य सम्पादन करते हुए भी प्रभु को प्राप्त होते और परमानन्द तक की प्राप्ति करते हैं।

कठोपनिषत्में कहा है—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

जो दुश्चरित्र अर्थात् बुरे आचरणोंसे विरत नहीं हैं, जो शान्त और एकाग्र चित्त नहीं तथा जिनका मन अशान्त है वे संन्यास लेकर या ज्ञान-विज्ञान आदिके द्वारा उस आनन्दनिधान परमात्मा को नहीं प्राप्त कर सकते।

मुण्डक उपनिषत्में लिखा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्॥

वह प्रभु परमात्मा वेदादि शास्त्रोंके बहुत पढ़नेसे या मेधा अर्थात् अर्थों को धारण करने की शक्ति किंवा बहुत उपदेश श्रवणसे भी प्राप्त नहीं हो सकता। उस प्रभुके प्राप्त करने की जिसमें उत्कट अभिलाषा है—जिसने उस प्रभु को ही वरण कर लिया है और उसकी प्राप्तिके विना जिसको चैन नहीं है वही उस परमात्मा को पा सकता है। ऐसे उपासकके समीप प्रभु अपने स्वरूप को प्रकाश करते हैं, उसे दर्शन देते हैं। अर्थात् वही अनन्य उपासक आत्मदर्शी—परमात्मा का साक्षात्कार करनेवाला—होता है।

इस उपनिषद् वाक्यमें वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय, उपदेश श्रवण या मेधा शक्ति की निन्दा का भाव नहीं है। उनकी अनावश्यकता इससे सिद्ध नहीं होती। वे तो नितान्त आवश्यक हैं उनके विना प्रभु के स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता और बिना प्रभु की महिमा को भली भांति जाने ईश्वरमें प्रीति होनी कठिन है। इसलिये वेदादि के ज्ञान एवं उपदेश श्रवण और मेधा आदि की आवश्यकता तो है ही, ये सब प्रभु की प्राप्तिमें साधक ही हैं, बाधक कदापि नहीं। परन्तु जो अपनी विद्या आदि को सबकुछ समझ लेते हैं प्रभु की भक्ति नहीं करते वे केवलमात्र विद्या आदिसे ही ईश्वर को प्राप्त कर परमानन्द की प्राप्ति नहीं कर सकते यह ध्रुव सत्य है। हमारा पुत्र दिनको बाहर गया, रात में बड़ी देर तक नहीं लौटा, हमको कितनी बेचैनी होती—उसके लिये कितनी पूछताछ दौड़धूप करते, जबतक नहीं मिलता खाना-पीना हमें नहीं सुहाता। उसके वियोगमें हम कितने तड़पते हैं। उसी तरह की या उससे भी अधिक उत्कट लालसा वैसी ही तड़प जब हम प्रभुके वियोगमें अनुभव करेंगे, प्रभु तभी मिल सकते। हम केवल कुछ पढ़कर, कुछ स्तुतिके मंत्र बोलकर या तोतारटन्त की तरह कुछ शब्दों

को दुहरा कर ही अपने को कृतार्थ न समझें। हमें प्रभुके लिए हृदय की लगन होनी चाहिये। यही इस उपनिषद् वाक्य की शिक्षा है।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

वह प्रभु परमात्मा बलहीनोंके द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रमादी अर्थात् सांसारिक विषय भोगमें फँसे हुए—स्त्री पुत्रादि की ममतामें आसक्त -अपने कर्त्तव्यपथसे च्युत मनुष्य भी उसे नहीं पा सकते। विना वैराग्यके ज्ञानसे भी प्रभु नहीं मिल सकता। बल, ज्ञान, वैराग्य एवं सच्ची लगनके साथ जो परमात्मा की प्राप्तिके लिये यत्नवान होता है उसी की आत्मा ब्रह्मधाम—परमपद—को पाती है।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

वह प्रभु नेत्रसे, वाणीसे, किंवा अन्य श्रोत्र स्पर्श आदि इन्द्रियों द्वारा नहीं जाना जा सकता है। केवलमात्र कष्ट सहिष्णुता अथवा अग्निहोत्र आदि कर्म भी उसकी प्राप्तिके साधन नहीं हो सकते। ज्ञान की ज्योतिसे जिसके अन्तःकरण निर्मल हो गए हैं वही समाधिस्थ होकर उस निरवयव परमपुरुष का साक्षात्कार अपनी आत्माके द्वारा कर सकता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥

परमात्मा सत्य, तप, यथार्थ ज्ञान एवं ब्रह्मचर्यके द्वारा ही प्राप्त होता है। सभी दोषों एवं दुर्गुणोंसे रहित आत्मसंयमी पुरुष उपरिलिखित साधनोंके द्वारा उस दिव्य ज्योति का दर्शन अपने शरीरस्थित हृदय मन्दिरमें ही कर लेते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।
येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत्सत्यस्य परमं निधानम्॥

सत्य की ही सदा विजय होती है, असत्य की नहीं। सत्यके द्वारा ही विद्वानों का मार्ग विस्तृत होता है। उसी सत्य मार्गसे माया, शठता, दंभ, अनृत आदिसे शून्य तृष्णारहित ज्ञानी पुरुष उस सत्यके निधान परमात्मा की प्राप्ति करते हैं।

ईश्वरप्राप्ति का एकमात्र साधन ईश्वरभक्ति है यदि ऐसा कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। परन्तु भक्ति शब्द का अर्थ समझना चाहिए। भक्ति शब्द 'भज् सेवायाम्' इस धातुसे बना है इसलिए 'भक्ति' का अर्थ है 'सेवा'। मनुष्य अपने स्वामी की आज्ञा पालन करने से सच्चा सेवक या भक्त कहा जा सकता है। अतएव परमात्मा के आज्ञा-पालक ही प्रभुभक्त कहलानेके अधिकारी हैं। परमात्मा की आज्ञा क्या है यह हम कैसे जानें, यह प्रश्न होता है। तो परमात्मा की आज्ञा वेदोंमें मौजूद है। वेद को परमात्मा की वाणी सनातनसे कहा गया है। सारे प्राचीन आचार्य, ऋषि-मुनि, धर्मशास्त्र, पुराण आदि इसमें एक मत हैं। वेद भगवान् स्वयं कहते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ यजु० अ० ३१

अर्थात् उसी यज्ञरूप परम पूजनीय परमात्मासे ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। यजुर्वेद के २६ वें अध्याय का दूसरा मन्त्र यह घोषणा कर रहा है कि—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय स्वाय चारणाय॥

अर्थात् मैं (परमात्मा) इस कल्याणी वेदवाणी का उपदेश मनुष्य

मात्र (स्त्री पुरुष सब) के लिये कर रहा हूं। ब्राह्मणों और क्षत्रियोंके लिए, शूद्रों और वैश्यके लिए, जंगली मनुष्य आदि अपनी समस्त प्रजाके लिए। (इस मन्त्रसे यह भी सिद्ध होता है कि स्त्रियां वेद न पढ़ें, शूद्र को वेदाधिकार नहीं है यह सब झगड़ा निर्मूल है। यह हो भी कैसे सकता है ? जब परमात्माके बनाये सूर्य चन्द्रादि सबको प्रकाश देते, पृथिवी सब को धारण करती, जल वायु आदि सबको प्राण देते तो प्रभु की कल्याणी वाणीसे मनुष्य का कोई वर्ग कैसे वंचित किया जा सकता है ?)

अतएव वेदाज्ञा का पालन प्रभुकी आज्ञा का पालन अथवा भक्ति है। इसलिए वेदों के अभ्यास को मनु आदि महर्षियोंने परम तप बतलाया है। इसीके लिए सत्संग अतिथि सत्कार आदि की महिमा है कि उनके द्वारा गृहस्थों को वेदोंके उपदेश श्रवण करनेमें सुविधा रहेगी। इसी लिए स्वाध्याय को इतना महत्त्व दिया गया है।

प्रभु की आज्ञा क्या है यह हम शरीरको बनावट को भी देखकर जान सकते हैं। प्रभुने हमें ज्ञान की इन्द्रियां दी हैं, इससे स्पष्ट है कि प्रभु की आज्ञा है कि हम ज्ञान प्राप्त करें कूपमण्डूक न बने रहें। प्रभुने हमें हाथ, पांव, वाणी आदि कर्मेन्द्रियां दी हैं प्रभु की आज्ञा है कि हम सत्कर्म करें, सत्य, हित और मित (नपी तुली हुई) वाणी बोलें, गृहस्थाश्रम की मर्यादा के साथ पालन कर योग्य सन्तान पैदा करें और देश, धर्म, या संसारके प्राणिमात्र की अधिकसे अधिक सेवा करनेके लिए अपने प्रतिनिधिके रूपमें योग्य सेवक देवें। परमेश्वर ने हमें हृदय दिया है हम प्रभुसे प्रेम करें, प्रभु की सन्तान प्राणिमात्रसे प्रेम करें, यही प्रभु की आज्ञा है। अतएव सारांश यह कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति,

सत्कर्मों का अनुष्ठान, और विश्वप्रेम (या प्रभु प्रेम) करने की प्रभु की आज्ञा को पालन करनेवाला ही प्रभुभक्त है।

प्रभु की आज्ञा हमारी अन्तरात्मामें प्रतिक्षण स्फुरित होती रहती है। हम जितने भी कर्म करते हैं वा करना चाहते हैं वे दो ही प्रकारके तो हैं। एक तो वे जिनके करनेके भाव ही मनमें आते आनन्द, उत्साह और निर्भयता के भाव आते हैं। ऐसे भाव परमात्मा की ओरसे ही आते हैं अतएव ऐसे कर्म करने की प्रभु की आज्ञा है यह समझना चाहिये। निन्दनीय कर्म करनेमें लज्जा, ग्लानि और भयके भाव उदय होते हैं। वे कर्म त्याज्य हैं।

प्रभु को प्राप्त करना है, उसकी उपासना करनी (उप-समीप आसन-बैठना) है। अब विचार करना चाहिये कि किसीके समीप जाने या बैठनेमें हमें क्या करना चाहिये। हम बड़े साहिबसे मिलना चाहते हैं। उसके लिये हम कितनी तैयारी करते हैं। हम हजामत करते क्योंकि साहिब को बढ़ी दाढ़ी पसन्द नहीं है, हम धुले कपड़े पहनते, जूते में पालिश लगाते, नाना प्रकारसे सुसज्जित होते हैं केवल इसलिए कि साहिब को हमारी आकृति, प्रकृति, वेशभूषा किसी भी वस्तुमें हमारी गन्दगी नहीं दिखाई पड़े। एक साधारण मनुष्यसे मिलनेमें जब इतनी सतर्कता की आवश्यकता है, पवित्रता और श्रेष्ठता की आवश्यकता है तो उस प्रभुसे मिलनेके लिये जो प्रभु स्वरूपतः सत्यं, शिवं, सुन्दरं है, जो हमारे भीतर बाहर सबकुछ देख सकता है हमें भीतर बाहरके समस्त मलों को, बुराइयों को, दुर्गुणों को, निकाल फेंकना होगा ही। हमें स्वतः सत्य शिव (कल्याणकारी प्राणिमात्र का हितचिन्तक) एवं सुन्दर (मन, वचन, कर्मसे पवित्र, शरीर एवं आत्माके दोषोंसे पृथक्) होना ही होगा। हम बगुला भगत बनकर ('हाथ सुमरनी बगल कतरनी'

रखकर) प्रभु भक्ति का दिखावा करके · ला नहीं दे सकते। इसलिए उपनिषद् पुकार कर कह रही है कि दुश्चरितसे जो पृथक् नहीं हैं वे प्रभु को कदापि प्राप्त नहीं कर सकते (ऊपर उपनिषद् का श्लोक लिखा गया है-) । यदि हम ऐसा समझते हैं कि दुनिया भर की सारी चालाकी और चालबाजी चलते रहें उनको छोड़ने की आवश्यकता नहीं है, कुछ समय तक माला लेकर राम-राम जप लेंगे बस पर्याप्त है, राम भी मिले गुलछर्रे भी रहें, तो हम बिल्कुल भूल कर रहे हैं। अपने दुष्कर्मोंसे हमें ग्लानि होनी चाहिये, हमें अपने अशुभ कर्मोंके लिये पश्चात्ताप करना चाहिये और उन्हें छोड़कर शुद्ध हृदयसे प्रभु की शरणमें आना चाहिये। प्रभु हमें अवश्य अपनी शरणमें लेंगे। इसमें सन्देह नहीं।

गीताके १८ वें अध्यायमें भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

जो प्रभु सारे विश्व ब्रह्माण्ड को निर्माण कर चराचर जगत् का धारण और पालन अपने अतुल सामर्थ्यसे कर रहा है उसकी पूजा मनुष्य अपने कर्मों द्वारा ही करके सिद्धि प्राप्त करता है।

यह श्लोक स्पष्ट रूपसे बतला रहा है कि अपने- अपने गुण और स्वभावके अनुसार जिस कर्म को भी मनुष्यने अपने लिए चुन लिया है या जो कर्त्तव्य उसके ऊपर आ पड़ा है उसको योगयुक्त होकर अर्थात् निपुणता और सुन्दरताके साथ) कर्त्तव्य भावनासे (फल की कामना को त्यागकर) करना ही ईश्वर की पूजा है। ईश्वर पूजासे जो सिद्धि प्राप्त हो सकती है वह सिद्धि मनुष्यमात्र को अपने कर्मके अनुष्ठान द्वारा मिलती है।

वास्तवमें ईश्वर कोई राजा, महाराज या सेठ साहूकार आदि

साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं कि उसकी भक्ति का दम भरनेवाला मनुष्य अपने कर्मों को न करके केवल उसकी प्रशंसा या चाटुकारी ही करता रहे और ईश्वर प्रसन्न हो जाय। हम उस सेवक को क्या कहेंगे जो हमारा कहा तो कुछ माने नहीं, जो काम उसके लिए निर्धारित किये गये हैं वह बिल्कुल करे ही नहीं, या करे भी तो अधूरा या बेमनसे, और मालाके दानों पर हमारे नाम गिनता रहे या शेखचिल्लीके जैसा बैठा-बैठा हमारी तारीफके पुल बांधता रहे ?

काम कोई भी छोटा या नीच नहीं है। नीचता है हिंसा, परद्रोह असत्य, जुआ, छल, कपट पुरुपार्थहीनता आदिमें। खेती, वाणिज्य व्यवसाय, सेवा, राज्य पालन आदि जो काम भी हमको करना पड़ रहा है सभी समान रूपसे ईश्वर तक पहुंचानेवाले हैं यदि उनको हम स्वार्थ बुद्धिसे रहित होकर, उनके फल ईश्वर को अर्पण करके, ईमानदारी और खूबीसे करते हैं, उनके करनेमें आलस्य या प्रमाद नहीं करते और हानि लाभमें न घबराते और न इठलाते हैं। हम पिता हैं तो पुत्र का लालन-पालन इस बुद्धिसे करें कि यह पिता का कर्त्तव्य है, इस बुद्धिसे नहीं कि पुत्र हमें कमाकर खिलायेगा। हम दूकानदार हैं तो हम पुरुषार्थसे अपने ग्राहकोंके लिए माल लाकर उन्हें देंगे और अपनी जीविकाके लिए उस पर उचित अनुपातमें लाभ अवश्य लेंगे। यह सर्वथा न्यायोचित और धर्मानुकूल है और इससे हमें ईश्वर की प्राप्ति अवश्य होगी यदि हम इसमें छल-कपट का प्रयोग नहीं करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि पढ़ाने, लिखाने, उपदेश देने, शासन करने या व्यापार करने के कार्य ही महत्त्वपूर्ण हैं। जूते बनाकर या सड़कों पर झाड़ू लगा कर जीविका करनेवाला भी यदि सत्यवादी और सत्यकारी है और अपने परिश्रम की रोटी ही खाने का दृढ़ संकल्प रखता है तो वह गीता

के उपदेशानुसार अवश्य सिद्धि को प्राप्त करेगा। वह तथाकथित उत्तम वर्णवालोंसे श्रेष्ठ और माननीय है जिनके सम्बन्धमें कविवर मैथिलीशरण गुप्तने कहा है—

निश्चित नहीं दृग बन्द कर वे लीन हैं भगवानमें।
या दक्षिणा की मंजु मुद्रा देखते हैं ध्यानमें॥

जनता जनार्दन की सेवा या यों कहिये कि प्राणिमात्र की सेवा ही परमात्मा की सेवा या सच्ची ईश्वर भक्ति है, यह सिद्धान्त भी अकाट्य है। सर्व-शक्तिमान्, सर्व व्यापक, सच्चिदानन्द, हिरण्यगर्भ, आप्तकाम प्रभु को क्या कमी है कि हम उसको कुछ दे सकते हैं? ऋग्० १।१६४. में कहा है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥

मिले-जुले हुए (व्याप्य व्यापक होनेसे) दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही वृक्ष (प्रकृतिरूपी) पर साथ-साथ रहते हैं (प्रकृतिके बने पृथिवी आदि में जीवात्मा का निवास है ही, परमात्मा सर्व व्यापक होनेके कारण वहाँ वर्त्तमान है) उनमेंसे एक (अर्थात् जीवात्मा) वृक्षके स्वादु फल का (प्राकृतिक भोगों का) उपभोग करता है। दूसरा (परमात्मा) उस फल को नहीं खाता हुआ प्रकाशमान होता है।

परमात्मा हमारा पिता है, सारे प्राणिमात्र का भी पिता है। हम प्रभुके अमृत पुत्र हैं—बड़े लड़के हैं—ऐसा वेद भगवान् कहते हैं। साधारण मनुष्य भी पिता होने की अवस्थामें अपने खाने की विशेष चिन्ता न कर अपनी सन्तान को ही खिलाने की चिन्ता करता है अपनी सन्तानोंमें परस्पर मेलजोल और प्रेम देखना चाहता है। पिता

की यह हार्दिक इच्छा रहती है कि हमारे पुत्र-पुत्रियाँ आपसमें लड़ें नहीं सब एक दूसरे की सहायता करें, और बड़े लड़कों पर तो अपने छोटे भाई बहिनों को देखरेख, सेवा सँभाल का विशेष उत्तरदायित्व देता है, और उस उत्तरदायित्वके सुन्दर रीतिसे निवाहने पर उसकी बड़ी प्रसन्नता होती है। ऐसी अवस्थामें, इसमें तनिक संदेह नहीं कि परमपिता परमात्मा की प्रसन्नता—उसकी भक्ति का वरदान—हम तभी लाभ कर सकते हैं जब हम अपने छोटे भाई, अपनेसे कमजोर मनुष्यों एवं अन्य प्राणियों, की भरपूर सेवा और मदद करें। हम किसीको अछूत, किसीको अन्य प्रकारसे घृणित अथवा उपेक्षा के योग्य समझें और उनके सुखदुःख की जरा भी परवा न करें और परमात्मा को भोग लगाने और खिलाने-पिलानेमें बड़ी धूमधाम करें तो इससे बढ़कर उलटी समझ क्या हो सकती है? जनता की सेवा, दीनों और आर्त्तों की रक्षा और सहायता ही परमात्मा का सच्चा भोग है। यही गीताके शब्दों में ब्रह्मार्पण है, ब्रह्महवि है और ब्रह्म की प्राप्ति का वास्तविक साधन है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ गीता अ० ४

क्या हम उस मनुष्य को अपना भक्त या प्रेमी समझ सकते हैं जो हमें खोजता हुआ बड़ी दूरसे आवे, हमारे लिए बड़ी सुन्दर मिठाइयाँ और स्वादिष्ट फल लावे और हमारे नन्हेंसे बच्चे को देखते ही ढकेल देवे या उसके मुँहपर तमाचे लगादे? अतएव यदि हम प्रभुप्रेमके प्यासे हैं तो प्रभु की सन्तान प्राणिमात्रसे प्रेम करना सीखें।

मनुष्यमात्र या प्राणिमात्र की सेवा करने का सबसे अधिक सुयोग या साधन गृहस्थ आश्रममें ही मनुष्य पा सकता है इसी आश्रममें धनोपार्जन किया जा सकता है जिससे औरों का भरण-पोषण किया

जा सकता है। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास ये तीन आश्रम गृहस्थ के ऊपर ही अपनी निर्वाह के लिए आश्रय करते हैं। बलिवैश्वदेव आदिके द्वारा पशुपक्षियोंके पालन करने का भी उत्तरदायित्व गृहस्थके ऊपर ही है। अतएव जो गृहस्थ अपने कर्त्तव्य का पूर्णरूपसे पालन करते हैं वह जनक याज्ञवल्क्य आदि गृहस्थ धर्मावलम्बियों की तरह जीवन्मुक्त होने की योग्यता प्राप्त करते हैं।

यज्ञ

यजुर्वेद अध्याय ३१ (पुरुष सूक्त) का निम्नलिखित प्रसिद्ध मंत्र यह शिक्षा अनादिकालसे दे रहा है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
तेह नाकं महिमान सचन्त यत्र पूर्वे साध्या सन्ति देवा ॥

विद्वान् ज्ञानी पुरुष इस परम पूजनीय प्रभु की पूजा अपने सत्कर्म-रूप यज्ञ द्वारा ही करते हैं। वही यज्ञरूप कर्म मनुष्यमात्रके लिए सबसे बडा धर्म है। इसीके द्वारा हमारे साधक और सिद्ध पूर्वज ऋषि महर्षि पिता पितामह आदि प्राचीनकालमें परमानन्द की प्राप्ति करते रहे हैं। इसी यज्ञानुष्ठान परोपकारादि सत्कर्मके द्वारा हम अभी भी सारे सुख और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं।

यज्ञ क्या है इस सम्बन्धमे इसके पूर्व इसी पुस्तकमे कई स्थलों पर संक्षेपसे लिखा जा चुका है। यहाँ पर हम इस सम्बन्धमें कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

जैसा पहले कहा जा चुका है यज्ञ शब्द यज् धातुसे 'न' प्रत्यय लगा कर बनता है। यज् धातुके तीन अर्थ होते हैं। (१) देवपूजा (२) संग-तिकरण (३) दान। इसीलिये यज्ञके भी ये ही तीन अर्थ होंगे यत यज्ञ शब्द यज् धातुसे बनी हुई भाववाचक संज्ञा है। सबसे पहले हमें देव

शब्दके अर्थों पर विचार करना चाहिये। वैदिक शब्दोंके प्राचीन व्याख्याता महर्षि यास्कने निरुक्तमें देव शब्दकी निरुक्ति यों की है—

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ॥

अर्थात् (दान) देनेके कारण, (दीपन) प्रकाश देने के कारण, (द्योतन) शिक्षा उपदेश आदि देनेके कारण तथा (द्युस्थान) सूर्यादि प्रकाशमान लोकों का प्रकाशक एवं द्युलोक, अन्तरिक्ष आदि समस्त विश्व ब्रह्माण्डमें व्यापक होनेके कारण ही देव नाम होता है।

अतएव जिनसे किसी प्रकार का भी दान औरों को प्राप्त होता है, जो दाता हैं दूसरों को देकर ही बचे हुए पदार्थ स्वयं भोगनेवाले हैं वे भी देव कहलानेके अधिकारी हैं। इसके विपरीत असुर या राक्षस वे हैं जो येनकेन प्रकारेण अपने पेट पालन की ही चिन्तामें हैं दूसरे चाहे उनके चलते जो भी दुःख भोगें उनकी लेशमात्र भी परवाह उनको नहीं है। शिक्षा या उपदेश देकर जो दूसरोंके अज्ञान अन्धकार को दूर करते हैं, असत् मार्ग पर चलनेवालों को जो सीधे सच्चे अच्छे रास्ते पर लाने का यत्न उपदेशादि द्वारा करते हैं वे सभी धर्मात्मा, विद्वान्, संन्यासी सत्योपदेष्टा महानुभाव भी निरुक्तकारके मतानुसार देव हैं। इसी लिये शतपथ ब्राह्मणमें कहा गया है—

'विद्वांसो हि देवाः'

अर्थात् विद्वान लोग ही देव हैं। विद्वान्से उन्हीं विद्वान् का ग्रहण करना योग्य है जो परोपकारी हैं और अपनी विद्वत्ता को दूसरोंके कल्याणके लिए लगाते हैं। स्वार्थी, उदरम्भरि विद्वान् होने परभी देव नहीं कहे जा सकते। कारण उनसे संसारका कोई लाभ नहीं होता।

प्रकाश देनेके कारण सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, अग्नि, विद्युत् आदि देव या देवता हैं—यजुर्वेद अध्याय १४ में आता है—

अग्निर्देवता वातोदेवता सूर्योदेवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवतादित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता ॥

सूर्यादि प्रकाशमान ज्योतिपुञ्जों का प्रकाशक सर्वव्यापक परमात्मा तो सर्वोपरि देव, देवों का देव, महादेव है ही।

ऊपरके लिखे निरुक्त वाक्यके अनुसार जो चार अर्थ देव शब्दके हैं वे ही देवता शब्दके भी हैं। देव और देवता दोनों पर्यायवाची शब्द हैं क्योंकि देव शब्दमें स्वार्थ तल् प्रत्यय लगानेसे देवता शब्द बनता है)। इन चार अर्थोंसे यह स्पष्ट है कि देव या देवता जड़ और चेतन दोनों ही प्रकारके होते हैं।

वेदमें स्थान-स्थान पर ३३ देवोंके उल्लेख हैं। यथा—

यस्य त्रयस्त्रिंशद् वा अंगे गात्रा विभेजिरे।

तान्वै त्रयस्त्रिंशद् वानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ अथ० १०।७।२७

जिसके सहारे तेंतीस देवता अपनी सत्ता लाभ करते हैं उन तेंतीस देवों को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जानते हैं।

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अंगे सर्वे समाहिताः।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ अथर्व १०।७।१३

जिसके शरीरमें सब तेंतीस देव मिलकर रहते हैं वही सबका आधारस्तम्भ है, हे मनुष्य, ऐसा तू कह, वही आनन्दमय है।

शतपथ ब्राह्मण जो यजुर्वेद का ब्राह्मण (अर्थात् व्याख्यान ग्रन्थ) है उसके काण्ड १४, ब्राह्मण ५.में तेंतीस देवताओंके नाम गिनाये हैं। वहाँ पर बतलाया है तेंतीस देव हैं—

आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति—

वसु नाम इसलिये है कि वसु प्राणियोंके निवासस्थान हैं। इनमें प्राणियों का वास है। शतपथ ब्राह्मण कहता है—

'एतेषु हीदं सर्वं हितमिति तस्माद् वसव इति'

स्वामी शंकराचार्यने बृहदारण्यक उपनिषद् में इसका भाष्य करते हुए लिखा है—

'ते यस्माद् वासयन्ति तस्माद् वसव इति'

चूंकि ये बसाते हैं इसलिए ये वसु हैं। वे आठ वसु हैं पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और नक्षत्र।

रुद्र नामकी व्याख्यामें शतपथ ब्राह्मण कहता है—'यदाऽस्माच्छरीरान्मर्त्यादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति' मरणशील मनुष्यादिके शरीरोंसे निकलते हुए जो रुलाते हैं वे ही रुद्र हैं। 'तद् यद् रोदयन्ति तस्माद् रुद्रा इति'।

जिस कारण ये रुलाते हैं इसी कारण ये रुद्र कहलाते हैं। वे रुद्र कौन हैं—'दशेमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः' शरीरके दस प्राण वायु, यथा प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, ग्यारहवाँ जीवात्मा। जब ये शरीरसे निकलते हैं अर्थात् मनुष्य की मृत्यु होती है तो उसके आत्मीय, स्वजन, मित्रादि रोते हैं।

आदित्य शब्द की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण करता है—'एते हीदं सर्वमाददाना यन्ति ते यदिदं सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति' चूँकि ये अपने साथ सबों को लिये जाते हैं इसलिये ये आदित्य हैं। वे १२ आदित्य हैं वर्षके १२ मास चैत्र, वैशाख, आदि। समयके ये विभाग हमें अपने साथ लिये जा रहे हैं। एक मास बीतता है और हम मृत्युके एक मास समीप हो जाते हैं।

आठ वसु, ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य, ये हुए ३१ देव।

बत्तीसवां देवता है इन्द्र। इन्द्रके अर्थ वैदिक साहित्यमें परमात्मा, जीवात्मा आदि कई हैं। परन्तु इस प्रकरणमें इन्द्र का अर्थ शतपथ ब्राह्मणमें विद्युत् या बिजली किया है। ३३ वां प्रजापति का अर्थ यज्ञ, या पशु किया गया है। देव शब्द इन्द्रियोंके लिये भी प्रयुक्त हुआ है। यजुर्वेदके चालीसवें अध्यायमें कहा है 'नैनद्देवा आप्नुवन्' अर्थात् इस परमात्मा को इन्द्रियां नहीं प्राप्त कर सकती हैं। परमात्मा की प्राप्ति चक्षु, श्रोत्र, आदि बाहरी इन्द्रियों द्वारा नहीं हो सकती।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वर्षके विभिन्न मास, शरीरके प्राणवायु, जीवात्मा, विद्युत्, पशु, इन्द्रिय, विद्वान्, दानी, उपदेशक, शिक्षक, प्रभु परमात्मा ये सब देवता हैं। इन सबों की पूजा, देव पूजा है जो यज्ञ शब्द का पहला अर्थ है।

पूजा कहते हैं अनुकूल आचरण को। हमारी पूजा उसी कर्मसे हो सकती है जो हमें अच्छा लगे। हमें अजीर्ण हो, हमें भोजनके नामसे ही वमन हो, उस समय नाना प्रकारके सुस्वादु पकवान हमारी तुष्टि या पूजाके साधन नहीं हो सकते। चन्दन लेपन, शीतल जलसे स्नान आदि शीतोपचार जेठ के दोपहर की भीषण तापके समय तो हमारी तृप्तिके साधन अवश्य होंगे परन्तु वे ही माघ मास की मध्य रात्रिमें हमारे लिए असीम कष्टके देनेवाले होंगे। उस समय तो हमारी पूजा आग की अँगीठी जलाकर, कम्बल आदि देकर की जा सकती है। उसी प्रकार गौ की पूजा चारा, घास आदिसे होगी मालपूआ, मोहनभोग और लड्डूसे नहीं। इसलिए कहावत है 'जैसे देवता वैसी पूजा'। हम किसीकी पूजा इसलिये करते हैं कि वह हम पर प्रसन्न हो। किसी की प्रसन्नता की पहचान इसीमें है कि उससे हमारा कल्याण हो।

हमारे साथ यदि कोई ऐसा आचारण करता है जिससे हमारी क्षति होती है तो हम कदापि ऐसा नहीं कह सकते कि वह हमपर प्रसन्न है। प्रसन्न, मनुष्य आदि चेतन प्राणी हो सकते हैं यह तो सभी जानते हैं जड़ पदार्थों की प्रसन्नता भी होती है। संस्कृतमें कहा जाता है 'प्रसन्न नभः' अर्थात् आकाश प्रसन्न है। प्रसन्न आकाश कहनेसे अभिप्राय यह होता है कि आकाश निर्मल है, मेघसे आच्छादित नहीं है, उससे वज्रपातका भय नहीं है, उसे देखकर नेत्रों को प्रसन्नता होती है इत्यादि।

ऊपर लिखे सारे देवताओं की प्रसन्नता सम्पादनके लिए उनकी पूजा करना अर्थात् उनके साथ ऐसा उपचार करना कि उनसे हमारा कल्याण हो इसीका नाम यज्ञ है। अब हम अग्नि, वायु, पृथिवी, आकाश, जल, सूर्य, चन्द्र आदि की पूजा, अपने शरीरके प्राण वायु, आत्मा आदि की पूजा, पशुओं की पूजा, सबों की पूजा, उनके अनुकूलता सम्पादन द्वारा ही कर सकते हैं। वायुको, जलको, आकाश और चन्द्रमा सूर्यादि को हम कोई नैवेद्य उन तक सीधे नहीं पहुंचा सकते। उन तक अपनी भेंट पहुंचानेके लिए हमें किसी एक योग्य दूत की आवश्यकता है। वह दूत कौन है ? वेद इस सम्बन्धमें कहते हैं—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे ।
देवां आसादयादिह ॥

वह दूत अग्नि ही है वही देवताओं का भाग (अर्थात् हव्य) उन तक पहुंचानेवाला है। वही अग्निदूत हमारा पूजोपकरण देवों तक पहुंचायेगा।

देवोंको हमें खिलाना है। कोई भी हो मुंहसे ही तो खायगा। देवों का मुंह है अग्नि। कहा है—'अग्निमुखाः वै देवाः' अर्थात् देव अग्निरूप मुखवाले हैं। अग्निमें आहुति डालिये देवों का भाग डालिये सारे देवों

को पहुंच जायगी। सारे देवों की प्रसन्नता हो जायगी। मनु महाराजने कहा है—

> अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
> आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

अग्निमें डाली हुई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है। सूर्य से वृष्टि होती है। वृष्टि से अन्न और अन्नसे प्राणियों की उत्पत्ति, उनका धारण और पालन होता है।

अग्निदेव ही एक ऐसा तत्त्व है जो सत्त्वगुणविशिष्ट है। इसकी गति सदा ही ऊपर की ओर होती है जो सत्त्वगुण का प्रधान लक्षण है। अग्नि की शिखा को जितना ही नीचे गिराया जाय उतना ही वह ऊँची उठेगी। इसी हेतु अग्निके नाम हैं ऊर्ध्वज्वलन (ऊपर जलनेवाला) तनूनपात (अपने शरीर को नीचे न गिरानेवाला)। मध्यमें रहना राजस गुण है और नीचे गिरना तमोगुण का लक्षण है, जैसा भगवान् कृष्ण गीतामें कहते हैं।

> ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
> जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः॥

तत्त्वोंमें वायु राजस तत्त्व है, यह मध्यमें रहता है। न ऊँचे और न नीचे। वैज्ञानिक कहते हैं कि वायु पृथिवीतलसे प्रायः चालीस मील की दूरी तक है। उससे ऊपर नहीं। यही कारण है कि वायुयान आदि के द्वारा बहुत ऊँचाई तक नहीं जा सकते और पृथिवीसे जितना ही ऊँचा उठा जाय उतनी ही वायु हल्की और विरल होती जायगी और मनुष्य को सांसके लिए वायु नहीं मिल सकेगी।

पृथिवी और जल तमोगुणी तत्त्व हैं। उनका स्वभाव नीचे गिरने

का है। मिट्टीके ढेले को बड़े वेगसे ऊपर फेंका जाय, जब तक फेंकनेवाले व्यक्ति की शक्ति उसमें काम करती रहेगी वह ऊपर जायगा। बाहरी शक्ति का प्रभाव समाप्त होते ही वह नीचे गिर जायगा। जलको बाहरी शक्ति लगाकर नलके द्वारा ऊपर चढ़ाया जाता है फिर नीचे ही चला आता है। जलका बहाव सदा नीचेकी ओर ही होता है।

स्वयं पवित्रस्वरूप और अन्यों को पवित्र करने की सत्त्वगुणी प्रकृति भी अग्निमें सबसे अधिक है। अग्निमें कुछ भी पड़े अग्नि सबको आत्मसात् कर अपने स्वरूपमें लेशमात्र भी विकार नहीं आने देता स्वयं पवित्र का पवित्र ही रहता है। सारे अशुद्ध पदार्थ इसमें पड़कर अपनी अशुद्धि छोड़ देते, शुद्ध हो जाते हैं। इसी कारण सुवर्ण आदि धातुओं का मल दूर करनेके लिये उन्हें अग्नि की कड़ी आँचमें तपाते हैं।

जिस प्रकार तत्वोंमें सत्त्वगुणयुक्त अग्नि ही देवों को भाग पहुंचा सकता है उसी प्रकार सत्त्वगुणवाले मनुष्य ही जिनका कि बराबर उन्नति करने, ऊँचे उठने, गिरावट की ओर न जाने का स्वभाव है यथार्थमें सब का कल्याण कर सकते हैं औरों को ऊपर उठा सकते हैं पतनसे बचा सकते हैं। अतएव हमें कदापि नीचे गिरानेवाले गुण कर्म एवं स्वभाव को अपने अन्दर आश्रय नहीं देना चाहिये, हमें अग्निके समान ही स्वतः पवित्र और अपवित्रों को पवित्र करनेवाले पतितपावन होना चाहिये। आज जो हमलोग इतने गिरगये हैं अथवा पीढ़ी-दर-पीढ़ी गिर रहे हैं उसका स्पष्ट कारण यही है कि हमलोगोंके अन्दर तमोगुण की मात्रा बहुत बढ़ रही है। तमोगुणी कर्मों को छोड़कर सत्त्वगुणवाले कर्म करने पवित्र विचार, सत्य और हितकर वाणी, सत्य व्यवहार शुद्ध आचरण, सात्विक भोजन आदिके अपनानेमें ही हमारा कल्याण होगा। इस अग्निदेवमें वह भेदक शक्ति है कि देवोंके भाग (यज्ञ की आहुतियों)

को छिन्नभिन्न करके, उनको सूक्ष्मसे सूक्ष्म रूपमें परिणत करके उन्हें देवों तक पहुंचा देवे।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि घृत आदि बहुमूल्य पदार्थों को अग्निमें जलाकर नष्ट क्यों किया जावे। परन्तु वे यह नहीं जानते कि किसी भी वस्तु का अत्यन्त अभाव कभी नहीं होता। वस्तुके रूपान्तर हुआ करते हैं। ऐसा समय नहीं आ सकता जब कि वह बिल्कुल नहीं रहे। गीतामें भगवान् कृष्ण कहते हैं—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि॥

अर्थात् जो नहीं है उसका (असत् का) कभी होना (भाव) नहीं हो सकता। जो है उसका (सत् का) नहीं होना या रहना (अभाव) कभी नहीं हो सकता। तत्त्वदर्शी विद्वानोंने इस सिद्धान्त को भली-भांति समझा है।

किसी स्थानमें एक बोरेमें लाल मिरचा रख दीजिये। उसके निकट मनुष्य आसानीसे रह सकते हैं। परन्तु आग की अंगीठीमें दो चार ही मिर्चा डाल दीजिये तो पास ही क्यों सौ पचास गज की दूरी पर खड़े मनुष्यों को भी बेचैनी हो जाय। स्पष्ट है कि मिर्चा का विनाश नहीं हुआ बल्कि वह अधिक शक्तिशाली हो गया।

हवनके घृतादि पदार्थों की भी वही बात है। यज्ञकुण्डसे दूर दूर रहनेवालों को भी यज्ञ की सुगन्धि लगती ही है। घी यदि पात्रमें रहता अग्निमें नहीं डाला जाता तो पासमें बैठे लोग भी उसका ग्रहण नहीं कर सकते। अग्नि द्वारा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म होकर संसारके प्राणि मात्रके लिए हितकर हो गया। यह नहीं समझना चाहिये कि जहांतक सुगन्ध आ रही है, वहीं तक यज्ञाग्निमें डाला हुआ घृत पहुंचा। वह तो

उससे आगे भी पहुंचा है सारे वायुमण्डलमें व्याप्त हो गया है यद्यपि दूर जाकर सूक्ष्म इतना हो गया है, उसकी स्थूलता इतनी नष्ट हो गई है कि वह अब नासिकाके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता है।

जल, वायु, पृथिवी आदि देवों की पूजा अग्निहोत्रके द्वारा करना हमारा प्रतिदिन का आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है। उनसे ही हमारा जीवन है। उनके अप्रसन्न (अथवा प्रतिकूल) हो जानेसे हमारा जीवन सङ्कटमय हो जायगा। हमें शुद्ध वायु न मिले तो क्या हम एक मिनिट भी जीवित रह सकते हैं? पृथिवी माता और जलदेवता, सूर्य चन्द्रमा आदि समस्त देवताओंका कितना असीम उपकार हम पर है। उनकी कृपा और सहायताके विना हम एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकते। परन्तु हम अपने व्यवहार और रहन-सहनसे, श्वास, प्रश्वास, मल मूत्रादिसे उन्हें कितना दूषित करते हैं। क्या हमारा कर्तव्य और परम आवश्यक कर्त्तव्य यह नहीं हो जाता कि हम जितनी गन्दगी फैलाते हैं उसका किसी अंश तक परिशोध यज्ञ हवन आदि द्वारा सुगन्धि का विस्तार कर करें। भगवान् कृष्णने गीताके तीसरे अध्यायमें इस हमारे कर्त्तव्य को कितने सुन्दर ढङ्गसे समझाया है। भगवान् कहते हैं—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

प्रजापति परमात्माने सृष्टि की आदिमें जब प्रजा को उत्पन्न किया तो उसके साथ ही यज्ञ को भी उत्पन्न किया (अर्थात् मनुष्यमात्रके लिए यज्ञका विधान किया), और कहा कि हे मनुष्यो इसी यज्ञसे तुम बढ़ो, फलो फूलो, यह यज्ञ तुम्हारे लिए सारे अभिलषित सुखों को देनें वाली कामधेनुके समान होवे।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु व. ।
परस्परं भावयन्त श्रेय, परमवाप्स्यथ ॥

इस यज्ञके द्वारा तुम (मनुष्य) देवोंको प्रसन्न करो। यज्ञ द्वारा पूजित और प्रसन्न देवगण तुम्हें सब तरहसे सुखी करेंगे। इस प्रकार एक दूसरे को प्रसन्न करते हुए सारे कल्याण प्राप्त करोगे।

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविता ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव स. ॥

यज्ञ द्वारा पूजित देव तुम्हारे सारे भोग्य पदार्थ तुम्हारे इच्छानुकूल देंगे। देवताओंसे जब सारे जीवनोपयोगी पदार्थ मनुष्य पाते हैं तो बदलेमें यज्ञ द्वारा देवों को उनका भाग जो मनुष्य नहीं देता है अर्थात् जो यज्ञ अग्निहोत्रादि नहीं करता है वह चोर ही है।

यज्ञशिष्टाशिन सन्त मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषै ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ॥

जो यज्ञ करके बचे हुए अन्न को स्वय खाते हैं वे सारे पापोंसे छूट जाते हैं। जो केवल अपने खानेके लिए ही पकाते हैं, उससे पञ्च महा-यज्ञ आदि नहीं करते वे केवल पाप ही खाते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११७ का छठा मन्त्र इस सत्यको यों कह रहा है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेता. सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी ॥

"जो धनवान् होता हुआ भी श्रेष्ठ मनवाले परोपकारी मनुष्य एवं अपने मित्र की भी सेवा सहायता नहीं करता वह (केवलादी अर्थात्) केवल स्वयं ही भोग करनेवाला (केवलाघः अर्थात्) केवल पाप रूप ही बनता है। मैं सच कहता हूं कि वह दुष्ट बुद्धिवाला मनुष्य अन्न

को व्यर्थ प्राप्त करता है। उसका वह अन्न अन्न नहीं है बल्कि उसका नाश है। (जो उदार हृदय, दानी, परोपकारी नहीं हैं उनका धन उनके अनर्थ का ही कारण है उससे उनकी हानि ही होती है लाभ नहीं। अतः एव यज्ञ, परोपकारादिमें धन व्यय करना चाहिये और स्वां यज्ञशेष भोजन करना चाहिये यह भाव है)।

तैत्तिरीय उपनिषद्में अन्न का अर्थ किया है 'अद्यते अत्ति च भूतानि' अर्थात् जिसे प्राणी खाते हैं और जो स्वयं प्राणियों को खा जाता है। यथार्थमें अन्न का उचित रूपसे उपयोग न होनेसे अन्न, खानेवाले के नाश का कारण बन जाता है।

ऋग्वेद दशम मण्डलमें अन्यत्र इस प्रकार कहा गया है—

"अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि" (अन्न कहता है) मैं अन्न हूं अकेले खानेवाले को (यज्ञार्थ उत्सर्ग न करके खानेवाले को) मैं खा जाता हूं।

यज्ञ प्रकरणमें गीता आगे चलकर कहती है—

अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

प्राणी मात्र का जीवन अन्न पर ही निर्भर करता है, अन्न की उत्पत्ति मेघसे होती है, मेघ की उत्पत्ति यज्ञसे होती है और यज्ञ कर्मके द्वारा ही सम्भव है (बिना कर्मके यज्ञ नहीं हो सकता)।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥

कर्म की उत्पत्ति वेदोंसे हुई है (अर्थात् कर्म करने, सत्कर्म और पुरुषार्थ करने, कभी निठल्ले या आलसी न रहने की, वेदों की आज्ञा है)। वेद अक्षर अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुए हैं। इस हेतु सर्वव्यापक परमात्मा यज्ञमें सदा ही प्रतिष्ठित हैं। (यज्ञ करना पर-

मात्मा की वेदाज्ञा पालन रूप पूजा होनेके कारण यज्ञ द्वारा परमात्मा पूजित होते हैं)।

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह य ।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

अनादि कालसे जो यह चक्र चल रहा है कि मनुष्य कर्म करे, कर्म द्वारा यज्ञ सम्पादन होवे, यज्ञसे वृष्टि होवे, वृष्टि से अन्न और अन्नसे मनुष्यादि प्राणियों की उत्पत्ति हो, इस क्रम या सिलसिला को जो मनुष्य जारी नहीं रखता वह पापपूर्ण आयु वितानेवाला, और इन्द्रियलम्पट है। हे अर्जुन, उसका जीना वेकार है। वह पृथिवी का भार स्वरूप ही है।

पिण्ड (मनुष्य शरीर) ब्रह्माण्ड का नकशा है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' यह एक प्रसिद्ध लोकोक्ति है। पिण्ड और ब्रह्मांड का परस्पर सम्बन्ध बतलाते हुए अथर्ववेद ५।९।७ में कहा है —

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय ॥

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है अंतरिक्ष आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्यु लोक और पृथिवीके बीचमें सुरक्षित रखता हूं। यजुर्वेदके अध्याय ३१ (पुरुष सूक्त) में विभिन्न मन्त्रों में द्यौ को सिर, वायु को प्राण, अन्तरिक्ष को नाभि, दिशाओं को कान और पृथिवी को पैर कहा गया है।

यह प्रत्यक्ष भी है कि विना सूर्यके हम देख नहीं सकते, विना वायु सांस नहीं ले सकते और विना भूमिके खड़े नहीं हो सकते। इस प्रकार शरीर बिलकुल ही ब्रह्माण्डके अधीन है। आंख सूर्यके, प्राण वायुके

और ये पृथिवीके ऊपर अवलम्बित हैं। पर जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना मन्द हो जाता और पृथिवी ठंढी या गर्म हो जाती है तो पिण्ड और ब्रह्माण्डमें विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस विषमता को दूर करनेमें हमें भौतिक यज्ञ की आवश्यकता होती है। हम दीपक जलाकर, सूर्य का काम लेते, पंखा चलाकर वायु को अनुकूल करते, पृथिवी ठंढी या गर्म हो जानेसे जूते पहन कर या ऊँचे मंच पर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी गर्मी को अनुकूल कर लेते हैं। यह अनुकूलन ही यज्ञ का सङ्गतिकरण, पूजा और दान है। अर्थात् विषमता उपस्थित होनेपर पृथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्तसे पिण्ड ब्रह्माण्डमें सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना ही यज्ञ का प्रधान कार्य है।

यदि पिण्ड और ब्रह्माण्डमें अनुकूलता न रहे यदि उनकी विषमता को दूर न किया जाय तो मानव जीवन खतरेमें पड़ जाय। यही कारण है कि ऋतु परिवर्तन आदिके समय यथा चैत या आश्विन आदि मासोंमें भयङ्कर रूपसे नाना प्रकारके रोग फैल जाने की आशङ्का रहती है, क्योंकि उस समय शरीरस्थ वायु, जलादि में और ब्रह्माण्डके वायु, जलादिमें भीषण विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसलिये यज्ञों का काम रोग निवारण भी है और भैषज्य यज्ञ की बड़ी प्रधानता वैदिक साहित्यमें मानी गयी है। भैषज्य यज्ञ आयुर्वेदसे सम्बन्ध रखता है। इसमें देशकाल और पदार्थोंके गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। शतपथ ब्राह्मण में भैषज्य यज्ञके सम्बन्धमें लिखा है—

भैषज्य यज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।

अर्थात् ये भैषज्य यज्ञ ऋतु की सन्धियों पर किये जाते हैं कारण यह कि ऋतुओं की सन्धियों पर रोग होते हैं।—छान्दोग्य उपनिषत्

३।१७।१८ में लिखा है कि भैषज्य यज्ञोंमें आयुर्वेदके विद्वान् ही होता होवें। जिस प्रकार व्यक्तिगत स्वास्थ्य या अन्य प्रकारके कल्याणके लिए दैनिक अग्निहोत्र की आवश्यकता है उसी प्रकार सार्वजनिक स्वास्थ्यके लिए सार्वजनिक उपचार की आवश्यकता है। इसीलिए शास्त्रोंमें सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ करने की भी आवश्यकता बतलाई गई है। सड़क, अस्पताल, रोशनी, सफाई आदि म्यूनिसिपैलिटिके काम जैसे सार्वजनिक हैं उसी प्रकार प्राचीन कालमें सार्वजनिक यज्ञ भी होते थे। शतपथ ब्राह्मण में कहा है—'यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै भवति' यज्ञ जनता या मनुष्यमात्रके कल्याणके लिए होता है। होली ऐसी ही सार्वजनिक भैषज्य यज्ञ है जो सम्वत्सरके अन्तमें की जाती है। यह यज्ञ बड़े विस्तृत सार्वजनिक रूपसे करने का विधान है क्योंकि ब्राह्मण ग्रन्थमें लिखा है—'मुख वा एतत् सम्वत्सरस्य यत्फाल्गुणी पूर्णमासी'। अर्थात् फाल्गुण की पूर्णिमा सम्वत्सर (वर्ष) का मुख है।

अभी भी जब-जब कोई रोग आदि व्यापक भावसे फैलने की आशङ्का होती है तो कारपोरेशन या म्यूनिसिपैलिटि आदि की ओरसे नलके जलमें औषधियां डाली जाती हैं। सम्भव है कोई नल का जल न पीवे वह तो उस औषधिके लाभसे वंचित रह जायगा।। वायुके द्वारा भी रोग के कीटाणु मनुष्यके शरीरमे पहुचते ही रहते हैं अतएव ऋषियोंने अद्भुत ज्ञानसे यज्ञ का अविष्कार किया था कि वायु को ही उसके द्वारा शुद्ध, पवित्र और रोगरहित कर दिया जावे जिस वायुके विना मनुष्य का काम एक क्षणके लिए भी नहीं चल सकता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दैनिक हवनसे लेकर बड़ेसे बड़े अश्वमेध, राजसूय, आदि यज्ञ (जो राजा महाराज आदिके करनेके हैं) करने की प्रेरणा शास्त्रोंने दी है।

इसी प्रकार बिना दक्षिणाके यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता यह भाव दक्षिणा को यज्ञ की पत्नी कहकर शास्त्रकारों ने व्यक्त किया है)।

पारस्कर गृह्य सूत्रमें (काण्ड ५ में) कहा है—

'यज्ञ आयुष्मान् स दक्षिणाभिरायुष्मान्'

अर्थात् यज्ञ चिरजीवी है। वह यज्ञ दक्षिणासे चिरजीवी होता है। भाव यह है कि यज्ञ करनेवाले बड़ी आयु पाते हैं। यज्ञ स्वयं बड़ी आयुवाला है अतएव वह यज्ञकर्ता यजमान को बड़ी आयु दे सकता है। परन्तु यज्ञ दक्षिणासे ही बड़ी आयुवाला होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम पितृमरण का समाचार सुनकर भरत को सान्त्वना बंधाते हुए राजा दशरथके सम्बन्धमें वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग १०५ में कहते हैं—

धर्मात्मा सुशुभै कृत्स्नै क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणै ।
न स शोच्य पिता तात स्वगत सत्कृत सताम्॥

महाराज ने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ किये थे, सत्पुरुषोंसे सम्मानित थे। उनके स्वर्गगामी होनेपर शोक करना उचित नहीं है।

रामचन्द्रजी को युवराज पद पर अभिषेक करने की इच्छा प्रकट करते हुए राजा दशरथने स्वयं अपने सम्बन्धमें कहा—

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिता ।
अन्नवद्भि क्रतुशतैर्यथेष्ट भूरिदक्षिणै.॥
अयोध्या (वाल्मीकि) ४।१२

हे राम, मैं वृद्धा हू, बड़ी उम्र मैंने पाई है, मनमाने भोग मैंने भोगे हैं, बहुत अन्नवाले और प्रचुर दक्षिणावाले सैकड़ों यज्ञ मैंने किये हैं।

यथार्थमें षट्कर्म निरत ब्राह्मण जिन्होंने मानव समाजके कल्याणार्थ अपना जीवन अर्पण कर दिया है, मनुष्यमात्रके ज्ञानविस्तार, सांसारिक

यही यज्ञ की देव पूजा है। यज्ञोंमें बड़े-बड़े विद्वानों का मान्य आदर सत्कार, बन्धुवर्ग और इष्टमित्रों का समागम और सत्कार यह सङ्गतिकरण है जो यज्ञ शब्द का दूसरा अर्थ है। यज्ञके द्वारा प्राणि मात्र का कल्याण दुर्बलों और दुःस्थों को अन्नादि दान यह यज्ञ शब्दके तीसरे अर्थ दान को सार्थक बनाता है।

इस सम्बन्धमें यह स्मरण रखने की बात है जो दैनिक यज्ञ नित्य-कर्मके रूपमें गृहस्थ स्वयं करता है उसको छोड़कर जो ऋत्विजों या पुरोहितों विद्वानोंके सहयोगसे यज्ञ होते हैं वे यज्ञ दक्षिणावाले ही होने चाहिये। क्योंकि बिना दक्षिणावाले यज्ञ को भगवान् ने गीता अध्याय १७ में तामस यज्ञ कहा है—

विधिहीनमसृष्टान्नं मंत्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते॥

अर्थात् शास्त्रविधिके अनुकूल नहीं किया गया, अन्नसे रहित यज्ञ-साकल्यमें अन्न न डाला गया हो अथवा जिसमें अन्नदान भोजन प्रदान आदि न किया गया हो), वेद मन्त्रों द्वारा आहुतियां नहीं दी गई हों, जो श्रद्धापूर्वक न किया गया हो एवं जिसमें ऋत्विजों को दक्षिणा नहीं दी गई हो, ऐसा यज्ञ तामस यज्ञ है।

कालिदासने रघुवंश सर्ग १ में राजा दिलीप की पत्नी सुदक्षिणा का इन शब्दोंमें वर्णन किया है—

तस्य दाक्षिण्यरूढेन नाम्ना मगधवंशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥

उस राजा दिलीप की मगध वंशमें उत्पन्न दक्षिणा युक्त नामवाली सुदक्षिणा नाम की पत्नी थी, उसी प्रकार जिस प्रकार यज्ञ की पत्नी दक्षिणा है। (पत्नी गृहस्थ की अर्द्धाङ्गिनी है बिना पत्नीके गृहस्थ अधूरा है।

उसी प्रकार बिना दक्षिणाके यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकता यह भाव दक्षिणा को यज्ञ की पत्नी कहकर शास्त्रकारों ने व्यक्त किया है)।

पारस्कर गृह्य सूत्रमें (काण्ड ९ में) कहा है—

'यज्ञ आयुष्मान स दक्षिणाभिरायुष्मान्'

अर्थात् यज्ञ चिरजीवी है। वह यज्ञ दक्षिणासे चिरजीवी होता है। भाव यह है कि यज्ञ करनेवाले बडी आयु पाते हैं। यज्ञ स्वयं बडी आयुवाला है अतएव वह यज्ञकर्ता यजमान को बडी आयु दे सकता है। परन्तु यज्ञ दक्षिणासे ही बडी आयुवाला होता है।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम पितृमरण का समाचार सुनकर भरत को सान्त्वना बधाते हुए राजा दशरथके सम्बन्धमे वाल्मीकि रामायण अयोध्या काण्ड सर्ग १०५ में कहते हैं—

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
न स शोच्य पिता तात स्वगत सत्कृत सताम्॥

महाराज ने बहुत दक्षिणावाले यज्ञ किये थे, सत्पुरुषोंसे सम्मानित थे। उनके स्वर्गगामी होनेपर शोक करना उचित नहीं है।

रामचन्द्रजी को युवराज पद पर अभिषेक करने की इच्छा प्रकट करते हुए राजा दशरथने स्वयं अपने सम्बन्धमें कहा—

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिता ।
अन्नवद्भि क्रतुशतैर्यथेष्ट भूरिदक्षिणैः ॥
अयोध्या (वाल्मीकि) ४।१२

हे राम, मैं बूढा हू, बडी उम्र मैंने पाई है, मनमाने भोग मैंने भोगे हैं, बहुत अन्नवाले और प्रचुर दक्षिणावाले सैकडों यज्ञ मैंने किये हैं।

यथार्थमें षट्कर्म निरत ब्राह्मण जिन्होंने मानव समाजके कल्याणार्थ अपना जीवन अर्पण कर दिया है, मनुष्यमात्रके ज्ञानविस्तार, सांसारिक

एवं पारलौकिक उद्धारके लिए जो सतत प्रयत्नशील हैं उनको पेट की चिन्तासे, परिवारपालनके भारसे, मुक्त कर देना गृहस्थाश्रमी क्षत्रियों और वैश्योंका आवश्यक कर्त्तव्य है। क्योंकि परोपकारी विद्वान् जिस समाजमें जितने अधिक सुखी और निश्चिन्त रहेंगे उतना ही अधिक वह समाज सुखशान्तिसे भरपूर होगा।

दक्षिणा लेने का अधिकारी कौन है इस सम्बन्धमें यजुर्वेद अ० १६ का ३० वां मन्त्र कहता है—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥

मनुष्य व्रतसे अर्थात् विद्याभ्यास, ब्रह्मचर्य्य, पुरुषार्थ आदि सत्कर्म करनेके दृढ़ सङ्कल्पसे दीक्षा को प्राप्त करता है अर्थात् उसका आचरण उसके व्रत या शुभ सङ्कल्पके अनुकूल हो जाता है। उससे दक्षिणा की प्राप्ति होती है। दक्षिणा प्राप्त करनेसे उसको सत्कर्मके लिए श्रद्धा हो जाती है और श्रद्धा द्वारा मनुष्य सत्य को प्राप्त कर लेता है।

इस वेदमन्त्रमें हम देखते हैं कि मनुष्य दक्षिणा पाकर श्रद्धा को प्राप्त करता है अर्थात् जब कि सत्कर्म करने लग गया और उसके सत्कर्मोंके लिए उसे पुरस्कार और प्रोत्साहन (दक्षिणा) मिला तो सत्कर्मोंके लिए उसके हृदयमें दृढ़ आस्था (श्रद्धा) हो गई और उसने श्रद्धासे सत्कर्मों का अनुष्ठान करते हुए सत्य को पा लिया। यह भी इस मन्त्र से स्पष्ट होता है कि जिन्होंने व्रत लिया है—अपनी आत्मिक उन्नतिके लिए दृढ़ सङ्कल्प किया है और उस सङ्कल्प पर चलते हुए शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने लग गये हैं वे ही दक्षिणा पानेके अधिकारी हैं। यह वेद भगवान् की पावन शिक्षा विशेष मनन करनेके योग्य है।

अबतक द्रव्यमय यज्ञ का वर्णन किया गया है। वास्तवमें किसी प्रकारके भी कर्म जो स्वार्थ भावनासे रहित होकर, अपनेको कर्त्ता न मानकर (अहङ्कारसे शून्य होकर) किये गये हैं सब ही यज्ञ ही हैं। गीता अध्याय ४ श्लोक २३ में कहा है—

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥

कर्मसङ्गरहित, इच्छा द्वेष शून्य, ज्ञाननिष्ठ पुरुषके शरीरयात्रार्थ किये हुए यज्ञ रूप कर्म समस्त विलीन हो जाते हैं अर्थात् ऐसे कर्मो का फल कर्त्ता को जन्ममरण रूप चक्रमे नही फँसाते हैं।

श्लोक २६ में कहा है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥

कोई संयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इन्द्रियों का यज्ञ करते हैं कोई इन्द्रिय रूप अग्निमें विषयों का हवन करते हैं।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥ २७

कोई आत्मसंयम रूप अग्निमें उसको ज्ञानसे प्रज्वलित करके सब इन्द्रियों और प्राणोंके व्यापारों को हवन करते हैं।

ऊपरके इन दो श्लोकों का भी यही भाव है कि मनुष्य सारे इन्द्रियों के कार्यो को करता हुआ भी योगी है और यज्ञ कर रहा है यदि वह विषयोंमें आसक्त नहीं है और इन्द्रियों का दास नहीं बल्कि इन्द्रियों को अपना दास बनाकर प्रभु की आज्ञा पालन करनेके लिए इन्द्रियों का उपयोग करता है।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥ २८

प्रशंसित व्रतवाले कोई द्रव्य यज्ञ का, कोई तपरूपी यज्ञ, कोई योग यज्ञ, कोई स्वाध्याय यज्ञ और ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

श्लोक २९ में प्राण और अपान की गति को रोककर रेचक, पूरक और कुम्भक रूप प्राणायाम करनेवाले को यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला बतलाया है। श्लोक ३० में मिताहारी होकर प्राणोंमें हवन करना कहा गया है और यह बतलाया गया है कि 'सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः'। ऊपर लिखे ये सारेके सारे ही यज्ञके रहस्य को जाननेवाले एवं याज्ञिक हैं और उनके उन सारे द्रव्ययज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय एवं ज्ञान यज्ञके अनुष्ठानसे उनके सारे पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्लोक ३२ में कहा है—

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥

प्रजापति ने ऐसे और बहुतसे यज्ञों का विधान किया है परन्तु कोई भी यज्ञ बिना कर्मके नहीं हो सकता। अतएव ईश्वराज्ञा रूप कर्म करते रहना और ईश्वरमें भक्ति और आस्था रखकर हरि का नाम भजते रहना ही मनुष्य का परम उद्देश्य होना चाहिये।

नामस्मरण

नामस्मरणसे भक्त समुदाय ईश्वरका नाम स्मरण ही समझता है और इस नामस्मरण की अनादिकालसे बड़ी महिमा गाई गई है। यजुर्वेदके ३२ वें अध्याय का तीसरा मन्त्र बड़ा ही प्रसिद्ध है और वह यह है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः ॥

उस महिमामहान सच्चिदानन्द परमात्मा की, कोई प्रतिमा नहीं है (उसका सादृश्य, उपमान या नपैना कुछ भी नहीं है)। उसका नाम बड़ा यशवाला है। उसकी महिमा का वर्णन 'हिरण्यगर्भ' आदि मन्त्रों द्वारा, 'मामा हिंसीत्' इस मन्त्रसे और 'यस्मान्नजात.' इत्यादि मन्त्रोंसे वेदोंमें किया गया है।

ऊपरके मन्त्रमें तीन मन्त्रोंके जो प्रतीक दिये गये हैं वे एक के बाद एक अर्थ सहित नीचे लिखे जाते हैं—

हिरण्यगर्भ. समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
ऋ० १०।१२१।१

जिसके गर्भमें अनेक तेजस्वी पदार्थ हैं अर्थात् जो सुवर्ण आदि धातुओं एवं सूर्य चन्द्रादि ज्योतिष्मान् लोकों का उत्पन्न करनेवाला है वह सृष्टिके पूर्व भी वर्तमान था। वह सब बने हुए संसार का एक ही स्वामी प्रसिद्ध है। उसने पृथिवी को धारण किया है और इस द्युलोक को भी धारण किया है। उस आनन्दस्वरूप एक देव की ही हम सब उपासना करें।

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवश्च सत्यधर्मा व्यानट् ।
यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम॥यजु०१२।१०२

हे प्रभो आपने इस पृथिवी और द्युलोक को बनाया है। आपने ही जल और चन्द्रमा को उत्पन्न किया है। आप हमारी सब प्रकारसे रक्षा कर और सारे दुःख और नाना प्रकार की पीडाओंसे हमें बचायें। हम सब आपकी ही उपासना और प्रार्थना करें आपको ही

अपना एक मात्र शरण और अवलम्ब मान आपकी ही पूजा और आराधना करें।

यस्मान्न जातः परो अन्यो अस्ति य आविवेश भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणिज्योतीꣳषिसचते स षोडशी ॥य०८।३६

जिस प्रभुसे बढ़कर कोई दूसरा नहीं है, जो विश्वस्रष्टा इन सारे लोकलोकान्तरोंमें प्रविष्ट और व्यापक है, वह परमपिता परमात्मा अपनी प्रजाके साथ रमण करता हुआ अर्थात् सारे प्राणियों का पालन करता हुआ उनका सुखसम्पादन कर रहा है। वही प्रभु सूर्य चन्द्र एवं अग्नि रूप तीन ज्योतियों एवं सोलह कलाओंवाले विश्व ब्रह्माण्ड का धर्ता, कर्त्ता और विधाता है।

ये मन्त्र बतला रहे हैं कि उस प्रभु की महिमा का पारावार नहीं है। उसके समान 'न भूतो न भविष्यति' न तो कोई हुआ और न होगा। उस प्रभुके नामके माहात्म्य को शब्दोंमें पूरा-पूरा वर्णन कर सकना गागरमें सागर भरनेके समान असम्भव कार्य है। इसी कारण तो प्रभु की महिमाके सम्बन्धमें कहते-कहते ऋषि मुनि नेति-नेति कहकर मूक हो जाते हैं।

प्रभुके नाम असंख्य हैं। क्योंकि प्रभुके कोई नाम निरर्थक नहीं हैं। साधारण मनुष्योंके नाम तो निरर्थक हो भी सकते हैं परन्तु परमेश्वरके सारे नाम उसके गुण कर्म स्वभावके अनुसार ही दिये गये हैं। चूंकि परमात्माके गुण कर्म और स्वभावका अन्त नहीं वैसे ही उसके नाम भी अनन्त हैं। सर्वव्यापक होनेके कारण उसका नाम विष्णु, सबसे बड़ा होनेके कारण उसका नाम ब्रह्म, सृष्टिकी रचना द्वारा उसका विस्तार करनेके कारण उसका नाम

तस्य वाचकः प्रणवः ।

प्रणव अर्थात् ओ३म् उस प्रभुका निज नाम है।

योगदर्शन आगे चलकर कहता है 'तज्जपस्तदर्थभावनम्' उस ओ३म् नामका जप उसके अर्थ चिन्तनपूर्वक करना ही यथार्थमें नाम जप है।

ओ३म् अक्षर जो परमात्माका सबसे श्रेष्ठ नाम है और उसी नामका जप आदि करना चाहिये इत्यादिके सम्बन्धमें छान्दोग्य उपनिषद् प्रथम अध्यायका प्रथम वाक्य और उसपर स्वामी शङ्कराचार्यका भाष्य विशेष ध्यान देनेके योग्य है। उपनिषद् कहती है—

ओ३मित्येतदक्षरमुद्‌गीथमुपासीत।

इसपर शाङ्कर भाष्य निम्नलिखित है—

ओ३मित्येतदक्षरं परमात्मनोऽभिधानं नेदिष्ठम् तस्मिन् हि प्रयुज्यमाने स प्रसीदति, प्रियनामग्रहण इव लोकः। एवं नामत्वेन प्रतीकत्वेन च परमात्मोपासनसाधनं श्रेष्ठमिति सर्ववेदान्तेष्ववगतम्। जपकर्म स्वाध्यायाद्यन्तेषु च बहुशः प्रयोगात्प्रसिद्धमस्य श्रैष्ठ्यम्। अतस्तदेतद-क्षरं वर्णात्मकमुद्‌गीथभक्त्यवयवत्वादुद्‌गीथशब्दवाच्यमुपासीत।

अर्थात् ओ३म् अक्षर परमात्माका निकटतम (नेदिष्ठ) नाम है। (नेदिष्ठ या निकटतम इसलिये कहा गया है कि प्रभु की अनन्त महत्ता या इयत्ता वाणी द्वारा निःशेष रूपसे बताई तो जा नहीं सकती उसके स्वरूप या सामर्थ्यका दिग्दर्शनमात्र ही कराया जा सकता है)। इस ओ३म् नामके लेनेसे प्रभु वैसे ही प्रसन्न होते हैं जैसे मनुष्य उसके प्रिय नाम लेनेसे प्रसन्न होता है। (इसका भाव यह है ओ३म् नामस्मरणसे ही मनुष्यका सबसे बड़ा कल्याण होता है। वास्तवमें जैसा अन्यत्र कहा जा चुका है प्रभुकी अपनी प्रसन्नता अप्रसन्नता का

तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि वह कोई साधारण मनुष्यों जैसा तो है नहीं)। इसी ओ३म् नाम या प्रतीकसे परमात्माकी उपासना करना सबसे श्रेष्ठ है यह वेदान्त अर्थात् वेदके अन्तिम लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति परक मंत्रभागों किंवा अन्यान्य सारे ब्रह्मविद्याविधायक ग्रंथोंका निश्चित मत है। जप, कर्मकाण्ड (यज्ञादि), एवं ग्रंथोंके अध्यायोंके आदि एवं अंतमें ओ३म् नामका ही प्रयोग सर्वत्र देखे जानेसे इसकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। भक्ति का सबसे बड़ा साधन होनेके कारण भक्त इस नामका गान करते हैं इसलिये इस ओ३म् अक्षरका ही दूसरा नाम उद्गीथ है। इसी ओ३म् अर्थात् उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये।

यजुर्वेदका चालीसवां अध्याय जो उपनिषदोंमें सबसे अधिक प्राचीन ईशोपनिषत्के नामसे भी प्रसिद्ध है उसका सतरहवां मंत्र कहता है—

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥

मृत्युके उपरांत शरीर पिण्डमें स्थित प्राणवायु ब्रह्माण्डस्थ वायुमें मिल जायगी, भौतिक शरीर चिता की अग्निमें जलकर भस्म हो जायगा, इस रूपमें यह सदा नहीं रहनेवाला है, परंतु जीवात्मा, अमृत है, अमर है, जरामरणसे रहित है। अतएव मनुष्यको जो कर्मशील है ओ३म् का स्मरण और जप करना चाहिये। अपने किये हुए कर्मोंको स्मरण करना चाहिये अर्थात् उनपर विचारात्मक दृष्टि डालनी चाहिये जैसा कि मनु आदि स्मृतिकारोंने कहा है—

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्यं किन्नु सत्पुरुषैरुत ॥

अर्थात् मनुष्य को यह प्रतिदिन देखते रहना चाहिये कि हमारे

कर्म कैसे हो रहे हैं, कौनसे हमारे कर्म विवेकहीन पशुओंके जैसे और कौनसे कर्म मननशील मनुष्योंके जैसे हुए हैं वा हो रहे हैं। इस प्रकारके आत्मनिरीक्षण से हमें अपने किये हुए अशुभकर्मोंके लिए ग्लानि होकर हमारे आगे होनेवाले कर्म शुभ होंगे)। इस ओ३म् के जपसे और अपने कृत कर्मोंके पर्यवेक्षणसे मनुष्यको बल की प्राप्ति होगी कठिनसे कठिन कार्य उसके लिए सुकर होगा और सब प्रकार से उद्धार होगा। इस मंत्रमें मनुष्यको कर्मशील (क्रतु) इस कारणसे कहा है कि चौरासी लाख योनियोंमेंसे केवलमात्र मनुष्य योनि ही कर्म-योनि है अर्थात् मनुष्यको ही कर्म करने की स्वतंत्रता प्रभु की ओरसे प्राप्त है। और बाकी योनियाँ भोगयोनियाँ हैं। इन योनियोंमें—पशु, कीट, पतंग, वृक्षादि की योनियोंमें--उत्पन्न जीवोंको कर्म करने की स्वतंत्रता नहीं है, वे योनियां केवल फल भोगनेके लिये ही मिली हुई हैं।

इस मंत्रमें ओ३म् जपका ही विधान है।

जैसा ऊपर कहा गया है जप, अर्थ पर मनन करते हुए ही होना चाहिये और पूरी तन्मयता से। उस समय अन्य विषयों पर मनको नहीं जाने देना चाहिये। ओ३म् के अर्थों का कोई अन्त नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् एवं छान्दोग्य उपनिषद्में इसका विस्तारसे वर्णन है। संक्षेपमें इसके अ, उ, और म ये तीन अक्षर यह बोध करा रहे हैं कि प्रभु अ अक्षरके जैसा जगत् का आदि कारण है, स्वर अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप एवं अन्यों को प्रकाशित करनेवाला है, सारे व्यञ्जन वर्णोंमें जिस प्रकार 'अ' अक्षर विद्यमान है परन्तु उसे केवल विद्वान् देख सकते हैं उसी प्रकार प्रभु चराचर जगत्में व्यापक होते हुए भी उसकी दिव्य ज्योतिका दर्शन, उसकी सत्ताका भान, विद्वान् योगिजनों को ही होता है। 'उ' अक्षर प्रभुके जगत् पालक स्वरूपका बोध कराता

है। ओ३म् अक्षरके 'म' के उच्चारणके साथ ही मुखका कपाट बंद हो जाता है। इससे यह प्रकट होता है कि प्रभु इस सृष्टि की उत्पत्ति और धारणके साथ ही इसका प्रलय करनेवाला भी है। प्रभु परमात्मा का प्रलयकर्त्ता होना भी उसकी दयालुता का ही द्योतक है क्योंकि मृत्युके नियममें भी भक्त एवं योगिजन प्रभुकी महिमा और कृपा ही देखते हैं।

सबसे सरल अर्थ 'ओ३म्' का 'रक्षक' है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति 'अव् रक्षण इस धातुसे भी बनती है।

साधक जप करते हुए प्रभु की अपार महिमा का चिन्तन करे और मनमें यह दृढ धारणा रखे कि प्रभु हमारा रक्षक है तो वह सारे दुखों से छूट जायगा।

भक्तोंने 'राम' नामके जप की भी बडी महिमा गाई है। भक्तप्रवर गोस्वामी तुलसीदासजीने रामनाम की महिमा की पराकाष्ठा दिखला दी जब उन्होंने अपनी रामायणमें कह दिया—

'राम न सकहिं नाम गुण गाई'।

सचमें जब प्रभुकी महिमाका अन्त ही नहीं है तो प्रभु स्वयं ही उसका अन्त कैसे जान सकते। परमात्माका ज्ञान सत्य है। तो सान्त को सान्त और अनन्त को अनन्त जानना ही तो सत्य ज्ञान है।

'शिव' नामका जप भी कुछ भक्त करते हैं। प्रभुके अन्य नामोंका भी जप अपनी रुचिके अनुकूल किया जा सकता है, क्योंकि 'भिन्न रुचिर्हि लोक' मनुष्योंकी रुचि भिन्न-भिन्न हुआ करती है। परन्तु शुद्ध हृदयसे जप्य नाम के अर्थों पर विचार करते हुए प्रभु को सब स्थानोंमें वर्तमान, सबके कर्मों को देखनेवाला, सबकी रक्षा करनेवाला समझकर और अपनेको सारे दोषोंसे पृथक् रखकर प्रभु की आज्ञा पर चलनेका दृढ़ संकल्प मनमें करते हुए श्रद्धा एवं भक्तिके साथ नामस्मरण या जप

करनेसे ही प्रभु की कृपा प्राप्त होगी। कबीरदासजीने बड़ाही सुन्दर कहा है—

'बिनु पहिचाने बिनु गहि पकड़े राम कहे का होई'।

जप जोरसे बोलकर, बिना शब्द किये केवल ओष्ठ, जिह्वा आदि वर्णोंके उच्चारण स्थानोंका प्रयोग कर तथा बिल्कुल मन ही मन जिसमें ओष्ठ आदि भी न हिलें तीन प्रकारसे किये जा सकते हैं। परन्तु इन तीनों में से अन्तिम प्रकारका जप ही शास्त्रोंमें श्रेष्ठ माना गया है। इस प्रकारके जपमें मनकी एकाग्रता एवं निर्विषयता की अत्यन्त आवश्यकता है। प्रारंभमें पहले या दूसरे प्रकारका भी जप किया जा सकता है।

जप करनेमें मालों की अनिवार्य आवश्यकता तो नहीं है क्योंकि प्रभुके साथ कोई मोलजोल तो करना है नहीं। परन्तु नियमनिष्ठता के पालनमें माला बड़ी सहायक हो सकती है। हम यदि निश्चय करलें कि बिना एक सौ आठ बार या एक हजार बार जप किये हम भोजन नहीं करेंगे तो हम आवश्यकरूपसे जप करने लगेंगे और एक नियम बंध जायगा। उस अवस्था में गिनती करनेके लिए मालेके दानों की आवश्यकता हो सकती है। परन्तु मालों इत्यादिके पीछे बहुत चिंतित होना और उनको बहुत अधिक महत्त्व देना आवश्यक नहीं, किसी भी माले पर गिनती कर सकते हैं, अंगुलियों पर भी गिनती हो सकती है।

नियमित रूप से स्नान सन्ध्या आदिके बाद निश्चित संख्यामें जप तो मालाओं पर कर सकते हैं। परन्तु जब कभी भी अवकाश मिले, कोई काम न रहे, जैसे गाड़ी, सवारीमें बैठे हुए, राह चलते हुए, अथवा रातमें बिछावन पर पड़े (नीन्द न आने तक) नामस्मरण (जप)

करते रहना चाहिये। वैसे समयोंमें नाम जप रूप पवित्र कार्यमें मन को लगानेसे मनमें अन्य अपवित्र विचार नहीं उठ सकते हैं।

भजन-कीर्त न

प्रभुके गुणगानके पद उच्च स्वरसे अकेले गाने अथवा पाठ करनेसे भी बडा लाभ होता है। इसी प्रकारके पदों को जब कई व्यक्ति जोर जोरसे बार-बार साथ मिलकर बोलते हैं ता उसीको हरिकीर्त्त न या सकीर्त्त न कहा जाता है। यह भी बडा उपयोगी और लाभप्रद है। इससे व्यक्तिगत कल्याणके साथ ही साथ दूसरोंका भी कल्याण होता है। बोलनेवालों का मन और वाणी तो पवित्र होती ही है सुननेवाले भी पवित्र वाणीके श्रवण करनेसे पवित्र हो जाते हैं पवित्रता का वातावरण तैयार हो जाता है। यह तो प्रतिदिनका अनुभव है कि अच्छे वक्ता जब कोई करुण कहानी सुनाने लगते हैं तो कभी कभी उनके नेत्रों में भी आंसू आ जाते हैं। वेही जब वीर रस की बात करते तो वीरता से उनकी भुजायें फडक उठतीं, एक विचित्र जोश उमड आता है। विषय वासना की कथाएं वक्ताके मनमें कामुकता पैदा कर देती हैं। तो जो बात वक्ता को स्वय होती हैं व ही उनके श्रोताओंको भी हो जाती हैं। चतुर सेनापति अपने जोशीले भाषणसे सेनामें जोश उभाडकर उसे युद्ध आदिके लिए सन्नद्ध कर देते हैं। प्रभावशाली वक्ता मार्मिक व्याख्यानोंसे निष्ठुर श्रोताओंमें किसीके प्रति दयाका स्रोत बहा सकते हैं, पत्थरको मोम बना सकते हैं। भद्दे फिल्मी गाने आदि सुननेका ही तो प्रभाव है कि ब्रह्मचर्यकी रक्षा इतनी कठिन हो रही है। ऐसी अवस्थामें भक्ति, सद्‌गुण, सच्चरित्रताके गान अथवा पदपाठ वक्ता और श्रोता दोनोंका कितना अमित कल्याण करेंगे इसमें सन्देहका लेशमात्र

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुः। यावदग्निः ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
अथर्व० ६।२।२०

जितने कुछ सूर्य और भूलोक अपने फैलावसे फैले हुए हैं, जहाँतक जलधारायें बहती हैं और जितना कुछ अग्नि वा विद्युत है उससे आप अधिक बड़े, सब प्रकारसे महान पूजनीय हैं, उस आपको ही हे कामना करने योग्य परमेश्वर, मैं नमस्कार करता हूं।

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥
अथर्व० ६।२।२३

हे कामनायोग्य पूजनीय प्रभो, पलकें मारनेवाले मनुष्य, पशु, पक्षी आदिसे और स्थावर वृक्ष पर्वत आदिसे, आकाश और समुद्रसे आप अधिक बड़े हैं। सब प्रकारसे आप अधिक पूजनीय हैं, उस आपको ही मैं नमस्कार करता हूं।

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः। ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महाँस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० ६।२

न तो कोई वायु उस कामना योग्य परमेश्वरको प्राप्त होता है नहीं अग्नि और सूर्य और न चन्द्रमा प्राप्त हो सकते हैं। उन सबसे आप बड़े और पूजनीय हो। उस आपको ही मैं बार बार प्रणाम करता हूं।

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा।
भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ अथर्व० ११।२।१६

सायंकालमें उस प्रभुको नमस्कार है, प्रातःकालमें नमस्कार है, दिन और रातमें नमस्कार है, सुख देनेवाले और दुःखके नाश करनेवाले उस प्रभुको हम बार बार नमस्कार करते हैं।

प्रभु कहते हैं—

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः। अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा॥ अथर्व० ४।३०।१

मैं ज्ञानदाता दुःखनाशक एवं निवास देनेवाले पुरुषोंके साथ रहता हूं। मैं आदित्य ब्रह्मचारियों, प्राण और उदान वायुके समान सबके हितकारियों, पवन और अग्निके समान तेजस्वियों, तथा अध्यापकों एवं उपदेशकोंका पालन करता हू।

मया सोन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि॥ अ०४।३०

मेरे द्वारा वही अन्न खाता है (अर्थात् सारे भोग्य पदार्थों को प्राप्त करता) जो भले प्रकार देखता है (सोच-विचारकर, अच्छे-बुरेका विवेक करके कार्य करता है), जिसमें प्राण है (बल, और साहस है) जो कहा हुआ सुनता है (वेदादि शास्त्रों का श्रवण करता एवं विद्वानों ज्ञानियों वा अनुभवी वृद्धोंके उपदेश सुनता है और तदनुकूल कार्य करता है)। मुझे किंवा मेरी आज्ञा नहीं माननेवाले मनुष्य दीनहीन होकर नष्ट हो जाते है। हे सुननेमें समर्थ जीव, तू सुन, तुझसे मैं श्रद्धाके योग्य वचन कहता हू।

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश॥ अथ० ४।३०।५

मैं ज्ञानदाता व दुःखके नाशक मनुष्य के हितके लिए और ब्रह्मज्ञानी, वेदपाठी विद्वानोंके द्वेषी हिंसकके मारनेके लिए ही धनुष तानता हूं (अर्थात् सत्पुरुषोंकी रक्षा और दुष्ट दुरात्माओंका नाश करता हू)। मैं भक्तजनके लिये पृथिवीको आनन्दसे पूर्ण करता हू। मैं सूर्य और पृथिवी लोकमें सब ओरसे प्रविष्ट हूं।

अहं भुवं वसुनः पूर्व्यस्पतिरहं धनानि संजयामि शाश्वतः। मां हवन्ते पितरो न जन्तवो अहं दाशुषे विभजामि भोजनम् ॥

मैं ही सारे धनरत्नोंका स्वामी हूं। मेरा ही उनपर सदासे पूरा अधिकार है। जीवगण मुझे पिता कहकर पुकारते और मुझसे सहायताकी याचना करते हैं। परन्तु मैं भोग्य पदार्थ उन्हींको देता हूं जो दूसरों को देते हैं (जो दानी और परोपकारी हैं)

ऊपरके चार मंत्रोंमें प्रभु कहते हैं कि मैं प्रार्थना उन्हीं मनुष्यों की सुनता हूं जो इन मंत्रोंमें लिखे ईश्वराज्ञाके अनुकूल अपने गुण कर्म स्वभावको बनाते हैं। निठल्ले बैठे शेखचिल्ली लोगोंकी प्रार्थना प्रभु नहीं सुनते।

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने। यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥ अथर्व २।२८।४

परमेश्वर मनुष्य को आशीर्वाद देते हैं कि हे मनुष्य जैसे पुरुष अपनी मातासे उत्पन्न होकर उस माता की गोदमें स्थित रहता है और अपने पितासे पालन-पोषण को प्राप्त होता है, ऐसे ही पृथिवी रूपी मातासे उत्पन्न होकर, उस पृथिवीकी गोदमें रहता हुआ तू मनुष्य द्युलोक रूप पितासे पालन-पोषणको प्राप्त हो रहा है। द्युलोक और पृथिवी तेरे अनुकूल हुए, सौ वर्ष पर्यन्त जीनेमें सहायता करें। तू सारी आयुमें अच्छे-अच्छे कर्म करता हुआ, ब्रह्मज्ञान द्वारा मोक्ष सुखको प्राप्त हो।

आदर्श दिनचर्या

निद्रात्याग—प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्तमें अर्थात् सूर्योदयसे चार घड़ी (करीब डेढ़ घण्टा) पूर्व उठे। उठकर ईश्वर का चिन्तन करे। यह काल अमृत वेला है। इस समय शरीर इन्द्रिय, बुद्धि आदि स्वच्छ एवं निमल रहती हैं। इस समय उठनेसे स्वप्नदोष भी नहीं होता। निद्रात्यागके बाद जलसे कुल्ला करे, आंखों को और मुह को अच्छी तरह धोवे। इस समय जल पीना भी अत्यन्त लाभदायक है।

शौच निद्रा-त्यागके बाद मल त्याग कर देना अति आवश्यक है। मल त्याग करते समय जल्दबाजी नहीं करनी चाहिये। हाँ, जोर लगाकर मल को निकालने का यत्न करना भी वर्जित है। मलमूत्र की शंका को किसी समय भी नहीं रोकना चाहिये। बादमें हाथ पांव अच्छी तरह धाना चाहिये। कुल्ला भी करना चाहिये।

दन्तधावन- शौचादिके बाद दांतों की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। दांतों की सफाईके लिये दतवन का ही उपयोग करना चाहिये। नीम की दतवन सबसे उत्तम होता है। साथ ही सेंधा नमक और सरसोंके तेलसे भी दांतों को मलना चाहिये। दांतोंके लिए देशी मंजन भी काममें लाया जा सकता है। दांतों को साफ करनेके बाद शुद्ध जलसे कुल्ला करना चाहिए। दिन-रातमें जब-जब भी जल स्पर्श करे गहरा कुल्ला अवश्य करे। आंखों का भी ठंडे जलसे धोवे। दांतों का सम्बन्ध मस्तिष्क तथा पेटसे है। इसलिए दांत तथा मुखकी सफाई पर विशेष रूपसे ध्यान देना चाहिये। जीभ पर भी मैल जमा न रहना चाहिये। सोनेसे पहिले भी मुह और दांत भली भांति साफ कर लेना चाहिये।

कुछ दांतोंमें सोने की खोली होनी भी आवश्यक है। मुखमें सोन

रहनेसे गंदगीके कीटाणु रहने नहीं पाते। सोनेके स्पर्शसे मुखमें बना हुआ रस पेटके भीतर जाकर पुष्टि और आरोग्य बढ़ाता है।

स्नान—शौच और मुख की सफाईके बाद स्नान करना चाहिये। स्नानसे अग्नि दीप्त होती है, बल और तेज की वृद्धि होती है। शरीर विमल और स्फूर्तियुक्त हो जाता है। स्नान प्रातःकाल सुर्योदयके पूर्व ही हो जाना चाहिये। शीतल जलसे ही स्नान करना उत्तम है, परन्तु यदि शीत अथवा अन्य किसी कारणसे कभी गरम जलसे स्नान करना हो तो सर पर गर्म जल कदापि न डालना चाहिये। गर्म जल मस्तिष्क एवं नेत्रोंके लिये हानिकारक है। मोट गमछे या तौलियेसे रगड़कर स्नान करना उचित है। घटिया साबुन कदापि न लगावे। गंगाजी की मिट्टी अथवा शुद्ध काली मिट्टी लगाके स्नान करे। नदीमें स्नान करना उत्तम है। नदी समीप न हो तो अन्यत्र भी पर्याप्त जलसे स्नान करे।

स्नान करनेके पहले शरीरमें तेल की मालिश करना स्वास्थ्यके लिये लाभदायक है। तेल की मालिशसे वातादि दोष दूर होते हैं, बुढ़ापा नहीं आता है, थकावट मिटती है, बल बढ़ता है एवं नींन्द अच्छी आती है। इससे चर्म रोग भी नहीं होते। सिरमें तेल मलनेसे मस्तिष्क और दृष्टि की शक्ति बढ़ती है। कानमें तेल डालनेसे कर्णरोग दूर होते हैं। पैरके तलवोंमें तेल मलनेसे भी दृष्टि शक्ति को लाभ पहुंचता है। इसलिये तेल को मालिश प्रति दिन करनी चाहिये।

सन्ध्योपासन—स्नानके बाद संन्ध्योपासन एवं ईश्वर चिन्तनमें रत हो जाना चाहिये। उपासना का अर्थ है समीप बैठना। ईश्वर की उपासना का अर्थ हुआ ईश्वरके समीप बैठना। ईश्वर सर्वव्यापक (सब जगह वर्तमान) एवं अन्तर्यामी (सबके भीतर प्रविष्ट) है। अतएव परमात्मा को अपने समीप अनुभव कर उससे अपने आत्मा को उच्च,

पवित्र और सद्गुण सम्पन्न बनाना ही उपासना का रहस्य है। जिससे सम्पूर्ण चराचर जगत् उत्पन्न हुआ, जो इस ब्रह्माण्ड का धारण और पालन कर रहा है, जो प्रभु सारे सुखके साधनों का देनेवाला है उसका स्तुति के द्वारा स्मरण करना मनुष्यमात्र का परम कर्त्तव्य है। परमात्मा की जो मनुष्यमात्रके लिए पुरुषार्थ करने की आज्ञा है उसपर चलकर सदैव कर्मशील रहनेवाले उपासकके परमप्रभु सदैव सहायक होंगे। सन्ध्योपासन एकान्त तथा खुले और पवित्र स्थानमें करना चाहिये।

सन्ध्या करते समय प्राणायाम का भी अभ्यास बढ़ाना चाहिये। जिस प्रकार स्थूल शरीरके लिए व्यायाम की आवश्यकता है उसी प्रकार मन और प्राणके लिए प्राणायाम की आवश्यकता है। प्राणायामके अभ्यास से दिन प्रतिदिन शान्ति एवं आयु बढ़ती है दोषों का क्षय होता है मन की एकाग्रता होती है एवं ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। अग्निहोत्र, बलि वैश्वदेव, पितृतर्पण एवं अतिथि सत्कार भी नित्य प्रति करना चाहिये।

व्यायाम—प्रति दिन अपनी शक्तिके अनुसार व्यायाम करना भी अति आवश्यक है। पुरुषार्थ करनेसे ही पुरुषार्थ बढ़ता है। व्यायाम से स्फूर्ति, क्रियाशक्ति तथा जठराग्नि की वृद्धि होती है। शरीर स्वस्थ, सबल, सुडौल और नीरोग रहता है। व्यायाम खुली हवामें करना उचित है।

भोजन—भोजन करनेसे पूर्व हाथ पांव मुह अच्छी तरह धो लेना चाहिये, तीन आचमन भी करना चाहिए। प्रथम भोजन ६ बजेसे १२ बजे तक कर लेना चाहिये। सायंकाल का भोजन ८ बजेसे पूर्व ही करना चाहिये। बीचमें आवश्यक हो तो फल आदि ले सकते हैं। भोजन शुद्ध, सात्विक एवं निरामिष होना चाहिये। ईश्वर का ध्यान कर भोजन में ही मन लगाकर स्वच्छ स्थानमें शान्त चित्तसे भोजन करना चाहिये।

प्रत्येक ग्रास को खूब चबा चबा कर खाना चाहिये। जल का सेवन भोजनके बीच में ही होना चाहिये। भोजनके अन्तमें जल पीना हानि-कारक है। भोजनके पश्चात् सौ कदम धीरे धीरे टहलना चाहिये। पीछे कुछ समय विश्राम करें। पश्चात् प्राणीमात्र की हित की भावना रखते हुए अपने-अपने कर्मोंमें लग जाना चाहिये। दिनमें सोना हानिकारक है।

दिनान्त कर्म—सायंकाल शौचादिसे निवृत्त होकर संध्योपासन करना चाहिये। भोजनोपरान्त ईश्वरके भजन कीर्तन एवं ज्ञान की चर्चा मित्रों एवं बालबच्चोंके सहित करनी चाहिये।

निद्रा—दिन भरके परिश्रम की थकावट निद्रासे ही दूर होती है और फिरसे नवीन शक्ति एवं स्फूर्ति की प्राप्ति होती है। इस लिये रात्रि जागरण कदापि नहीं करना चाहिये। रातमें छः सात घंटे सोना अत्यन्त आवश्यक है। ६॥ बजे रात तक अवश्य सो जाना चाहिये। सोते समय शान्त और प्रसन्नचित्त रहना चाहिये। शुभ संकल्पके भाव मनमें होने चाहिये। इस हेतु सोनेके पहिले परमात्मा का चिन्तन करना अति आवश्यक है। पृष्ठ ५७, ५८ पर लिखे शिवसंकल्प के छः वेदमंत्र अर्थचिन्तन पूर्वक पाठ करते हुए सो जाना बड़ा लाभप्रद हो सकता है। पूर्व अथवा दक्षिण सिर करके ही सोना लाभदायक है।

स्त्रीप्रसंग विषयसुखके लिये नहीं होना चाहिये। शास्त्र की मर्यादा के अनुसार ऋतुकालमें सन्तान की इच्छासे ही इसमें प्रवृत्त होना चाहिये। यह काम मध्यरात्रिके पूर्व ही होना चाहिये। कारण इससे जो थकावट होती है उसकी निवृत्ति पर्याप्त निद्रासे ही हो सकती है।

श्री गणेशाय नमः।

गजाननं भूतगणाधिसेवितम् कपित्थजम्बूफलचारुभक्षितम्।।
उमासुतं शोकविनाशकारकम् नमामि विघ्नेश्वर पादपंकजम्।।

संकट नाशन गणेश स्तोत्रम्।

नारद उवाच।

प्रणम्य शिरसा देवं गौरीपुत्रं विनायकम्।
भक्तावासं स्मरेन्नित्यमायुःकामार्थसिद्धये।।
प्रथमं वक्रतुण्डं च एकदन्तं द्वितीयकम्।
तृतीयं कृष्णपिङ्गाक्षं गजवक्त्रं चतुर्थकम्।।
लम्बोदरं पञ्चमं च षष्ठं विकटमेव च।
सप्तमं विघ्नराजं च धूम्रवर्णं तथाऽष्टमम्।।
नवमं भालचन्द्रं च दशमं तु विनायकम्।
एकादशं गणपतिं द्वादशं तु गजाननम्।।
द्वादशैतानि नामानि त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः।
न च विघ्नभयं तस्य सर्वसिद्धिकरं प्रभो।।
विद्यार्थी लभते विद्यां धनार्थी लभते धनम्।
पुत्रार्थी लभते पुत्रान्मोक्षार्थी लभते गतिम्।।
जपेद्गणपतिस्तोत्रं षड्भिर्मासैः फलं लभेत्।
संवत्सरेण सिद्धिं च लभते नात्र संशयः।
अष्टाभ्यो ब्राह्मणेभ्यश्च लिखित्वा यः समर्पयेत्।
तस्य विद्या भवेत्सर्वा गणेशस्य प्रसादतः।।

श्रीगणेशाय नमः।

अच्युताष्टकम्

अच्युतं केशवं रामनारायणं कृष्णदामोदरं वासुदेवं हरिम्।
श्रीधरं माधवं गोपिकावल्लभं जानकीनायकं रामचन्द्रं भजे ॥
अच्युतं केशवं सत्यभामाधवं माधवं श्रीधरं राधिकाराधितम्।
इन्दिरामन्दिरं चेतसा सुन्दरं देवकीनन्दनं नन्दजं संदधे ॥
विष्णवे जिष्णवे शंखिने चक्रिणे रुक्मिणीरागिणे जानकीजानये।
वल्लवीवल्लभायार्चितायात्मने कंसविध्वंसिने वंशिने ते नमः ॥
कृष्ण गोविन्द हे रामनारायण श्रीपते वासुदेवाजित श्रीनिधे।
अच्युतानंत हे माधवाधोक्षज द्वारकानायक द्रौपदीरक्षक ॥
राक्षसक्षोभितः सीतया शोभितो दण्डकारण्यभूपुण्यताकारणः।
लक्ष्मणेनान्वितो वानरैः सेवितोऽगस्त्यसंपूजितो राघवः पातुमाम् ॥
धेनुकारिष्टकोऽनिष्टकृद्द्वेषिणां केशिहा कंसहृद्वंशिकावादकः।
पूतनाकोपकः सूरजाखेलनो बालगोपालकः पातु मां सर्वदा।
विद्युदुद्योतवान्प्रस्फुरद्वाससं प्रावृडम्भोदवत्प्रोल्लसद्विग्रहम् ॥
वन्यया मालया शोभितोरःस्थलं लोहिताङ्घ्रिद्वयं वारिजाक्षं भजे।
कुञ्चितैः कुन्तलैर्भ्राजमानाननं रत्नमौलिं लसत्कुण्डलं गण्डयोः ॥
हारकेयूरकं कङ्कणप्रोज्ज्वलं किङ्किणीमञ्जुलं श्यामलं तं भजे।
अच्युतस्याष्टकं यः पठेदिष्टदं प्रेमतः प्रत्यहं पूरुषः सस्पृहम्।
वृत्ततः सुन्दरं कर्तृ विश्वम्भरं तस्य वश्यो हरिर्जायते सत्वरम्।

श्रीगणेशाय नमः।

आचार्यकृत षट्पदी

अविनयमपनय विष्णो दमयमनः शमय विषयमृगतृष्णाम्। भूतदयां

विस्तारय तारय संसारसागरतः। दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोग सच्चिदानन्दे। श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे। सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः। उद्धृतनग नगभिदनुज दनुजकुलामित्र मित्रशशिदृष्टे। दृष्टे भवति प्रभवति न भवति किं भवतिरस्कारः। मत्स्यादिभिरवतारैरवतारवताऽवता सदा वसुधाम्। परमेश्वर परिपाल्यो भवता भवताप भीतोऽहम्। दामोदर गुणमंदिर सुन्दरवदनारविन्द गोविन्द। भवजलधिमथनमन्दर परमं दरमपनय त्वं मे। नारायण करुणामय शरणं करवाणि तावकौ चरणौ। इति षट्पदी मदीये वदनसरोजे सदा वसतु।

श्रीगणेशाय नमः।

श्री सूर्यकवचम्

श्री सूर्य उवाच।

साम्ब साम्ब महाबाहो शृणु मे कवचं शुभम्।
त्रैलोक्यमङ्गलं नाम कवचं परमाद्भुतम्॥
यज्ज्ञात्वा मन्त्रवित्सम्यक् फलं प्राप्नोति निश्चितम्।
यद्धृत्वा च महादेवो गणानामधिपोऽभवत्।
पठनाद्धारणाद्विष्णुः सर्वेषां पालकः सदा।
एवमिन्द्रादयः सर्वे सर्वैश्वर्यमवाप्नुयुः॥
कवचस्य ऋषिर्ब्रह्मा छन्दोऽनुष्टुबुदाहृतः।
श्रीसूर्यो देवता चात्र सर्वदेवनमस्कृतः।
यशआरोग्यमोक्षेषु विनियोगः प्रकीर्तितः।
प्रणवो मे शिरः पातु घृणिर्मे पातु भालकम्॥
सूर्योऽव्यान्नयनद्वन्द्वमादित्यः कर्णयुग्मकम्।

अष्टाक्षरो महामन्त्रः सर्वाभीष्टफलप्रदः ।
ह्रीं बीजं मे मुखं पातु हृदयं भुवनेश्वरी ॥
चन्द्रबिम्बं विशदाद्यं पातु मे गुह्यदेशकम् ।
अक्षरोऽसौ महामन्त्रः सर्वतन्त्रेषु गोपितः ॥
शिवो वह्निसमायुक्तो वामाक्षी विन्दुभूषितः ।
एकाक्षरो महामन्त्रः श्रीसूर्यस्य प्रकीर्तितः ।
गुह्याद्गुह्यतरो मन्त्रो वांच्छाचिन्तामणिः स्मृतः ॥
शीर्षादिपादपर्यन्तं सदा पातु मनूत्तमः ।
इति ते कथितं दिव्यं त्रिषु लोकेषु दुर्लभम् ॥
श्रीपदं कान्तिदं नित्यं धनारोग्यविवर्धनम् ।
कुष्ठादिरोगशमनं महाव्याधि विनाशनम् ॥
त्रिसंध्यं यः पठेन्नित्यं रोगी बलवान्भवेत् ।
बहुना किमिहोक्तेन यद्यन्मनसि वर्तते ॥
तत्तत्सर्वं भवेत्तस्य कवचस्य च धारणात् ।
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षगन्धर्वराक्षसाः ।
ब्रह्मराक्षसवेताला न द्रष्टुमपि तं क्षमाः ।
दूरादेव पलायन्ते तस्य संकीर्तनादपि ॥
भूर्जपत्रे समालिख्य रोचनागुरुकुंकुमैः ।
रविवारे च संक्रान्त्यां सप्तम्यां च विशेषतः ॥
धारयेत्साधकश्रेष्ठः श्री सूर्यस्य प्रियो भवेत् ।
त्रिलोहमध्यगं कृत्वा धारयेद्दक्षिणे करे ।
शिखायामथवा कण्ठे सोपि सूर्यो न संशयः ॥
इति ते कथितं साम्ब त्रैलोक्यमङ्गलाभिधम् ।
कवचं दुर्लभं लोके तव स्नेहात्प्रकाशितम् ॥

अज्ञात्वा कवचं दिव्यं यो जपेत्सूर्यमुत्तमम्।
सिद्धिर्न जायते तस्य कल्पकोटिशतैरपि ॥

पशुपत्यष्टकम्

श्रीगणेशाय नमः। पशुरवीन्दुपतिं धरणीपतिं भुजगलोकपतिं च सतीपतिम्। प्रणतभक्तजनार्तिहरं परं भजत रे मनुजा गिरिजापतिम्। न जनको जननी न च सोदरो न तनयो न च भूरिबलं कुलम्। अवति कोपि न कालवशंगतं ॥ भज० ॥ मुरजडिण्डिमवाद्यविलक्षणं मधुरपंचमनादविशारदम्। प्रथमभूतगणैरपि सेवितं ॥ भज० ॥ शरणदं सुखदं शरणान्वितं शिवशिवेति शिवेति नतं नृणाम्। अभयदं करुणा वरुणालयं ॥ भज० ॥ नरशिरोरचितं मणिकुण्डलं भुजगहारमुदं वृषभध्वजम्। चितिरजोधवलीकृतविग्रहं ॥ भज० ॥ मखविनाशकरं शशिशेखरं सततमध्वरभाजिफलप्रदम्। प्रलयदग्धसुरासुरमानवं ॥ भज० ॥ मदमपास्य चिरं हृदि संस्थितं मरणजन्मजराभयपीडितम्। जगदुदीक्ष्य समीपभयाकुलं ॥ भज० ॥ हरिविरंचिसुराधिपपूजितं यमजनेश धनेशनमस्कृतम्। त्रिनयनं भुवनत्रितयाधिपं ॥ भज० ॥ पशुपतेरिदमष्टकमद्भुतं विरचितं पृथिवीपतिसूरिणा। पठति संशृणुते मनुजः सदा शिवपुरीं वसते लभते मुदम्।

शिवमहिम्नः स्तोत्रम्

श्रीगणेशायनमः। महिम्नः पारं ते परमविदुषो यद्यसदृशी स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः। अथावाच्यः सर्वः स्वमति परिणामावधि गृणन् ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः। अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोरतद्व्यावृत्त्यायं चकितमभिधत्ते श्रुतिरपि। स कस्य स्तोतव्यः कतिविधगुणः कस्य विषयः पदे त्वर्वाचीने

पतति न मनः कस्य न वचः। मधुस्फीता वाचः परममृतं निर्मितवतस्तव ब्रह्मन्किंवागपि सुरगुरोर्विस्मयपदम्। मम त्वेतां वाणीं गुणकथनपुण्येन भवतः पुनामीत्यर्थेऽस्मिन् पुरमथन बुद्धिर्व्यवसिता। तवैश्वर्यं यत्तज्जगदुदयरक्षाप्रलयकृत्त्रयीवस्तुव्यस्तं तिसृषु गुणभिन्नासु तनुषु। अभव्यानामस्मिन्वरद रमणीयामरमणीं विहन्तुं व्याक्रोशीं विदधत इहैके जडधियः। किमीहः किंकायः स खलु किमुपायस्त्रिभुवनं किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च। अतर्क्यैश्वर्ये त्वय्यनवसर दुस्थो हतधियः कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगतः। अजन्मानो लोकाः किमवयववन्तोऽपि जगतामधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति। अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरो यता मन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे। त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति चारुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव। महोक्षः खट्वाङ्गं परशुरजिनं भस्म फणिनः कपालं चेतीयत्तव वरद तन्त्रोपकरणम्। सुरास्तां तामृद्धिं दधति तु भवद्भ्रूप्रणिहितां नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति। ध्रुवं कश्चित्सर्वं सकलमपरस्त्वध्रुवमिदं परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये। समस्तेऽप्येतस्मिन्पुरमथन तैर्विस्मित इव स्तुवञ्जिह्वेमि त्वां न खलु ननु धृष्टा मुखरता। तवैश्वर्यं यत्नाद्यदुपरि विरिञ्चो हरिरधः परिच्छेत्तुं यातावनलमनलस्कन्धवपुषः। ततो भक्तिश्रद्धाभरगुरुगृणद्भ्यां गिरिश यत् स्वयं तस्थे ताभ्यां तव किमनुवृत्तिर्न फलति। अयत्नादापाद्य त्रिभुवनमवैरव्यतिकरं दशास्यो यद्बाहूनभृत रणकण्डूपरवशान्। शिरः पद्मश्रेणी रचितचरणाम्भोरुहबलेः स्थिरायास्त्वद्भक्तेस्त्रिपुरहर विस्फूर्जितमिदम्। अमुष्य त्वत्सेवासमधिगतसारं भुजवनं बलात्कैलासेऽपि त्वदधिवसतौ विक्रमयतः। अलभ्या पातालेऽप्यलसचलिताङ्गुष्ठ

शिरसि प्रविष्ठा त्वय्यासीदुधृ धमुपचितो मुह्यति खलः। यदृद्धिं सुत्राम्णो वरद परमोच्चैरपि सतीमधश्चक्रे बाण· परिजनविधेयत्रिभुवनः। न तच्चित्रं तस्मिन्वरिवसितरि त्वच्चरणयोर्न कस्याप्युन्नत्यै भवति शिरसस्त्वय्यवनतिः। अकाण्डब्रह्माण्डक्षयचकित देवा सुरकृपाविधेय स्यासीधस्त्रिनयन विषं संहृतवतः। स कल्माषः कण्ठे तव न कुरुते न श्रियमहो विकारोऽपि श्लाघ्यो भुवनभयभङ्गव्यसनिन.। असिद्धार्था नैव क्वचिदपि सदेवा· सुरनरे निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखाः। स पश्यन्नीश त्वामितरसुरसाधारणमभूत् स्मरः स्मर्तव्यात्मा न हि वशिषु पथ्यः परिभवः। मही पादाघाताद् व्रजति सहसा सशयपदं पदं विष्णोर्भ्राम्यद्भुजपरिघरुग्णग्रहगणम्। मुहुर्द्यौर्दौस्थ्यं यात्यनिभृतजटाताडिततटा जगद्रक्षायै त्वं नटसि ननु वामैव विभुता। वियद्व्यापी तारागण गुणितफेनोद्गमरुचिः प्रवाहो वारां यः पृषतलघुदृष्ट. शिरसि ते। जगद्द्वीपाकारं जलधिवलयं तेन कृतमित्यनेनैवोन्नेय धृतमहिम दिव्यं तववपुः। रथ क्षोणी यन्ता शतधृतिरगेन्द्रो धनुरथो रथाङ्गे चन्द्रार्कौ रथचरणपाणिः शर इति। दिधक्षोस्ते कोऽयं त्रिपुरतृणमाडम्बरविधिर्विधेयैः क्रीडन्त्यो न खलु परतंत्राः प्रभुधियः। हरिस्ते साहस्रं कमलबलिमाधाय पदयोर्यदेकोने तस्मिन्निजमुदहरन्नेत्रकमलम्। गतो भक्त्युद्रेकः परिणतिमसौ चक्रवपुषा त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम्। क्रतौ सुप्ते जाग्रत्त्वमसि फलयोगे क्रतुमतां क्व कर्म प्रध्वस्तं फलति पुरुषाराधनमृते। अतस्त्वां संप्रेक्ष्य क्रतुषु फलदानप्रतिभुवं श्रुतौ श्रद्धां बध्वा दृढपरिकरः॰ कर्मसु जनः। क्रियादक्षो दक्ष. क्रतुपतिरधीशस्तनुभृतामृषीणामार्त्विज्यं शरणद सदस्याः सुरगणाः। क्रतुभ्रंषस्त्वत्तः क्रतुफलविधानव्यसनिनो ध्रुवं कर्तुः श्रद्धाविधुरमभिचाराय हि मखाः। प्रजानाथं नाथ प्रसभमभिकं स्वां दुहितरं गतं रोहिद्भूतां रिरमयिषुमृष्यस्यवपुषा। धनुष्पाणेर्यातं दिवमपि

सपत्राकृतममुं त्रसन्तं तेऽद्यापि त्यजति न मृगव्याधरभसः। स्वलावण्याशंसाधृतधनुष मह्नाय तृणवत्पुरः प्लुष्टं दृष्ट्वा पुरमथन पुष्पायुधमपि। यदि स्त्रैणं देवी यमनिरतदेहार्धघटनादवैति त्वामद्धा बत वरद मुग्धा युवतयः। श्मशानेष्वाक्रीड़ा स्मरहर पिशाचाः सहचराश्चिताभस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः। अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं तथाऽपिस्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि। मनः प्रत्यक्चित्ते सविधमविधायत्तमरुतः प्रहृष्यद्रोमाणः प्रमदसलिलोत्सङ्गितदृशः। यदालोक्याह्लादं ह्रद इव निमज्यामृतमये दधत्यन्तस्तत्त्वं किमपि यमिनस्तत्किल भवान्। त्वमर्कस्त्वं सोमस्त्वमसि पवनस्त्वं हुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमु धरणिरात्मा त्वमिति च। परिच्छिन्नामेवं त्वयि परिणता बिभ्रति गिरं न विद्मस्तत्तत्त्वं वयमिह तु यत्त्वं न भवसि। त्रयीं तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवन मथो त्रीनपि सुरानकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्ण विकृति। तुरीयं ते धाम ध्वनिभिरवरुन्धानमणुभिः समस्तव्यस्तं त्वां शरणद गृणात्योमिति पदम्। भवः, शर्वो रुद्रः पशुपतिरथोग्रः सह महांस्तथा भीमेशानाविति यद भिधानाष्टकमिदम्। अमुष्मिन्प्रत्येकं प्रविचरति देव श्रुतिरपि प्रियायास्मैधाम्ने प्रणिहितनमस्योऽस्मि भवते। नमो नेदिष्ठाय प्रियदवदविष्ठाय च नमो नमः क्षोदिष्ठाय स्मरहर महिष्ठाय च नमः। नमो वर्षिष्ठाय त्रिनयनयविष्ठाय च नमो नमः सर्वस्मै ते तदिदमितिशर्वाय च नमः। बहलरजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमोनमः प्रबलतमसे तत्संहारे हराय नमोनमः। जनसुखकृते सत्त्वोद्रिक्तौ मृडाय नमो नमः प्रमहसि पदे निस्त्रैगुण्ये शिवाय नमो नमः कृशपरिणति चेतः क्लेशवश्यं क्व चेदं क्व च तव गुणसीमोल्लङ्घिनी शश्वदृद्धिः। इति चकितममन्दीकृत्य मां भक्तिराधाद्वरद चरणयोस्ते वाक्यपुष्पोपहारम्। असितगिरिसमं स्यात्कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी। लिखति यदि

गृहीत्वा शारदो सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति। असुर-सुर मुनीन्द्रैरर्चितस्येन्दुमौलेर्ग्रथितगुणमहिम्नो निर्गुणस्येश्वरस्य। सकलगुणवरिष्ठः पुष्पदन्ताभिधानो रुचिरमलघुवृत्तैः स्तोत्रमेतच्चकार। अहरहरनवद्यं धूर्जटेः स्तोत्रमेतत्पठति परमभक्त्या शुद्धचित्तः पुमान्यः। स भवति शिवलोके रुद्रतुल्यस्तथाऽत्र प्रचुरतरधनायु पुत्रवान्कीर्तिमांश्च। महेशान्नापरो देवो महिम्नो नापरा स्तुति.। अघोरान्नापरो मन्त्रो नास्ति तत्वं गुरोः परम्। दीक्षा दानं तपस्तीर्थं ज्ञानं यागादिकाः क्रियाः। महिम्नस्तवपाठस्य फलां नार्हन्ति षोड़शीम्। कुसुमदशननामा सर्वगन्धर्व राजः शशिधरवरमौलेर्देवदेवस्यदासः। सगुरुनिजमहिम्नो भ्रष्ट एवास्य रोषात्स्तवनमिदमकार्षीद्दिव्यदिव्यं महिम्नः। सुरवरमुनिपूज्यं स्वर्गमोक्षैक हेतुं पठति यदि मनुष्य प्राञ्जलिर्नान्यचेता। व्रजति शिवसमीपं किन्नरैः स्तूयमानः स्तवनमिदममोघं पुष्पदन्तप्रणीतम्। श्रीपुष्पदन्तमुखपङ्कज निर्गतेन स्तोत्रेण किल्बिषहरेण हरिप्रियेण। कण्ठस्थितेन पठितेन समाहितेन सुप्रीणितो भवति भूतपतिर्महेशः। इत्येषा वाङ्मयी पूजा श्री मच्छङ्करपादयोः। अर्पिता तेन मे देवः प्रीयता च सदाशिवः।

रामस्तवराज

श्रीगणेशाय नमः। अस्य श्रीरामचन्द्रस्तवराजस्तोत्रमंत्रस्य। सनत्कुमार ऋषिः। श्रीरामो देवता। अनुष्टुप्छंदः। सीता बीजम्। हनुमान् शक्तिः। श्रीरामप्रीत्यर्थे जपे विनियोगः।

सूतउवाच।

सर्वशास्त्रार्थ तत्त्वज्ञं व्यासं सत्यवतीसुतम्।
धर्म पुत्रः प्रहृष्टात्मा प्रत्युवाच मुनीश्वरम्॥

विज्ञानहेतुं विमलायताक्षं प्रज्ञानरूपं स्वसुखैकहेतुम् ।
श्रीरामचन्द्रं हरिमादिदेवं परात्परं राममहं भजामि ॥
कविं पुराणं पुरुषं पुरस्तात्सनातनं योगिनमीशितारम् ।
अणोरणीयांसमनन्तवीर्यं प्राणेश्वरं राममसौ ददर्श ॥

नारदउवाच ।

नारायणं जगन्नाथमभिरामं जगत्पतिम् ।
कविं पुराणं वागीशं रामं दशरथात्मजम् ॥
राजराजं रघुवरं कौशल्यानंदवर्धनम् ।
भर्गं वरेण्यं विश्वेशं रघुनाथं जगद्गुरुम् ॥
सत्यं सत्यप्रियं श्रेष्ठं जानकीवल्लभं विभुम् ।
सौमित्रिपूर्वजं शांतं कामदं कमलेक्षणम् ॥
आदित्यं रविमीशानं घृणिं सूर्यमनायम् ।
आनन्दरूपिणं सौम्यं राघवं करुणामयम् ।
जामदग्निं तपोमूर्तिं रामं परशुधारिणम् ॥
वाक्पतिं वरदं वाच्यं श्रीपतिं पक्षिवाहनम् ।
श्रीशार्ङ्गधारिणं रामं चिन्मयानन्दविग्रहम् ॥
हलधृग्विष्णुमीशानं बलरामं कृपानिधिम् ।
श्रीवल्लभं कृपानाथं जगन्मोहनमच्युतम् ॥
मत्स्यकूर्मवराहादिरूपधारिणमव्ययम् ।
वासुदेवं जगद्योनिमनादिनिधनं हरिम् ॥
गोविन्दं गोपतिं विष्णुं गोपीजनमनोहरम् ।
गोगोपालपरीवारं गोपकन्यासमावृतम् ॥
विद्युत्पुंजप्रतीकाशं रामं कृष्णं जगन्मयम् ।
गोगोपिकासमीकीर्णं वेणुवादनतत्परम् ॥

कामरूपं कलावन्तं कामिनीकामदं विभुम्।
मन्मथं मथुरानाथं माधवं मकरध्वजम्॥
श्रीधरं श्रीकरं श्रीशं श्रीनिवासं परात्परम्।
भूतेशं भूपतिं भद्रं विभूतिं भूमिभूषणम्॥
सर्वदुःखहरं वीरं दुष्टदानववैरिणम्।
श्रीनृसिंहं महाबाहुं महान्तं दीप्ततेजसम्॥
चिदानन्दमयं नित्यं प्रणवं ज्योतिरूपिणम्।
आदित्यमंडलगतं निश्चितार्थस्वरूपिणम्॥
भक्तप्रियं पद्मनेत्रं भक्तानामीप्सितप्रदम्।
कौसलेयं कलामूर्तिं काकुत्स्थं कमलाप्रियम्॥
सिंहासने समासीनं नित्यव्रतमकल्मषम्।
विश्वामित्रप्रियं दान्तं स्वदारनियतव्रतम्॥
यज्ञेशं यज्ञपुरुषं यज्ञपालनतत्परम्।
सत्यसंधं जितक्रोधं शरणागतवत्सलम्॥
सर्वक्लेशापहरणं विभीषणवरप्रदम्।
दशग्रीवहरं रौद्रं केशवं केशिमर्दनम्॥
वालिप्रमथनं वीरं सुग्रीवेप्सितराज्यदम्।
नरवानरदेवैश्च सेवितं हनुमत्प्रियम्॥
शुद्धं सूक्ष्मं परं शांतं तारकब्रह्मरूपिणम्।
सर्वभूतात्मभूतस्थं सर्वाधारं सनातनम्॥
सर्वकारणकर्तारं निदानं प्रकृतेः परम्।
निरामयं निराभासं निरवद्यं निरञ्जनम्॥
नित्यानंदं निराकारमद्वैतं तमसः परम्।
परात्परतरं तत्त्वं सत्यानंदं चिदात्मकम्॥

मनसा शिरसा नित्यं प्रणमामि रघूत्तमम्।
सूर्यमण्डलमध्यस्थं रामं सीतासमन्वितम्॥
नमामि पुंडरीकाक्षममेयं गुरुतत्परम्।
नमोस्तु वासुदेवाय ज्योतिषां पतये नमः॥
नमोस्तु रामदेवाय जगदानंदरूपिणे।
नमो वेदांतनिष्ठाय योगिने ब्रह्मवादिने॥
मायामयनिरासाय प्रपन्नजनसेविने।
वंदामहे महेशानचंडकोदण्डखण्डनम्॥
जानकीहृदयानन्दवर्धनं रघुनन्दनम्।
उत्फुल्लामलकोमलोत्पलदलश्यामाय रामाय ते
कामाय प्रमदामनोहरगुणग्रामाय रामात्मने॥
योगारूढमुनींद्रमानससरोहंसाय संसारविध्वंसाय
स्फुरदोजसे रघुकुलोत्तंसाय पुंसे नमः।
भवोद्भवं वेदविदांवरिष्ठमादित्यचन्द्रानलसुप्रभावम्।
सर्वात्मकं सर्वगतस्वरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात्॥
निरञ्जनं निष्प्रतिमं निरीहं निराश्रयं निष्कलमप्रपंचम्।
नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं निरन्तरं राममहं भजामि॥
भवाब्धिपोतं भरताग्रजं तं भक्तप्रियं भानुकुलप्रदीपम्।
भूतत्रिनाथं भुवनाधिपं तं भजामि रामं भवरोगवैद्यम्॥
सर्वाधिपत्यं समरांगधीरं सत्यं चिदानन्दमयस्वरूपम्।
सत्यं शिवं शान्तिमयं शरण्यं सनातनं राममहं भजामि।
कार्यक्रियाकारणमप्रमेयं कविं पुराणं कमलायताक्षम्॥
कुमारवेद्यं करुणामयं तं कल्पद्रुमं राममहं भजामि।
त्रैलोक्यनाथं सरसीरुहाक्षं दयानिधिं द्वन्द्वविनाशहेतुम्॥

महाबलं वेदविधिं सुरेशं सनातनं राममहं भजामि ।
वेदान्तवेद्यं कविमीशितारमनादिमध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम् ॥
अगोचरं निर्मलमेकरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात् ।
अशेषवेदात्मकमादिसंज्ञमजं हरिं विष्णुमनन्तमाद्यम् ॥
अपारसंवित्सुखमेकरूपं परात्परं राममहं भजामि ।
तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम् ॥
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि ।
लोकाभिरामं रघुवंशनाथं हरिं चिदानन्दमयं मुकुन्दम् ॥
अशेषविद्याधिपतिं कवीन्द्रं नमामि रामं तमसः परस्तात् ।
योगीन्द्रसंघैश्च सुसेव्यमानं नारायणं निर्मलमादिदेवम् ॥
नतोऽस्मि नित्यं जगदेकनाथमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
विभूतिदं विश्वसृजं विरामं राजेन्द्रमीशं रघुवंशनाथम् ॥
अचिन्त्यमव्यक्तमनंतमूर्तिं ज्योतिर्मयं राममहं भजामि ।
अशेषसंसारविहारहीनमादित्यगं पूर्णसुखाभिरामम् ॥
समस्तसाक्षिं तमसः परस्तान्नारायणं विष्णुमहं भजामि ।
मुनीन्द्रगुह्यं परिपूर्णकामं कलानिधिं कल्मषनाशहेतुम् ॥
परात्परं यत्परमं पवित्रं नमामि रामं महतो महान्तम् ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च देवेंद्रो देवतास्तथा ॥
आदित्यादिग्रहाश्चैव त्वमेव रघुनन्दन ।
तापसा ऋषयः सिद्धाः साध्याश्च मरुतस्तथा ॥
विप्रा वेदास्तथा यज्ञाः पुराणधर्मसंहिताः ।
वर्णाश्रमास्तथा धर्मा वर्णधर्मास्तथैव च ॥
यक्षराक्षसगंधर्वा दिक्पाला दिग्गजादयः ।
सनकादिमुनिश्रेष्ठास्त्वमेव रघुपुंगव ॥

वसवोष्टौ त्रयः काला रुद्रा एकादश स्मृताः।
तारका दशदिक् चैव त्वमेव रघुनन्दन ॥
सप्तद्वीपाः समुद्राश्च नगा नद्यस्तथा द्रुमाः।
स्थावरा जंगमाश्चैव त्वमेव रघुनायक ॥
देवतिर्यङ्मनुष्याणां दानवानां तथैव च।
मातापिता तथा भ्राता त्वमेव रघुवल्लभ ॥
सर्वेषां त्वं परं ब्रह्म त्वन्मयं सर्वमेव हि।
त्वमक्षरं परं ज्योतिस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥
त्वमेव तारकं ब्रह्म त्वत्तोऽन्यन्नैव किंचन।
शान्तं सर्वगतं सूक्ष्मं परंब्रह्म सनातनम् ॥
राजीवलोचनं रामं प्रणमामि जगत्पतिम्।

व्यास उवाच।

ततः प्रसन्नः श्रीरामः प्रोवाच मुनिपुंगवम्।
तुष्टोऽस्मि मुनिशार्दूल वृणीष्व वरमुत्तमम् ॥

नारद उवाच।

यदि तुष्टोऽसि सर्वज्ञ श्रीराम करुणानिधे।
त्वन्मूर्तिदर्शनेनैव कृतार्थोऽहं च सर्वदा ॥
धन्योऽहं कृतकृत्योऽहं पुण्योऽहं पुरुषोत्तम।
अद्य मे सफलं जन्म जीवितं सफलं च मे ॥
अद्य मे सफलं ज्ञानमद्य मे सफलं तपः।
अद्य मे सफलं कर्म त्वत्पादांभोजदर्शनात् ॥
अद्य मे सफलं सर्वं त्वन्नामस्मरणं तथा।
त्वत्पादांभोरुहद्वन्द्वसद्भक्तिं देहि राघव ॥
ततः परमसंप्रीतः स रामः प्राह नारदम्।

श्रीरामउवाच ।

मनुष्यर्व महाभाग मुने त्विष्टं ददामि ते ।
यत्त्वया चेप्सितं सर्वं मनसा तद्भविष्यति ॥

नारदउवाच ।

वरं न याचे रघुनाथ युष्मत्पादाब्जभक्तिः सततं ममास्तु ।
इदं प्रियं नाथ वरं प्रयाचे पुनः पुनस्त्वामिदमेव याचे ॥

व्यासउवाच ।

इत्येवमीडितो रामः प्रादात्तस्मै वरांतरम् ।
वीरो रामो महातेजाः सच्चिदानन्दविग्रहः ॥
अद्वैतममलं ज्ञानं स्वनामस्मरण तथा।
अन्तर्दधौ जगन्नाथः पुरतस्तस्य राघवः ॥
इति श्रीरघुनाथस्य स्तवराजमनुत्तमम् ।
सर्वसौभाग्यसपत्तिदायकं मुक्तिदं शुभम् ॥
कथितं ब्रह्मपुत्रेण वेदानां सारमुत्तमम् ।
गुह्याद्गुह्यतमं दिव्य तव स्नेहात्प्रकीर्तितम् ॥
यः पठेच्छृणुयाद्वापि त्रिसंध्यं श्रद्धयान्वितः ।
ब्रह्महत्यादिपापानि तत्समानि बहूनि च ॥
स्वर्णस्तेयं सुरापानं गुरुतल्पगतिस्तथा ।
गोवधाद्युपपापानि अनृतात्संभवानि च ॥
सर्वैः प्रमुच्यते पापैः कल्पायुतशतोद्भवैः ।
मानसं वाचिकं पापं कर्मणा समुपार्जितम् ॥
श्रीरामस्मरणेनैव तत्क्षणान्नश्यति ध्रुवम् ।
इदं सत्यमिदं सत्यं सत्यमेतदिहोच्यते ॥
रामं सत्यं परं ब्रह्म रामात्किंचिन्न विद्यते ।
तस्माद्रामस्वरूपं हि सत्यं सत्यमिदं जगत् ॥

श्रीरामचन्द्र रघुपुंगव राजवर्य।
राजेन्द्र राम रघुनायक राघवेश।
राजाधिराज रघुनन्दन रामचन्द्र।
दासोऽहमद्य भवतः शरणागतोऽस्मि।
वैदेहीसहितं सुरद्रुमतले हैमे महामंडपे।
मध्ये पुष्पकृतासने मणिमये वीरासने संस्थितम्।
अग्रे वाचयति प्रभञ्जनसुते तत्त्वं मुनीन्द्रैः परं
व्याख्यातं भरतादिभिः परिवृतं रामं भजे श्यामलम्।
रामं रत्नकिरीटकुंडलयुतं केयूरहारान्वितं
सीतालंकृतवामभागममलं सिंहासनस्थं विभुम्।
सुग्रीवादिहरीश्वरैः सुरगणैः संसेव्यमानं सदा
विश्वामित्रपराशरादिमुनिभिः संस्तूयमानं प्रभुम्।
सकलगुणनिधानं योगिभिः स्तूयमानं
भुजविजितसमानं राक्षसेन्द्रादिमानम्।
महितनृपभयानं सीतया शोभमानं
स्मरहृदयविमानं ब्रह्म रामाभिधानम्।
रघुवर तव मूर्तिर्मामके मानसाब्जे
नरकगतिहरं ते नामधेयं मुखे मे।
अनिशमतुलभक्त्या मस्तकं त्वत्पदाब्जे
भवजलनिधिमग्नं रक्ष मामार्तबंधो।
रामरत्नमहं वंदे चित्रकूटपतिं हरिम्।
कौसल्याभक्तिसंभूतं जानकीकंठभूषणम्।

इति श्री सनत्कुमार संहितायां नारदोक्तं श्रीरामचन्द्रस्तवराजस्तोत्रं सम्पूर्णम्।

सावित्रीव्रतोपाख्यान

युधिष्ठिर उवाच

पितामह महाप्राज्ञ सर्वशास्त्रविशारद ।
किं जप्यं जपतो नित्यं भवेद्धर्मफलं महत् ॥ १ ॥
प्रस्थाने वा प्रवेशे वा प्रवृत्ते वापि कर्मणि ।
दैवे वा श्राद्धकाले वा किं जप्यं कर्मसाधनम् ॥
शान्तिकं पौष्टिकं रक्षा शत्रुघ्नं भयनाशनम् ।
जप्यं यद्‌ब्रह्मसमितं तद्भवान् वक्तुमर्हति ॥

भीष्म उवाच

व्यासप्रोक्तमिमं मन्त्रं शृणुष्वैकमना नृप ।
सावित्र्या विहितं दिव्यं सद्यः पापविमोचनम् ॥
शृणु मन्त्रविधिं कृत्स्नं प्रोच्यमानं मयाऽनघ ।
यं श्रुत्वा पाण्डवश्रेष्ठ सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥
रात्रावहनि धर्मज्ञ जपन् पापैर्न लिप्यते ।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमना नृप ॥
आयुष्मान् भवते चैव यं श्रुत्वा पार्थिवात्मज ।
पुरुषस्तु सुसिद्धार्थः प्रेत्य चेह च मोदते ॥
सेवितं सततं राजन् पुरा राजर्षिसत्तमैः ।
क्षत्रधर्मपरैर्नित्यं सत्यव्रतपरायणैः ॥
इदमाह्निकमव्यग्रं कुर्वद्भिर्नियतैः सदा ।
नृपैर्भरतशार्दूल प्राप्यते श्रीरनुत्तमा ॥
नमो वशिष्ठाय महाव्रताय पराशरं वेदनिधिं नमस्ये ।
नमोऽस्त्वनन्ताय महोरगाय नमोऽस्तु सिद्धेभ्य इहाक्षयेभ्यः

नमोऽस्त्वृषिभ्यः परमं परेषां देवेषु देवं वरदं वराणाम् ।

सहस्रशीर्षाय नमःशिवाय सहस्रनामाय जनार्दनाय ॥

अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी चापराजितः ।

ऋतश्च पितृरूपश्च त्र्यम्बकश्च महेश्वरः ॥

वृषाकपिश्च शम्भुश्च हवनोऽथेश्वरस्तथा ।

एकादशैते प्रथिता रुद्रास्त्रिभुवनेश्वराः ॥

शतमेतत्समाम्नातं शतरुद्रे महात्मनाम् ।

अंशो भगश्च मित्रश्च वरुणश्च जलेश्वरः ॥

तथा धातार्यमा चैव जयन्तो भास्करस्तथा ।

त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते ॥

इत्येते द्वादशादित्या काश्यपेया इति श्रुतिः ।

धरो ध्रुवश्च सोमश्च सावित्रोथानिलोऽनलः ॥

प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।

नासत्यश्चापि दस्रश्च स्मृतौ द्वावश्विनावपि ॥

मार्तण्डस्यात्मजावेतौ संज्ञानासाविनिर्गतौ ।

अतः परं प्रवक्ष्यामि लोकानां कर्मसाक्षिणः ॥

अपि यज्ञस्य वेत्तारो दत्तस्य सुकृतस्य च ।

अदृश्याः सर्वभूतेषु पश्यन्ति त्रिदशेश्वराः

शुभाशुभानि कर्माणि मृत्युः कालश्च सर्वशः ।

विश्वेदेवाः पितृगणा मूर्तिमन्तस्तपोधनाः ॥ २० ॥

मुनयश्चैव सिद्धाश्च तपोमोक्षपरायणाः ।

शुचिस्मिताः कीर्तयतां प्रयच्छन्ति शुभं नृणाम् ॥

प्रजापतिकृतानेतान् लोकान् दिव्येन तेजसा ।

वसन्ति सर्वलोकेषु प्रयताः सर्वकर्मसु ॥

प्राणानामीश्वरानेतान् कीर्तयन्प्रयतो नरः ।
धर्मार्थकामैर्विपुलैर्युज्यते सह नित्यशः ॥
लोकांश्च लभते पुण्यान्विश्वेश्वरकृताञ्छुभान् ।
एते देवास्त्रयस्त्रिंशत्सर्वभूतगणेश्वराः ।
नन्दीश्वरो महाकायो ग्रामणीर्वृषभध्वजः ।
ईश्वराः सर्वलोकानां गणेश्वरविनायकाः ॥
सौम्या रौद्रा गणाश्चैव योगभूतगणास्तथा ।
ज्योतींषि सरितो व्योम सुपर्णः पतगेश्वरः ॥
पृथिव्यां तपसा सिद्धाः स्थावराश्च चराश्च ह ।
हिमवान् गिरयः सर्वे चत्वारश्च महार्णवाः ॥
भवस्यानुचराश्चैव हरतुल्यपराक्रमाः ।
विष्णुर्देवोथ जिष्णुश्च स्कन्दश्चाम्बिकया सह ॥
कीर्तयन्प्रयतः सर्वान्सर्वपापैः प्रमुच्यते ।
अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि मानवानृषिसत्तमान् ॥
यवक्रीतश्च रैभ्यश्च अर्वावसुपरावसू ।
औशिजश्चैव कक्षीवान् बलश्चाङ्गिरसःसुतः ॥
ऋषिर्मेधातिथेः पुत्रः कण्वो बर्हिषदस्तथा ।
ब्रह्मतेजोमयाः सर्वे कीर्तिता लोकभावनाः ॥
लभन्ते हि शुभं सर्वे रुद्रानलवसुप्रभाः ।
भुवि कृत्वा शुभं कर्म मोदन्ते दिवि दैवतैः ॥
महेन्द्रगुरवः सप्त प्राचीं वै दिशमाश्रिताः ।
प्रयतः कीर्तयेदेतान् शक्रलोके महीयते ॥
उन्मुचुः प्रमुचुश्चैव स्वस्त्यात्रेयश्च वीर्यवान् ।
दृढव्यश्चोर्ध्वबाहुश्च तृणसोमाङ्गिरास्तथा ॥

मित्रावरुणयोः पुत्रस्तथागस्त्यः प्रतापवान् ।
धर्मराजर्त्विजः सप्त दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥
दृढ़ेयुश्च ऋतेयुश्च परिव्याधश्च कीर्तिमान् ।
एकतश्च द्वितश्चैव त्रितश्चादित्यसन्निभाः ॥
अत्रः पुत्रश्च धर्मात्मा ऋषिः सारस्वतस्तथा ।
वरुणस्यर्त्विजः सप्त पश्चिमां दिशमाश्रिताः ॥
अत्रिर्वसिष्ठो भगवान् कश्यपश्च महानृषिः ।
गौतमश्च भरद्वाजो विश्वामित्रोऽथ कौशिकः ॥
ऋचीकतनयश्चोग्रो जमदग्निः प्रतापवान् ।
धनेश्वरस्य गुरवः सप्तैते उत्तराश्रिताः ॥
अपरे मुनयः सप्त दिक्षु सर्वास्वधिष्ठिताः ।
कीर्तिस्वस्तिकरा नृणां कीर्तिता लोकभावनाः ॥ ४० ॥
धर्मः कामश्च कालश्च वसुर्वासुकिरेव च ।
अनन्तः कपिलश्चैव सप्तैते धरणीधराः ॥
रामो व्यासस्तथा द्रौणिरश्वत्थामा च लोमशः ।
इत्येते मुनयो दिव्या एकैकः सप्त सप्तधा ॥
शान्तिस्वस्तिकरा लोके दिशांपालाः प्रकीर्तिताः ।
यस्यां यस्यां दिशि ह्येते तन्मुखः शरणं व्रजेत् ॥
स्रष्टारः सर्वभूतानां कीर्तिता लोकपावनाः ।
संवर्तो मेरुसावर्णो मार्कण्डेयश्च धार्मिकः ॥
सांख्ययोगौ नारदश्च दुर्वासा महानृषिः ।
अत्यन्ततपसो दान्तास्त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥
अपरे रुद्रसङ्काशाः कीर्तिता महालौकिकाः ।
अपुत्रो लभते पुत्रं दरिद्रो लभते धनम् ॥

तथा धर्मार्थकामेषु सिद्धिं च लभते नर ।
पृथुं वैन्यं नृपवरं पृथ्वी यस्याभवत्सुता ॥
प्रजापतिं सार्वभौमं कीर्तयेद्वसुधाधिपम् ।
आदित्यवंशप्रभवं महेन्द्रसमविक्रमम् ॥
पुरूरवसमैलं च त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ।
बुधस्य दयितं पुत्रं कीर्तयेद्वसुधाधिपम् ॥
त्रिलोकविश्रुतं वीरं भरतं च प्रकीर्तयेत् ।
गवामयेन यज्ञेन येनेष्टं वै कृते युगे ॥
रन्तिदेवं महादेवं कीर्तयेत्परमद्युतिम् ।
विश्वजित्तपसोपेतं लक्षण्यं लोकपूजितम् ॥
तथा श्वेतं च राजर्षिं कीर्तयेत्परमद्युतिम् ।
सगरस्यात्मजा येन प्लाविताःस्तारितास्तथा ॥
हुताशनसमानेतान् महारूपान् महौजस ।
उग्रकायान्महासत्त्वान्कीर्तयेत्कीर्तिवर्धनान् ॥
देवानृषिगणाश्चैव नृपाश्च जगतीश्वरान् ।
सांख्यं योगं च परमं हव्यं कव्यं तथैव च ॥
कीर्तितं परमं ब्रह्म सर्वश्रुतिपरायणम् ।
मङ्गल्यं सर्वभूतानां पवित्रं बहुकीर्तितम् ॥
व्याधिप्रशमनं श्रेष्ठं पौष्टिकं सर्वकर्मणाम् ।
प्रयत कीर्तयेच्चैतान् कल्यं सायं च भारत ॥
एते वै यान्ति वर्षन्ति भान्ति वान्ति सृजन्ति च ।
एते विनायका श्रेष्ठा दक्षा क्षान्ता जितेन्द्रिया. ॥
नराणामशुभं सर्वे व्यपोहन्ति प्रकीर्तिता ।
साक्षिभूता महात्मान पापस्य सुकृतस्य च ॥

एतान्वै कल्यमुत्थाय कीर्तयन् शुभमश्नुते ।
नाग्निचौरभयं तस्य न मार्गप्रतिरोधनम् ॥
एतान् कीर्तयतां नित्यं दुःस्वप्नो नश्यते नृणाम् ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यः स्वस्तिमांश्च गृहान् व्रजेत् ॥ ६० ॥
दीक्षाकालेषु सर्वेषु यः पठेन्नियतो द्विजः ।
न्यायवानात्मनिरतः क्षान्तो दान्तोऽनसूयकः ॥
रोगार्तो व्याधियुक्तो वा पठन् पापात्प्रमुच्यते ।
वास्तुमध्ये तु पठतः कुले स्वस्त्ययनं भवेत् ॥
क्षेत्रमध्ये तु पठतः सर्वं सस्यं प्ररोहति ।
गच्छतः क्षेममध्वानं ग्रामान्तरगतः पठन् ॥
आत्मनश्च सुतानां च दाराणां च धनस्य च ।
बीजानामोषधीनां च रक्षामेतां प्रयोजयेत् ॥
एतान् संग्रामकाले तु पठतः क्षत्रियस्य तु ।
व्रजन्ति रिपवो नाशं क्षेमं च परिवर्तते ॥
एतान्दैवे च पित्र्ये च पठतः पुरुषस्य हि ।
भुञ्जते पितरः कव्यं हव्यं च त्रिदिवौकसः ॥
न व्याधिश्वापदभयं न द्विपान्न हि तस्करात् ।
कश्मलं लघुतां याति पाप्मना च प्रमुच्यते ॥
यानपात्रे च याने च प्रवासे राजवेश्मनि ।
परां सिद्धिमवाप्नोति सावित्रीं ह्युत्तमां पठन् ॥
न च राजभयं तेषां न पिशाचान्न राक्षसात् ।
नाग्न्यम्बुपवनव्यालाद्भयं तस्योपजायते ॥
चतुर्णामपि वर्णानामाश्रमस्य विशेषतः ।
करोति सततं शान्तिं सावित्रीमुत्तमां पठन् ॥

नाग्निर्दहति काष्ठानि सावित्री यत्र पठ्यते ।
न तत्र बालो म्रियते न च तिष्ठन्ति पन्नगाः ॥
न तेषां विद्यते दुःखं गच्छन्ति परमां गतिम् ।
ये शृण्वन्ति महद्ब्रह्म सावित्रीगुणकीर्तनम् ॥
गवां मध्ये तु पठतो गावोऽस्य बहुवत्सलाः ।
प्रस्थाने वा प्रवासे वा सर्वावस्थां गतः पठेत् ॥
जपतां जुह्वतां चैव नित्यं च प्रयतात्मनाम् ।
ऋषीणां परमं जप्यं गुह्यमेतन्नराधिप ॥
याथातथ्येन सिद्धस्य इतिहासं पुरातनम् ।
पराशरमतं दिव्यं शक्राय कथितं पुरा ॥
तदेतत्ते समाख्यातं तथ्यं ब्रह्म सनातनम् ।
हृदयं सर्वभूतानां श्रुतिरेषा सनातनी ॥
सोमादित्यान्वयाः सर्वे राघवाः कुरवस्तथा ।
पठन्ति शुचयो नित्यं सावित्रीं प्राणिनां गतिं ॥
अभ्यासे नित्यं देवानां सप्तर्षीणां ध्रुवस्य च ।
मोक्षणं सर्वकृच्छ्राणां मोचयत्यशुभात्सदा ॥
वृद्धैः काश्यपगौतमप्रभृतिभिर्भृग्वंगिरो ... ...
शुक्रागस्त्यबृहस्पतिप्रभृतिभिर्ब्रह्मर्षिभिः सेवितम् ।
भारद्वाजमतं ऋचीकतनयैः प्राप्तं वसिष्ठात् पुनः ।
सावित्रीमधिगम्य शक्रवसुभिः कृत्स्ना जिता दानवाः ॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे च बहुश्रुताय ।
दिव्यां च भारतकथां कथयेच्च नित्यं
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ ८० ॥

धर्मो विवर्धति भृगोः परिकीर्तनेन
वीर्यं विवर्धति वसिष्ठनमोनतेन।
संग्रामजिद्भवति चैव रघुं नमस्यन्
स्यादश्विनौ च परिकीर्तयतो न रोगः॥
एषा ते कथिता राजन् सावित्री ब्रह्म शाश्वती।
विवक्षुरसि यचान्यत्तत्ते वक्ष्यामि भारत॥ ८२॥

विष्णुसहस्रनाम

शान्ताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशं
विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम्।
लक्ष्मीकान्तं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यं
वन्दे विष्णुं भवभयहरं सर्वलोकैकनाथम्॥
यस्यस्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे।
नमः समस्तभूतानामादिभूताय भूभृते
अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे।

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा धर्मानशेषेण पावनानि च सर्वशः।
युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत॥ १॥

युधिष्ठिर उवाच

किमेकं दैवतं लोके किं वाप्येकं परायणम्।
स्तुवन्तः कं कमर्चन्तः प्राप्नुयुर्मानवाः शुभम्॥
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥

भीष्म उवाच

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायंस्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं विष्णुं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम्॥
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥
परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानां च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानां च भूतानां योऽव्ययः पिता॥
यतः सर्वाणि भूतानि भवन्त्यादियुगागमे।
यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये॥
तस्य लोकप्रधानस्य जगन्नाथस्य भूपते।
विष्णोर्नामसहस्रं मे शृणु पापभयापहम्॥
यानि नामानि गौणानि विख्यातानि महात्मनः।
ऋषिभिः परिगीतानि तानि वक्ष्यामि भूतये॥
ॐ विश्वं विष्णुर्वषट्कारो भूतभव्यभवत्प्रभुः।
भूतकृद्भूतभृद्भावो भूतात्मा भूतभावनः॥
पूतात्मा परमात्मा च मुक्तानां परमा गतिः।

सत्कर्ता सत्कृतः साधुर्जह्नुर्नारायणो नरः ॥
असंख्येयोऽप्रमेयात्मा विशिष्टः शिष्टकृच्छुचिः ।
सिद्धार्थः सिद्धसंकल्पः सिद्धिदः सिद्धिसाधनः ॥ ४० ॥
वृषाही वृषभो विष्णुर्वृषपर्वा वृषोदरः ।
वर्धनो वर्धमानश्च विविक्तः श्रुतिसागरः ॥
सुभुजो दुर्धरो वाग्मी महेन्द्रो वसुदो वसुः ।
नैकरूपो बृहद्रूपः शिपिविष्टः प्रकाशनः ॥
ओजस्तेजो द्युतिधरः प्रकाशात्मा प्रतापनः ।
ऋद्धःस्पष्टाक्षरो मन्त्रश्चन्द्रांशुर्भास्करद्युतिः ॥
अमृतांशूद्भवो भानुः शशबिन्दुः सुरेश्वरः ।
औषधं जगतः सेतुः सत्यधर्मपराक्रमः ॥
भूतभव्यभवन्नाथः पवनःपावनोऽनलः ।
कामहा कामकृत्कान्तः कामः कामप्रदः प्रभुः ॥
युगादिकृद्युगावर्तो नैकमायो महाशनः ।
अदृश्योऽव्यक्तरूपश्च सहस्रजिदनन्तजित् ॥
इष्टो विशिष्टः शिष्टेष्टः शिखण्डी नहुषो वृषः ।
क्रोधहा क्रोधकृत्कर्ता विश्वबाहुर्महीधरः ॥
अच्युतः प्रथितःप्राणः प्राणदो वासवानुजः ।
अपां निधिरधिष्ठानमप्रमत्तः प्रतिष्ठितः ॥
स्कन्दः स्कन्दधरो धुर्यो वरदो वायुवाहनः ।
वासुदेवो बृहद्भानुरादिदेवः पुरन्दरः ॥
अशोकस्तारणस्तारः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ।
अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः ॥
पद्मनाभोऽरविन्दाक्षः पद्मगर्भः शरीरभृत् ।

महर्षिर्भूद्रो वृद्धात्मा महाक्षो गरुडध्वजः ॥
अतुलः शरभो भीमः समयज्ञो हविर्हरिः ।
सर्वलक्षणलक्षण्यो लक्ष्मीवान्समितिंजयः ॥
विक्षरो रोहितो मार्गो हेतुर्दामोदरः सहः ।
महीधरो महाभागो वेगवानमिताशनः ॥
उद्भवः क्षोभणो देवः श्रीगर्भः परमेश्वरः ।
करणं कारणं कर्ता विकर्ता गहनो गुहः ॥
व्यवसायो व्यवस्थानः संस्थानः स्थानदो ध्रुवः ।
परर्द्धिः परमस्पष्टस्तुष्टः पुष्टः शुभेक्षणः ॥
रामो विरामो विरजो मार्गो नेयो नयोऽनयः ।
वीरः शक्तिमतां श्रेष्ठो धर्मो धर्मविदुत्तमः ॥
वैकुण्ठः पुरुषः प्राणः प्राणदः प्रणवः पृथुः ।
हिरण्यगर्भः शत्रुघ्नो व्याप्तो वायुरधोक्षजः ॥
ऋतुः सुदर्शनः कालः परमेष्ठी परिग्रहः ।
उग्रः संवत्सरो दक्षो विश्रामो विश्वदक्षिणः ॥
विस्तारः स्थावरः स्थाणुः प्रमाणं बीजमव्ययम् ।
अर्थोऽनर्थो महाकोशो महाभोगो महाधनः ॥
अनिर्विण्णः स्थविष्ठोऽभूर्धर्मयूपो महामखः ।
नक्षत्रनेमिर्नक्षत्री क्षमः क्षामः समीहनः ॥ ६० ॥
यज्ञ इज्यो महेज्यश्च क्रतुः सत्रं सतां गतिः ।
सर्वदर्शी विमुक्तात्मा सर्वज्ञो ज्ञानमुत्तमम् ॥
सुव्रतः सुमुखः सूक्ष्मः सुघोषः सुखदः सुहृत् ।
मनोहरो जितक्रोधो वीरबाहुर्विदारणः ॥
स्वापनः स्ववशो व्यापी नैकात्मा नैककर्मकृत् ।

वत्सरो वत्सलो वत्सी रत्नगर्भो धनेश्वरः ॥
धर्मगुब्धर्मकृद्धर्मी सदसत्क्षरमक्षरम् ।
अविज्ञाता सहस्रांशुर्विधाता कृतलक्षणः ॥
गभस्तिनेमिः सत्त्वस्थः सिंहो भूतमहेश्वरः ।
आदिदेवो महादेवो देवेशो देवभृद्गुरुः ॥
उत्तरो गोपतिर्गोप्ता ज्ञानगम्यः पुरातनः ।
शरीरभूतभृद्भोक्ता कपीन्द्रो भूरिदक्षिणः ॥
सोमपोऽमृतपः सोमः पुरुजित्पुरुसत्तमः ।
विनयो जयः सत्यसन्धो दाशार्हः सात्वतां पतिः ॥
जीवो विनयिता साक्षी मुकुन्दोऽमितविक्रमः ।
अम्भोनिधिरनन्तात्मा महोदधिशयोऽन्तकः ॥
अजो महार्हः स्वाभाव्यो जितामित्रः प्रमोदनः ।
आनन्दो नन्दनो नन्दः सत्यधर्मा त्रिविक्रमः ॥
महर्षिः कपिलाचार्यः कृतज्ञो मेदिनीपतिः ।
त्रिपदस्त्रिदशाध्यक्षो महाशृङ्गः कृतान्तकृत् ॥
महावराहो गोविन्दः सुषेणः कनकाङ्गदी ।
गुह्यो गभीरो गहनो गुप्तश्चक्रगदाधरः ॥
वेधाः स्वाङ्गोऽजितः कृष्णो दृढः सङ्कर्षणोऽच्युतः ॥
वरुणो वारुणो वृक्षः पुष्कराक्षो महामनाः ॥
भगवान्भगहा नन्दी वनमाली हलायुधः ।
आदित्यो ज्योतिरादित्यः सहिष्णुर्गतिसत्तमः ॥
सुधन्वा खण्डपरशुर्दारुणो द्रविणप्रदः ।
दिविस्पृक्सर्वदृग्व्यासो वाचस्पतिरयोनिजः ॥
त्रिसामा सामगः साम निर्वाणं भेषजं भिषक् ।

संन्यासकृच्छमःशान्तो निष्ठा शान्तिः परायणं ॥
शुभाङ्गः शान्तिदः स्रष्टा कुमुदः कुवलेशयः ।
गोहितो गोपतिर्गोप्ता वृषभाक्षो वृषप्रियः ॥
अनिवर्ती निवृत्तात्मा संक्षेप्ता क्षेमकृच्छिवः ।
श्रीवत्सवक्षाः श्रीवासः श्रीपतिः श्रीमतां वरः ॥
श्रीदः श्रीशः श्रीनिवासः श्रीनिधिः श्रीविभावनः ।
श्रीधरः श्रीकरः श्रेयः श्रीमाँल्लोकत्रयाश्रयः ॥
स्वक्षः स्वङ्गः शतानन्दो नन्दिर्ज्योतिर्गणेश्वरः ।
विजितात्मा विधेयात्मा सत्कीर्तिश्छिन्नसंशयः ॥
उदीर्णः सर्वतश्चक्षुरनीशः शाश्वतः स्थिरः ।
भूशयो भूषणो भूतिर्विशोकः शोकनाशनः ॥ ८० ॥
अर्चिष्मानर्चितः कुम्भो विशुद्धात्मा विशोधनः ।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथः प्रद्युम्नोऽमितविक्रमः ॥
कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः ।
त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः ॥
कामदेवः कामपालः कामी कान्तः कृतागमः ।
अनिर्देश्यवपुर्विष्णुर्वीरोऽनन्तो धनञ्जयः ॥
ब्रह्मण्यो ब्रह्मकृद्ब्रह्मा ब्रह्म ब्रह्मविवर्धनः ।
ब्रह्मविद्ब्राह्मणो ब्रह्मी ब्रह्मज्ञो ब्राह्मणप्रियः ॥
महाक्रमो महाकर्मा महातेजा महोरगः ।
महाक्रतुर्महायज्वा महायज्ञो महाहविः ॥
स्तव्यः स्तवप्रियः स्तोत्रं स्तुतिस्तोता रणप्रियः ।
पूर्णः पूरयिता पुण्यः पुण्यकीर्तिरनामयः ॥
मनोजवस्तीर्थकरो वसुरेता वसुप्रदः ।

वसुप्रदो वासुदेवो वसुर्वसुमना हविः ॥
सद्गतिः सत्कृतिः सत्ता सद्भूतिः सत्परायणः।
शूरसेनो यदुश्रेष्ठः सन्निवासः सुयामुनः ॥
भूतावासो वासुदेवः सर्वासुनिलयोऽनलः।
दर्पहा दर्पदो दृप्तो दुर्धरोऽथापराजितः ॥
विश्वमूर्तिर्महामूर्तिर्दीप्तमूर्तिरमूर्तिमान्।
अनेकमूर्तिरव्यक्तः शतमूर्तिः शताननः ॥
एको नैकः सवः कः किं यत्तत्पदमनुत्तमम्।
लोकबन्धुर्लोकनाथो माधवो भक्तवत्सलः ॥
सुवर्णवर्णो हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी।
वीरहा विषमः शून्यो घृताशीरचलश्चलः ॥
अमानो मानदो मान्यो लोकस्वामी त्रिकोलकधृत्।
सुमेधा मेधजो धन्यः सत्यमेधा धराधरः ॥
तेजो वृषो द्युतिधरः सर्वशस्त्रभृतां वरः ।
प्रग्रहो निग्रहो व्यग्रो नैकश्रृङ्गो गदाग्रजः ॥
चतुर्मूर्तिश्चतुर्बाहुश्चतुर्व्यूहश्चतुर्गतिः।
चतुरात्मा चतुर्भावश्चतुर्वेदविदेकपात् ॥
समावर्तो निवृत्तात्मा दुर्जयो दुरतिक्रमः।
दुर्लभो दुर्गमो दुर्गो दुरावासो दुरारिहा ॥
शुभाङ्गो लोकसारङ्गः सुतन्तुस्तन्तुवर्धनः।
इन्द्रकर्मा महाकर्मा कृतकर्मा कृतागमः ॥
उद्भवः सुन्दरः सुन्दो रत्ननाभः सुलोचनः।
अर्को वाजसनः श्रृङ्गी जयन्तः सर्वविज्जयी ॥
सुवर्णबिन्दुरक्षोभ्यः सर्ववागीश्वरेश्वरः।

महाह्रदो महागर्तो महाभूतो महानिधिः ॥
कुमुदः कुन्दरः कुन्दः पर्जन्यः पावनोऽनिलः ।
अमृताशोऽमृतवपु, सर्वज्ञः सर्वतोमुखः ॥ १०० ॥
सुलभ. सुव्रतः सिद्धः शत्रुजिच्छत्रुतापनः ।
न्यग्रोधोदुम्बरोऽश्वत्थश्चाणूरान्ध्रनिषूदनः ॥
सहस्रार्चिः सप्तजिह्व· सप्तैधाः सप्तवाहनः ।
अमूर्तिरनघोऽचिन्त्यो भयकृद्भयनाशनः ॥
अणुर्बृहत्कृशःस्थूलो गुणभृन्निर्गुणो महान् ।
अधृत.स्वधृत स्वास्यः प्राग्वंशो वंशवर्धनः ॥
भारभृत्कथितो योगी योगीशः सर्वकामदः ।
आश्रमः श्रमणः क्षामः सुपर्णो वायुवाहनः ॥
धनुर्धरो धनुर्वेदो दण्डो दमयिता दमः ।
अपराजितः सर्वसहो नियन्ता नियमो यमः ॥
सत्त्ववान्सात्त्विकः सत्य सत्यधर्मपरायणः ।
अभिप्रायः प्रियार्होऽर्हः प्रियकृत्प्रीतिवर्धनः ॥
विहायसगतिर्ज्योतिः सुरुचिर्हुतभुग्विभुः ।
रविर्विरोचनः सूर्यः सविता रविलोचनः ॥
अनन्तो हुतभुग्भोक्ता सुखदो नैकदोऽग्रजः ।
अनिर्विण्णः सदामर्षी लोकाधिष्ठानमद्भुतः ॥
सनात्सनातनतमः कपिलःकपिरव्ययः ।
स्वस्तिदः स्वस्तिकृत्स्वस्ति स्वस्तिभुक्स्वस्तिदक्षिणः ॥
अरौद्रः कुण्डली चक्री विक्रम्यूर्जितशासनः ।
शब्दातिगः शब्दसहः शिशिरः शर्वरीकरः ॥
अक्रूरः पेशलो दक्षो दक्षिणः क्षमिणा वरः ।

विद्वत्तमो वीतभयः पुण्यश्रवणकीर्तनः ॥
उत्तारणो दुष्कृतिहा पुण्यो दुःस्वप्ननाशनः ।
वीरहा रक्षणःसन्तो जीवनः पर्यवस्थितः ॥
अनन्तरूपोऽनन्तश्रीर्जितमन्युर्भयापहः ।
चतुरस्रो गभीरात्मा विदिशो व्यादिशो दिशः ॥
अनादिर्भूर्भुवो लक्ष्मीः सुवीरो रुचिराङ्गदः ।
जननो जनजन्मादिर्भीमो भीमपराक्रमः ॥
आधारनिलयो धाता पुष्पहासः प्रजागरः ।
ऊर्ध्वगः सत्पथाचारः प्राणदः प्रणवः पणः ॥
प्रमाणं प्राणनिलयः प्राणभृत्प्राणजीवनः ।
तत्त्वं तत्त्वविदेकात्मा जन्ममृत्युजरातिगः ॥
भूर्भुवः स्वस्तरुस्तारः सविता प्रपितामहः ।
यज्ञोयज्ञपतिर्यज्वा यज्ञाङ्गो यज्ञवाहनः ॥
यज्ञभृद्यज्ञकृद्यज्ञी यज्ञभुग्यज्ञसाधनः ।
यज्ञान्तकृद्यज्ञगुह्यमन्नमन्नाद एव च ॥
आत्मयोनिः स्वयंजातो वैखानः सामगायनः ॥
देवकीनन्दनःस्रष्टा क्षितीशः पापनाशनः ॥
शङ्खभृन्नन्दकी चक्री शार्ङ्गधन्वा गदाधरः ।
रथाङ्गपाणिरक्षोभ्यः सर्वप्रहरणायुधः ॥ १२० ॥

सर्वप्रहरणायुध ॐ नम इति ॥

इतीदं कीर्तनीयस्य केशवस्य महात्मनः ।
नाम्नां सहस्रं दिव्यानामशेषेण प्रकीर्तितम् ॥
य इदं शृणुयान्नित्यं यश्चापि परिकीर्तयेत् ।
नाशुभं प्राप्नुयात्किञ्चित्सोऽमुत्रेह च मानवः ॥

वेदान्तगो ब्राह्मण· स्यात्क्षत्रियो विजयी भवेत् ।
वैश्यो धनसमृद्धः स्याच्छूद्रः सुखमवाप्नुयात् ॥
धर्मार्थी प्राप्नुयाद्धर्ममर्थार्थीचार्थमाप्नुयात् ।
कामानवाप्नुयात्कामी प्रजार्थी प्राप्नुयात्प्रजाम् ॥
भक्तिमान्य. सदोत्थाय शुचिस्तद्गतमानसः ।
सहस्रं वासुदेवस्य नाम्नामेतत्प्रकीर्तयेत् ॥
यशः प्राप्नोति विपुलं ज्ञातिप्राधान्यमेव च ।
अचला श्रियमाप्नोति श्रेयः प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥
न भयं क्वचिदाप्नोति वीर्यं तेजश्च विंदति ।
भवत्यरोगो द्युतिमान्बलरूपगुणान्वितः ॥
रोगार्तो मुच्यते रोगाद्बद्धो मुच्येत बन्धनात् ।
भयान्मुच्येत भीतस्तु मुच्येतापन्न आपदः ॥
दुर्गाण्यतितरत्याशु पुरुष पुरुषोत्तमम् ।
स्तुवन्नामसहस्रेण नित्यं भक्तिसमन्वितः ॥
वासुदेवाश्रयो मर्त्यो वासुदेवपरायण· ।
सर्वपापविशुद्धात्मा याति ब्रह्म सनातनम् ॥
न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिभयं नैवोपजायते ॥
इमं स्तवमधीयानः श्रद्धाभक्तिसमन्वितः ।
युज्येतात्मसुखक्षान्तिश्रीधृतिस्मृतिकीर्तिभिः ।
न क्रोधो न च मात्सर्यं न लोभो नाशुभा मतिः ॥
भवन्ति कृतपुण्यानां भक्ताना पुरुषोत्तमे ।
द्यौः सचन्द्रार्कनक्षत्रा खं दिशो भूर्महोदधिः ।
वासुदेवस्य वीर्येण विधृतानि महात्मनः ॥

ससुरासुरगन्धर्वं सयक्षोरगराक्षसम्।
जगद्वशे वर्ततेदं कृष्णस्य सचराचरम्॥
इन्द्रियाणि मनो बुद्धिः सत्त्वं तेजो बलं धृतिः।
वसुदेवात्मकान्याहुः क्षेत्रं क्षेत्रज्ञ एव च॥
सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते।
आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः।
ऋषयःपितरो देवा महाभूतानि धातवः।
जङ्गमाजङ्गमं चेदं जगन्नारायणोद्भवम्॥
योगो ज्ञानं तथा सांख्यं विद्याः शिल्पादि कर्म च।
वेदाः शास्त्राणि विज्ञानमेतत्सर्वं जनार्दनात्॥
एको विष्णुर्महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः।
त्रीन्लोकान्व्याप्य भूतात्मा भुङ्क्ते विश्वभुगव्ययः॥१४०॥
इमं स्तवं भगवतो विष्णोर्व्यासेन कीर्तितम्।
पठेद्य इच्छेत्पुरुषः श्रेयः प्राप्तुं सुखानि च॥
विश्वेश्वरमजं देवं जगतः प्रभवाप्ययम्।
भजन्ति ये पुष्कराक्षं न ते यान्ति पराभवम् ॥१४२॥

———

आदित्यहृदयम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ शतानीक उवाच ॥ कथमादित्यमुद्यंतमुपतिष्ठे-
द्द्विजोत्तम ॥ एतन्मे ब्रूहि विप्रेंद्र प्रपद्ये शरणं तव ॥१॥ सुमंतुरुवाच ॥
इदमेव पुरा पृष्टः शंखचक्रगदाधर. ॥ प्रणम्य शिरसा देवमर्जुनेन महा-
त्मना ॥२॥ कुरुक्षेत्रे महाराज प्रवृत्ते भारते रणे ॥ कृष्णानाथं समासाद्य
प्रार्थयित्वाऽब्रवीदिदम् ॥ ३ ॥ अर्जुन उवाच ॥ ज्ञानं च धर्मशास्त्राणां
गुह्याद्गुह्यतरं तथा ॥ मया कृष्ण परिज्ञातं वाङ्मयं सचराचरम् ॥ ४ ॥
सूर्यस्तुतिमयं न्यासं वक्तुमर्हसि माधव ॥ भक्त्या पृच्छामि देवेश कथयस्व
प्रसादतः ॥ ५ ॥ सूर्यभक्तिं करिष्यामि कथं सूर्यं प्रपूजयेत् ॥ तदहं
श्रोतुमिच्छामि त्वत्प्रसादेन यादव ॥ ६ ॥ श्रीभगवानुवाच ॥ रुद्रादि-
दैवतैः सर्वैः पृष्टेन कथितं मया ॥ वक्ष्येऽहं सूर्यविन्यासं शृणु पांडव
यत्नतः ॥ ७ ॥ अस्माकं यत्त्वया पृष्टमेकचित्तो भवार्जुन ॥ तदहं संप्रव-
क्ष्यामि आदिमध्यावसानकम् ॥ ८ ॥ अर्जुन उवाच ॥ नारायण सुरश्रेष्ठ
पृच्छामि त्वां महायशाः ॥ कथमादित्यमुद्यंतमुपतिष्ठेत्सनातनम् ॥९॥
श्रीभगवानुवाच ॥ साधु पार्थ महाबाहो बुद्धिमानसि पांडव ॥ यन्मां
पृच्छस्युपस्थानं तत्पवित्रं विभावसोः ॥ १० ॥ सर्वमंगलमांगल्यं सर्व-
पापप्रणाशनम् ॥ सर्वरोगप्रशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ ११ ॥ अमित्रदमनं
पार्थ संग्रामे जयवर्धनम् ॥ वर्धनं धनपुत्राणामादित्यहृदयं शृणु ॥ १२ ॥
यच्छ्रुत्वा सर्वपापेभ्यो मुच्यते नात्र संशयः ॥ त्रिषु लोकेषु विख्यातं
निःश्रेयसकरं परम् ॥ १३ ॥ देवदेवं नमस्कृत्य प्रातरुत्थाय चार्जुन ॥
विघ्नान्यनेकरूपाणि नश्यंति स्मरणादपि ॥ १४ ॥ तस्मात्सर्वप्रयत्नेन
सूर्यमावाहयेत्सदा ॥ आदित्यहृदयं नित्यं जाप्यं तच्छृणु पांडव ॥१५॥
यज्जपान्मुच्यते जंतुर्दारिद्र्याद्दाशु दुस्तरात् । लभते च महासिद्धिं

व्याधिविनाशनीम् ॥ १६ ॥ अस्मिन्मन्त्रे ऋषिश्छंदो देवता शक्तिरेव च ॥ सर्वमेव महाबाहो कथयामि तवाग्रतः ॥ १७ ॥ मया ते गोपितं न्यासं सर्वशास्त्रप्रबोधितम् ॥ अथ ते कथयिष्यामि उत्तमं मंत्रमेव च ॥ १८ ॥ ॐ अस्य आदित्यहृदयस्तोत्रमंत्रस्य श्रीकृष्ण ऋषिः श्रीसूर्यात्मा त्रिभुवनेश्वरो देवता ॥ अनुष्टुप्छंदः ॥ हरितहयरथं दिवाकरं घृणिरिति बीजम् ॥ ॐ नमो भगवते जितवैश्वानरजातवेदस इति शक्तिः ॥ ॐ नमो भगवते आदित्याय नमः इति कीलकम् ॥ ॐ अग्निगर्भदेवता इति मंत्रः ॥ ॐ नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः श्रीसूर्यनारायणप्रीत्यर्थं जपे विनियोगः ॥ अथ न्यासः ॥ ॐ ह्रां अंगुष्ठाभ्यां नमः ॥ ॐ ह्रीं तर्जनीभ्यां नमः ॥ ॐ ह्रूं मध्यमाभ्यां नमः ॥ ॐ ह्रैं अनामिकाभ्यां नमः ॥ ॐ ह्रौं कनिष्ठिकाभ्यां नमः ॥ ॐ ह्रः करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः ॥ ॐ ह्रां हृदयाय नमः ॥ ॐ ह्रीं शिरसे स्वाहा ॥ ॐ ह्रूं शिखायै वषट् ॥ ॐ ह्रैं कवचाय हुं ॥ ॐ ह्रौं नेत्रत्रयाय वौषट् ॥ ॐ ह्रः अस्त्राय फट् ॥ ॐ ह्रांह्रींह्रूंह्रैंह्रौंह्रः इति दिग्बंधः ॥ अथ ध्यानम् ॥ भास्वद्रत्नाढ्यमौलिस्फुरदधररुचा रंजितश्चारुकेशो भास्वान्यो दिव्यतेजाः करकमलयुतः स्वर्णवर्णः प्रभाभिः ॥ विश्वाकाशावकाशग्रहपतिशिखरे भाति यश्चोदयाद्रौ सर्वानंदप्रदाता हरिहरनमितः पातु मां विश्वचक्षुः ॥ १ ॥ पूर्वमष्टदलं पद्मं प्रणवादिप्रतिष्ठितम् ॥ मायाबीजं दलाष्टाग्रे यन्त्रमुद्धारयेदिति ॥ २ ॥ आदित्यं भास्करं भानुं रविं सूर्यं दिवाकरम् ॥ मार्तंडं तपनं चेति दलेष्वष्टसु योजयेत् ॥३॥ दीप्ता सूक्ष्मा जया भद्रा विभूतिर्विमला तथा ॥ अमोघा विद्युता चेति मध्ये श्रीः सर्वतोमुखी ॥ ४ ॥ सर्वज्ञः सर्वगश्चैव सर्वकारणदेवता ॥ सर्वेशं सर्वहृदयं नमामि सर्वसाक्षिणम् ॥ ५ ॥ सर्वात्मा सर्वकर्ता च सृष्टिजीवनपालकः ॥ हितः स्वर्गापवर्गश्च भास्करेश नमोऽस्तु ते ॥ ६ ॥ इति प्रार्थना ॥ नमो नमस्तेस्तु सदा विभावसो सर्वात्मने सप्तहयाय

मानवे ॥ अनंतशक्तिर्मणिभूषणेन ददस्व भुक्ति मम मुक्तिमव्ययाम् ॥७॥ अर्कं तु मूर्ध्नि विन्यस्य ललाटे तु रविं न्यसेत् ॥ विन्यसेन्नेत्रयोः सूर्यं कर्णयोश्च दिवाकरम् ॥ ८ ॥ नासिकायां न्यसेद्भानुं मुखे वै भास्करं न्यसेत् ॥ पर्जन्यमोष्ठयोश्चैव तीक्ष्णं जिह्वांतरे न्यसेत् ॥ ९ ॥ सुवर्णरेतसं कंठे स्कंधयोस्तिग्मतेजसम् ॥ बाह्वोस्तु पूषणं चैव मित्रं वै पृष्ठतो न्यसेत् ॥ १० ॥ वरुणं दक्षिणे हस्ते त्वष्टारं वामतः करे ॥ हस्तावुष्णकरः पातु हृदयं पातु भानुमान् ॥ ११ ॥ उदरे तु यमं विद्यादादित्यं नाभिमंडले ॥ कट्यां तु विन्यसेद्धंसं रुद्रमूर्वोस्तु विन्यसेत ॥ १२ ॥ जान्वोस्तु गोपतिं न्यस्य सवितारं तु जंघयोः ॥ पादयोश्च विवस्वंतं गुल्फयोश्च दिवाकरम् ॥ १३ ॥ बाह्यतस्तु तमोध्वंसं भगमभ्यंतरे न्यसेत् ॥ सर्वांगेषु सहस्रांशुं दिग्विदिक्षु भगं न्यसेत् ॥ १४ ॥ इति दिग्बंधः ॥ एष आदित्यविन्यासो देवानामपि दुर्लभः ॥ इमं भक्त्या न्यसेत्पार्थ स याति परमां गतिम् ॥ १५ ॥ कामक्रोधकृतात्पापान्मुच्यते नात्र संशयः ॥ सर्पादपि भयं नैव संग्रामेषु पथिष्वपि ॥ १६ ॥ रिपुसंकटकालेषु तथा चोरसमागमे ॥ त्रिसंध्यं जपतो न्यासं महापातकनाशनम् ॥ १७ ॥ विस्फोटकसमुत्पन्नं तीव्रज्वरसमुद्भवम् ॥ शिरोरोगं नेत्ररोगं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१८॥ कुष्ठव्याधिस्तथा दद्रुरोगाश्च विविधाश्च ये ॥ जपमानस्य नश्यंति शृणु भक्त्या तदर्जुन ॥ १९ ॥ आदित्यो मंत्रसंयुक्त आदित्यो भुवनेश्वरः ॥ आदित्यान्नापरो देवो ह्यादित्यः परमेश्वरः ॥२०॥ आदित्यमर्चयेद्ब्रह्मा शिव आदित्यमर्चयेत् ॥ यदादित्यमयं तेजो मम तेजस्तदर्जुन ॥ २१ ॥ आदित्यं ये प्रपश्यन्ति मां पश्यन्ति न संशयः ॥ २२ ॥ त्रिसंध्यमर्चयेत्सूर्यं स्मरेद्भक्त्या तु यो नरः ॥ न स पश्यति दारिद्र्यं जन्मजन्मनि चार्जुन ॥ २३ ॥ एतत्ते कथितं पार्थ ह्यादित्यहृदयं मया शृण्वन्मुक्तश्च पापेभ्यः सूर्यलोके महीयते ॥ २४ ॥ नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः ॥

आदित्यः सविता सूर्यः खगः पूषा गभस्तिमान् ॥ २५ ॥ सुवर्णः स्फटिको भानुः स्फुरितो विश्वतापनः ॥ रविर्विश्वो महातेजाः सुवर्णः सुप्रबोधकः ॥ २६ ॥ हिरण्यगर्भस्त्रिशिरास्तपनो भास्करो रविः ॥ मार्तंडो गोपतिः श्रीमान् कृतज्ञश्च प्रतापवान् ॥ २७ ॥ तमिस्रहा भगो हंसो नासत्यश्च तमोनुदः ॥ शुद्धो विरोचनः केशी सहस्रांशुर्महाप्रभुः ॥ २८ ॥ विवस्वान्पूषणो मृत्युर्मिहिरो जामदग्न्यजित् ॥ धर्मरश्मिः पतंगश्च शरण्यो मित्रहा तपः ॥ २९ ॥ दुर्विज्ञेयगतिः शूररतेजोराशिर्महायशाः ॥ शंभुश्चित्रांगदः सौम्यो हव्यकव्यप्रदायकः ॥ ३० ॥ अंशुमानुत्तमो देव ऋग्यजुः साम एव च ॥ हरिदश्वस्तमोदारः सप्तसप्तिर्मरीचिमान् ॥ ३१ ॥ अग्निगर्भोऽदितेः पुत्रः शंभुस्तिमिरनाशनः ॥ पूषा विश्वम्रो मित्रः सुवर्णः सुप्रतापवान् ॥ ३२ ॥ आतपी मंडली भास्वांस्तपनः सर्वतापनः ॥ कृतविश्वो महातेजाः सर्वरत्नमयोद्भवः ॥३३॥ अक्षरश्च क्षरश्चैव प्रभाकरविभाकरौ ॥ चंद्रश्चन्द्रांगदः सौम्यो हव्यकव्यप्रदायकः ॥३४॥ अंगारको गदोऽगस्ती रक्तांगश्चांगवर्धनः ॥ बुधो बुद्धासनो बुद्धिर्बुद्धात्मा बुद्धिवर्धनः ॥३५॥ बृहद्भानुर्बृहद्भासो बृहद्धामा बृहस्पतिः ॥ शुक्रस्त्वं शुक्ररेताःस्त्वं शुक्लांगः शुक्लभूषणः ॥ ३६ ॥ शनिमान् शनिरूपस्त्वं शनैर्गच्छसि सर्वदा ॥ अनादिरादिरादित्यस्तेजोराशिमहातपाः ॥३७॥ अनादिरादिरूपस्त्वमादित्यो दिक्पतिर्यमः ॥ भानुमान् भानुरूपस्त्वं स्वर्भानुर्भानुदीप्तिमान् ॥ ३८ ॥ धूमकेतुर्महाकेतुः सर्वकेतुरनुत्तमः ॥ तिमिरावरणः शंभुः स्रष्टाः मार्तण्ड एव च ॥ ३९ ॥ नमः पूर्वाय गिरये पश्चिमाय नमो नमः ॥ नमोत्तराय गिरये दक्षिणाय नमो नमः ॥ ४० ॥ नमो नमः सहस्रांशो ह्यादित्याय नमो नमः ॥ नमः पद्मप्रबोधाय नमस्ते, द्वादशात्मने ॥४१॥ नमो विश्वप्रबोधाय नमो भ्राजिष्णुजिष्णवे ॥ ज्योतिषे च नमस्तुभ्यं ज्ञानार्काय नमो नमः ॥४२॥ प्रदीप्ताय प्रगल्भाय युगान्ताय नमो

नमः ॥ नमस्ते होतृपतये पृथिवीपतये नमः ॥ ४३ ॥ नमोंकार वषट्कार सर्वयज्ञ नमोऽस्तु ते ॥ ऋग्वेदाथ यजुर्वेद सामवेद नमोऽस्तुते ॥ ४४ ॥ नमो हाटकवर्णाय भास्कराय नमोनमः जयाय जयभद्राय हरिदश्वाय ते नमः ॥ ४५ ॥ दिव्याय दिव्यरूपाय ग्रहाणा पतये नमः ॥ नमस्ते शुचये नित्यं नमः कुरुकुलात्मने ॥ ४६ ॥ नमस्त्रैलोक्यनाथाय भूताना पतये नमः ॥ नम. कैवल्यनाथाय नमस्ते दिव्यचक्षुषे ॥ ४७ ॥ त्वं ज्योतिस्त्वं द्युतिर्ब्रह्मा त्वं विष्णुस्त्वं प्रजापतिः ॥ त्वमेव रुद्रो रुद्रात्मा वायुरग्निस्त्वमेव च ॥४८॥ योजनाना सहस्रे द्वे द्वे शते द्वे च योजने ॥ एकेन निमिषार्धेन क्रममाण नमोऽस्तुते ॥ ४६ ॥ नवयोजनलक्षाणि सहस्रद्विशतानि च ॥ यावद्घटीप्रमाणेन क्रममाण नमोऽस्तु ते ॥ ५० ॥ अग्रतश्च नमस्तुभ्यं पृष्ठतश्च सदा नमः ॥ पार्श्वतश्च नमस्तुभ्यं नमस्ते चास्तु सर्वदा ॥५१॥ नमः सुरारिहंत्रे च सोमसूर्याग्निचक्षुषे ॥ नमो दिव्याय व्योमायसर्वतंत्रमयाय च ॥ ५२ ॥ नमो वेदांतवेद्याय सर्वकर्मादिसाक्षिणे ॥ नमो हरितवर्णाय सुवर्णाय नमो नमः ॥ ५३ ॥ अरुणो माघमासे तु सूर्यो वै फाल्गुने तथा ॥ चैत्रमासे तु वेदांगो भानुर्वैशाखतापन. ॥ ५४ ॥ ज्येष्ठमासे तपेदिंद्र आषाढे तपते रविः ॥ गभस्तिः श्रावणे मासि यमो भाद्रपदे तथा ॥ ५५ ॥ इषे सुवर्णरेताश्च कार्तिके च दिवाकरः ॥ मार्गशीर्षे तपेन्मित्र. पौषे विष्णुः सनातनः ॥ ५६ ॥ पुरुषस्त्वधिके मासे मासाधिक्ये तु कल्पयेत् ॥ इत्येते द्वादशादित्याः काश्यपेयाः प्रकीर्तिताः ॥५७॥ उग्ररूपा महात्मानस्तपंते विश्वरूपिणः ॥ धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रस्फुटा हेतवो नृप ॥ ५८ ॥ सर्वपापहरं चैवमादित्यं संप्रपूजयेत् ॥ एकधा दशधा चैव शतधा च सहस्रधा ॥ ५६ ॥ तपंते विश्वरूपेण सृजंति संहरंति च ॥ एष विष्णुः शिवश्चैव ब्रह्मा चैव प्रजापतिः ॥ ६० ॥ महेंद्रश्चैव कालश्च यमो वरुण एव च ॥ नक्षत्रग्रहताराणामधिपो विश्वतापनः ॥ ६१ ॥

-मायुरमिर्धनाध्यक्षो भूतकर्ता स्वयंप्रभुः ॥ एष देवो हि देवानां सर्वमा-प्यायते जगत् ॥ ६२ ॥ एष कर्ता हि भूतानां संहर्ता रक्षकस्तथा ॥ एष लोकानुलोकाश्च सप्तद्वीपाश्च सागराः ॥६३॥ एष पातालसप्तस्था दैत्यदानवराक्षसाः ॥ एष धाता विधाता च बीजं क्षेत्रं प्रजापतिः ॥ ६४ ॥ एक एव प्रजा नित्यं संवर्धयति रश्मिभिः ॥ एष यज्ञः स्वधा स्वाहा ह्रीः श्रीश्च पुरुषोत्तमः ॥ ६५ ॥ एष भूतात्मको देवः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ॥ ईश्वरः सर्वभूतानां परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ६६ ॥ कालात्मा सर्वभूतात्मा वेदात्मा विश्वतोमुखः ॥ जन्ममृत्युजराव्याधिसंसारभयनाशनः ॥ ६७ ॥ दारिद्र्यव्यसनध्वंसी श्रीमान्देवो दिवाकरः ॥ विकर्तनो विवस्वांश्च मार्तण्डो भास्करो रविः ॥६८॥ लोकप्रकाशकः श्रीमांल्लोकचक्षुर्महेश्वरः ॥ लोकसाक्षी त्रिलोकेशः कर्ता हर्ता तमिस्रहा ॥ ६६ ॥ तपनस्तापनश्चैव शुचिः सप्ताश्ववाहनः ॥ गभस्तिहस्तो ब्रह्मण्यः सर्वदेवनमस्कृतः ॥ ७० ॥ आयुरारोग्यमैश्वर्यं नरा नार्यश्च मंदिरे ॥ यस्य प्रसादात्सन्तुष्टिरादित्य-हृदयं जपेत् ॥७१॥ इत्येतैर्नामभिः पार्थ आदित्यं स्तौति नित्यशः॥ प्रात-रुत्थाय कौंतेय तस्य रोगभयं न हि ॥७२॥ पातकान्मुच्यते पार्थ व्याधि-भ्यश्च न संशयः ॥ एकसन्ध्यं द्विसन्ध्यं वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥७३॥ त्रिसन्ध्यं जपमानस्तु पश्येच परमं पदम् ॥ यदह्ना कुरुते पापं तदह्ना प्रति-मुच्यते ॥७४॥ यद्रात्र्या कुरुते पापं तद्रात्र्या प्रतिमुच्यते ॥ दद्रुस्फोटक-कुष्ठानि मण्डलानि विषूचिका ॥७५॥ सर्वव्याधिमहारोगभूतबाधास्तथैव च ॥ डाकिनी शाकिनी चैव महारोगभयं कुतः ॥ ७६ ॥ ये चान्ये दुष्ट-रोगाश्च ज्वरातीसारकादयः ॥ जपमानस्य नश्यन्ति जीवेच्च शरदां शतम् ॥ ७७ ॥ संवत्सरेण मरणं यदा तस्य ध्रुवं भवेत् । अशीर्षां पश्यति च्छायामहोरात्रं धनञ्जय ॥ ७८ ॥ यस्त्विदं पठते भक्त्या भानोर्वारे महात्मनः ॥ प्रातःस्नाने कृते पार्थ एकाग्रकृतमानसः ॥ ७९ ॥ सुवर्णचक्षु-

भवति न चान्धस्तु प्रजायते ॥ पुत्रवान्धवसम्पन्नो जायते चारुजः सुखी ॥ ८० ॥ सर्वसिद्धिमवाप्नोति सर्वत्र विजयी भवेत् ॥ आदित्यहृदयं पुण्यं सूर्यनामविभूषितम् ॥ ८१ ॥ श्रुत्वा च निखिलं पार्थ सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ अतः परतरं नास्ति सिद्धिकामस्य पांडव ॥ ८२ ॥ एतज्जपस्व कौंतेय येन श्रेयो ह्यवाप्स्यसि ॥ आदित्यहृदयं नित्यं यः पठेत्सुसमाहितः ॥ ८३ ॥ भ्रूणहा मुच्यते पापात्कृतघ्नो ब्रह्मघातकः ॥ गोघ्नः सुरापी दुर्भोजी दुष्प्रतिग्रहकारकः ॥ ८४ ॥ पातकानि च सर्वाणि दहत्येव न संशयः ॥ य इदं शृणुयान्नित्यं जपेद्वापि समाहितः ॥ ८५ ॥ सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ॥ अपुत्रो लभते पुत्रान्निर्धनो धनमाप्नुयात् ॥८६॥ कुरोगी मुच्यते रोगाद्भक्त्या यः पठते सदा ॥ यस्त्वादित्यदिने पार्थ नाभिमात्रजले स्थितः ॥ ८७ ॥ उदयाचलमारूढं भास्करं प्रणतः स्थितः ॥ जपते मानवो भक्त्या शृणुयाद्वापि भक्तितः ॥ ८८ ॥ स याति परमं स्थानं यत्र देवो दिवाकरः ॥ अमित्रदमनं पार्थ यदा कर्तुं समारभेत् ॥ ८९ ॥ तदा प्रतिकृतिं कृत्वा शत्रोश्चरणपांसुभिः ॥ आक्रम्य वामपादेन ह्यादित्यहृदयं जपेत् ॥ ९० ॥ एतन्मंत्रं समाहूय सर्वसिद्धिकरं परम् ॥ ॐ ह्रीं हिमालीढं स्वाहा ॥ ओं ह्रीं मालीढं स्वाहा ओं ह्रीं निलीढं स्वाहा ॥ इति मन्त्रः ॥ त्रिभिश्च रोगी भवति ज्वरी भवति पञ्चभिः ॥ जपैस्तु सप्तभिः पार्थ राक्षसी तनुमाविशेत् ॥ ९१ ॥ राक्षसेनाभिभूतस्य विकारान् शृणु पांडव ॥ गीयते नृत्यते नग्न

जयाय जयभद्राय हरिदश्वाय ते नमः ॥ ९६ ॥ स्नापयेत्तं न मन्त्रेण शुभं भवति नान्यथा ॥ अन्यथा च भवेद्दोषो नश्यते नात्र संशयः ॥ ९७ ॥ अतस्ते निखिलः प्रोक्तः पूजां चैव निबोध मे ॥ उपलिप्ते शुचौ देशे नियतो वाग्यतः शुचिः ॥ ९८ ॥ वृत्तं वा चतुरस्रं वा लिप्तभूमौ लिखेच्छुचिः ॥ त्रिधा तत्र लिखेत्पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥९९॥ अष्टपत्रं लिखेत्पद्मं लिप्तगोमयमण्डले ॥ पूर्वपत्रे लिखेत् सूर्यमाग्नेय्यां तु रविं न्यसेत् ॥ १०० ॥ याम्ययां च विवस्वन्तं नैरृत्यां तु भगं न्यसेत् ॥ प्रतीच्यां वरुणं विद्याद्वायव्यां मित्रमेव च ॥ १०१ ॥ आदित्यमुत्तरे पत्रे ईशान्यां मित्रमेव च ॥ मध्ये तु भास्करं विद्यात्क्रमेणैव समर्चयेत् ॥ १०२ ॥ अतः परतरं नास्ति सिद्धिकामस्य पाण्डव ॥ महातेजः समुद्यन्तं प्रणमेत्स कृतांजलिः ॥ १०३ ॥ सकेसराणि पद्मानि करवीराणि चार्जुन ॥ तिलतण्डुलयुक्तानि कुशगन्धोदकानि च ॥१०४॥ रक्तचन्दनमिश्राणि कृत्वा वै ताम्रभाजने ॥ धृत्वा शिरसि तत् पात्रं जानुभ्यां धरणीं स्पृशेत् ॥ १०५ ॥ मन्त्रपूतं गुडाकेश चार्घ्यं दद्याद्गभस्तये ॥ सायुधं सरथं चैव सूर्यमावाहयाम्यहम् ॥ १०६ ॥ स्वागतो भव ॥ सुप्रतिष्ठितो भव ॥ सन्निधौ भव सन्निहितो भव ॥ सम्मुखो भव ॥ इति पञ्च मुद्राः ॥ स्फुटयित्वाऽर्घ्येत्सूर्यं भुक्ति मुक्ति लभेन्नरः ॥१०७॥ ॐ श्रीं विद्याकिलिकिलिकटकेटसर्वार्थसाधनाय स्वाहा ॥ ॐ श्रीं ह्रीं ह्रूं हं सः सूर्याय नमः स्वाहा ॥ ॐ श्रीं ह्रां ह्रीं ह्रूं ह्रः सूर्यमूर्तये स्वाहा ॥ ॐ श्रीं ह्रीं खं खः लोकाय सर्वमूर्तये स्वाहा ॥ ॐ ह्रूं मार्तण्डाय स्वाहा ॥ नमोऽस्तु सूर्याय सहस्रभानवे नमोस्तु वैश्वानरजातवेदसे ॥ त्वमेव चार्घ्यं प्रतिगृह्य देव देवाधिदेवाय नमो नमस्ते ॥१०८॥ नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते जातवेदसे ॥ दत्तमर्घ्यं मया भानो त्वं गृहाण नमोऽस्तु ते ॥१०९॥ एहि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशे जगत्पते । अनुकम्पय मां देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते ॥११०॥ नमो भगवते तुभ्यं नमस्ते

जातवेदसे ॥ ममेदमर्घ्यं गृह्ण त्वं देवदेव नमोऽस्तु ते ॥ १११ ॥ सर्वदेवाधिदेवाय आधिव्याधि विनाशिने ॥ इदं गृहाण मे देव सर्वव्याधिर्विनश्यतु ॥११२॥ नमः सूर्याय शान्ताय सर्वरोगविनाशिने ॥ ममेप्सितं फलं दत्त्वा प्रसीद परमेश्वर ॥११३॥ ॐ नमो भगवते सूर्याय स्वाहा ॥ ॐ शिवाय स्वाहा ॥ ॐ सर्वात्मने सूर्याय नमः स्वाहा ॥ ॐ अक्षय्यतेजसे नमः स्वाहा ॥ सर्वसंकष्टदारिद्र्यं शत्रुं नाशय नाशय ॥ सर्वलोकेषु विश्वात्मन्सर्वात्मन्सर्वदर्शक ॥ ११४ ॥ नमो भगवते सूर्य कुष्ठरोगान्विखण्डय ॥ आयुरारोग्यमैश्वर्यं देहि देव नमोऽस्तु ते ॥ ११५ ॥ नमो भगवते तुभ्यमादित्याय नमोनमः ॥ ॐ अक्षय्यतेजसे नमः ॥ ॐ सूर्याय नमः ॥ आदित्यं च शिवं विद्याच्छिवमादित्यरूपिणम् ॥ उभयोरन्तरं नास्ति आदित्यस्य शिवस्य च ॥११६॥ एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं पुरुषो वै दिवाकरः॥ उदये ब्रह्मणो रूपं मध्याह्ने तु महेश्वरः ॥११७॥ अस्तमाने स्वयं विष्णुस्त्रिमूर्तिश्च दिवाकरः ॥ नमो भगवते तुभ्यं विष्णवे प्रभविष्णवे ॥११८॥ ममेदमर्घ्यं प्रतिगृह्ण देव देवाधिदेवाय नमो नमस्ते ॥ श्रीसूर्यनारायणाय सांगाय सपरिवाराय इदमर्घ्यं समर्पयामि ॥११६॥ हिमघ्नाय तमोघ्नाय रक्षोघ्नाय च ते नमः ॥ कृतघ्नघ्नाय सत्याय तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ १२० ॥ जयो जयश्च विजयो जितप्राणो जितश्रमः ॥ मनोजयो जितक्रोधो वाजिनः सप्त कीर्तिताः ॥१२१॥ हरितहयरथं दिवाकरं कनकमयाम्बुजरेणुपिंजरम् ॥ प्रतिदिनमुदये नवं नवं शरणमुपैमि हिरण्यरेतसम् ॥१२२॥ न तं व्यालाः प्रबाधन्ते न व्याधिभ्यो भयं भवेत् ॥ न नागेभ्यो भयं चैव न च भूतभयं क्वचित् ॥१२३॥ अग्निशत्रुभयं नास्ति पार्थिवेभ्यस्तथैव च ॥ दुर्गतिं तरते घोरां प्रजां च लभते पशून् ॥१२४॥ सिद्धिकामो लभेत्सिद्धिं कन्याकामस्तु कन्यकाम् ॥ एतत्पठेत्स कौन्तेय भक्तियुक्तेन चेतसा ॥१२५॥ अश्वमेधसहस्रस्य वाजपेयशतस्य च ॥ कन्या

कोटिसहस्रस्य दत्तस्य फलमाप्नुयात् ॥१२६॥ इदमादित्यहृदयं योऽधीते सततं नरः ॥ सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ॥१२७॥ नास्त्यादित्यसमो देवो नास्त्यादित्यसमा गतिः ॥ प्रत्यक्षो भगवान्विष्णुर्येन विश्वं प्रतिष्ठितम् ॥१२८॥ नवतिर्योजनं लक्षं सहस्राणि शतानि च याव-द्घटीप्रमाणेन तावच्चरति भास्करः ॥१२९॥ गवां शतसहस्रस्य सम्यग्दत्तस्य यत्फलम् ॥ तत्फलं लभते विद्वान् शान्तात्मा स्तौति यो रविम् ॥ १३० ॥ योऽधीते सूर्यहृदयं सकलं सफलं भवेत् ॥ अष्टानां ब्राह्मणानां च लेख-यित्वा समर्पयेत् ॥१३१॥ ब्रह्मलोके ऋषीणां च जायते मानुषोऽपि वा ॥ जातिस्मरत्वमाप्नोति शुद्धात्मा नात्र संशयः ॥१३२॥ अजाय लोकत्रयपावनाय भूतात्मने गोपतये वृषाय ॥ सूर्याय सर्वप्रलयान्तकाय नमो महाकारुणिकोत्तमाय ॥ १३३॥ विवस्वते ज्ञानभृदन्तरात्मने जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे ॥ स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥ १३४ ॥ सुरैरनेकैः परिसेविताय हिरण्यगर्भाय हिरण्मयाय ॥ महात्मने मोक्षपदाय नित्यं नमोऽस्तु ते वासरकारणाय ॥१३५॥ आदित्यश्चार्चितो देव आदित्यः परमं पदम् ॥ आदित्यो मातृको भूत्वा आदित्यो वाङ्मयं जगत् ॥१३६॥ आदित्यं पश्यते भक्त्या मां पश्यति ध्रुवं नरः ॥ नादित्यं पश्यते भक्त्या न स पश्यति मां नरः ॥ १३७ ॥ त्रिगुणं च त्रितत्त्वं च त्रयो देवास्त्रयोऽग्नयः ॥ त्रयाणां च त्रिमूर्तिस्त्वं तुरीयस्त्वं नमोऽस्तु ते ॥१३८॥ नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ॥ त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे विरञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥ १३९ ॥ यस्योदयेनेह जगत्प्रबुद्ध्यते प्रवर्तते चाखिलकर्मसिद्धये ॥ ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दितः स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः ॥ १४० ॥ नमोऽस्तु सूर्याय सहस्ररश्मये सहस्रशाखान्वितसम्भवात्मने ॥ सहस्रयोगोद्भवभावभागिने सहस्रसंख्यायुगधारिणे नमः ॥१४१॥ यन्मण्डलं दीप्तिकरं विशालं रत्न-

प्रभं तीव्रमनादिरूपम् ।। दारिद्र्यदुःखक्षयकारणं च पुनातु मा तत्सवितु-र्वरेण्यम् ।।१४२।। यन्मण्डलं देवगणैः सुपूजितं विप्रैः स्तुतं भावनमुक्तिकोविदम् ।। तं देवदेवं प्रणमामि सूर्यं पुनातु मा तत्सवितुर्वरेण्यम् ।।१४३।। यन्मण्डलं ज्ञानघनं त्वगम्यं त्रैलोक्यपूज्यं त्रिगुणात्मरूपम् ।। समस्त-तेजोमयदिव्यरूपं पुनातु मा तत्सवि० ।। १४४ ।। यन्मण्डलं मूढमतिप्रबोधं धर्मस्य वृद्धिं कुरुते जनानाम् ।। यत्सर्वपापक्षयकारणं च पुनातु मां त० ।।१४५ ।। यन्मण्डलं व्याधिविनाशदक्षं यदृग्यजुः सामसु संप्रगीतम् ।। प्रकाशितं येन च भूर्भुवः स्वः पुनातु मा त० ।।१४६।। यन्मंडलं वेदविदो वदंति गायंति यच्चारणसिद्धसंघा. ।। यद्योगिनो योगजुषा च संघाः पुनातु मा त० ।। १४७ ।। यन्मंडलं सर्वजनेषु पूजितं ज्योतिश्च कुर्यादिह मर्त्यलोके ।। यत्कालकालादिमनादिरूपं पुनातु मां त० ।। १४८ ।। यन्मंडलं विष्णुचतुर्मुखाख्यं यदक्षरं पापहरं जनानाम् ।। यत्कालकल्पक्षयकारणं च पुनातु मां त० ।।१४९।। यन्मंडलं विश्वसृजा प्रसिद्धमुत्पत्तिरक्षाप्रलयप्रगल्भम् ।। यस्मिञ्जगत्संहरतेऽखिलं च पुनातु मा त० ।। १५० ।। यन्मण्डलं सर्वगतस्य विष्णोरात्मा परं धाम विशुद्धतत्त्वम् ।। सूक्ष्मांतरैर्योगपथानुगम्यं पुनातु मा तत्स० ।।१५१।। यन्मंडलं ब्रह्मविदो वदंति गायन्ति यच्चारणसिद्धसंघा. ।। यन्मण्डलं वेदविदः स्मरंति पुनातु मा तत्स० ।।१५२।। यन्मण्डलं वेदविदोपगीतं यद्योगिना योगपथानुगम्यम् ।। तत्सर्ववेदं प्रणमामि सूर्यं पुनातु मां त० ।। १५३ ।। मण्डलाष्टमिदं पुण्यं यः पठेत्सततं नरः ।। सर्वपापविशुद्धात्मा सूर्यलोके महीयते ।। १५४ ।। ध्येयः सदा सवितृमंडलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।। केयूरवान्मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्र ।। १५५ ।। सशंखचक्रं रविमंडले स्थितं कुशेशयाक्रांतमनंतमच्युतम् ।। भजामि बुद्ध्या तपनीयमूर्तिं सुरोत्तमं चित्रविभूषणोज्ज्वलम् ।। १५६ ।। एवं ब्रह्मादयो देवा

ऋषयश्च तपोधनाः ॥ कीर्तयंति सुरश्रेष्ठं देवं नारायणं विभुम् ॥ १५७ ॥ वेदवेदांगशारीरं दिव्यदीप्तिकरं परम् ॥ रक्षोघ्नं रक्तवर्णं च सृष्टिसंहारकारकम् ॥ १५८ ॥ एकचक्रो रथो यस्य दिव्यः कनकभूषितः ॥ स मे भवतु सुप्रीतः पद्महस्तो दिवाकरः ॥१५९॥ आदित्यः प्रथमं नाम द्वितीयं तु दिवाकरः ॥ तृतीयं भास्करः प्रोक्तं चतुर्थं तु प्रभाकरः ॥१६०॥ पंचमं तु सहस्रांशुः षष्ठं चैव त्रिलोचनः ॥ सप्तमं हरिदश्वश्च ह्यष्टमं तु विभावसुः ॥१६१॥ नवमं दिनकृत्प्रोक्तं दशमं द्वादशात्मकम् ॥ एकादशं त्रयीमूर्तिर्द्वादशं सूर्य एव ॥ १६२ ॥ द्वादशादित्यनामानि प्रातःकाले पठेन्नरः ॥ दुःस्वप्ननाशनं चैव सर्वदुःखं च नश्यति ॥ १६३ ॥ दद्रुकुष्ठहरं चैव दारिद्र्यं हरते ध्रुवम् ॥ सर्वतीर्थप्रदं चैव सर्वकामप्रवर्धनम् ॥ १६४ ॥ यः पठेत्प्रातरुत्थाय भक्त्या नित्यमिदं नरः ॥ सौख्यमायुस्तथाऽरोग्यं लभते मोक्षमेव च ॥ १६५ ॥ अग्निमीले नमस्तुभ्यमिषेत्वोर्जस्वरूपिणे ॥ अग्नआयाहिवीतस्त्वं नमस्ते ज्योतिषाम्पते ॥१६६॥ शन्नोदेवि नमस्तुभ्यं जगच्चक्षुर्नमोऽस्तु ते ॥ पञ्चमायोपवेदाय नमस्तुभ्यं नमो नमः ॥ १६७ ॥ पद्मासनः पद्मकरः पद्मगर्भसमद्युतिः ॥ सप्ताश्वरथसंयुक्तो द्विभुजः स्यात्सदा रविः ॥१६८॥ आदित्यस्य नमस्कारं ये कुर्वंति दिने दिने ॥ जन्मांतरसहस्रेषु दारिद्र्यं नोपजायते ॥१६९॥ उदयगिरिमुपेतं भास्करं पद्महस्तं निखिलभुवननेत्रं रत्नरत्नोपमेयम् ॥ तिमिरकरिमृगेन्द्रं बोधकं पद्मिनीनां सुरवरमभिवंदे सुन्दरं विश्ववंद्यम् ॥ १७० ॥

इति श्रीभविष्यपु० श्रीकृष्णार्जुनसं० आदित्यहृदयस्तोत्रं संपूर्णम् ।

शीतलाष्टकम्

श्रीगणेशाय नम ॥ अस्य श्रीशीतलास्तोत्रस्य महादेव ऋषि ॥ अनुष्टुप् छंद ॥ शीतला देवता ॥ लक्ष्मी बीजम् ॥ भवानी शक्ति ॥ सर्वविस्फोटकनिवृत्तये जपे विनियोग ॥ ईश्वर उवाच ॥ वदेऽहं शीतला देवीं रासभस्था दिगम्बराम् ॥ मार्जनीकलशोपेता शूर्पालंकृतमस्तकाम् ॥ १ ॥ वदेऽहं शीतला देवीं सर्वरोगभयापहाम् ॥ यामासाद्य निवर्तेत विस्फोटकभयं महत् ॥ २ ॥ शीतले शीतले चेति यो ब्रूयाद्दाहपीडित ॥ विस्फोटकभय घोर क्षिप्र तस्य प्रणश्यति ॥ ३ ॥ यस्त्वामुदकमध्ये तु धृत्वा पूजयते नर ॥ विस्फोटकभयं घोरं गृहे तस्य न जायते ॥ ४ ॥ शीतले ज्वरदग्धस्य पूतिगंधयुतस्य च ॥ प्रनष्टचक्षुप पुंसस्त्वामाहुर्जीवनौषधम् ॥ ५ ॥ शीतले तनुजान्रोगान्नृणा हरसि दुस्त्यजान् ॥ विस्फोटकविदीर्णाना त्वमेकाऽमृतवर्षिणी ॥ ६ ॥ गलगडग्रहा रोगा ये चान्ये दारुणा नृणाम् ॥ त्वदनुध्यानमात्रेण शीतले याति सक्षयम् ॥ ७ ॥ न मन्त्रो नौषध तस्य पापरोगस्य विद्यते । त्वामेका शीतले धात्री नान्या पश्यामि देवताम् ॥ ८ ॥ मृणालतंतुसदृशीं नाभिहृन्मध्यसंस्थिताम् ॥ यस्त्वा सचिंतयेद्देवि तस्य मृत्युर्न जायते ॥ ९ ॥ अष्टक शीतलादेव्या यो नर सपठेत्सदा ॥ विस्फोटकभयं घोरं गृहे तस्य न जायते ॥१०॥ श्रोतव्यं पठितव्य च श्रद्धाभक्तिसमन्वितै ॥ उपसर्गविनाशाय परं स्वस्त्ययनं महत् ॥ ११ ॥ शीतले त्व जगन्माता शीतले त्व जगत्पिता ॥ शीतले त्व जगद्धात्री शीतलायै नमो नम ॥ १२ ॥ रासभो गर्दभश्चैव खरो वैशाखनदन ॥ शीतलावाहनश्चैव दूर्वाकदनिकृंतन ॥ १३ ॥ एतानि खरनामानि शीतलाग्रे तु य पठेत् ॥ तस्य गेहे शिशूनां च शीतलारुड् न जायते ॥ १४ ॥ शीतलाष्टकमेवेद न देय यस्य कस्यचित् ॥ दातव्यं च सदा तस्मै श्रद्धाभक्तियुताय वै ॥ १५ ॥

इति श्रीस्कन्दपुराणे शीतलाष्टकस्तोत्रं संपूर्णम् १४ ।

अन्नपूर्णास्तोत्रम्

श्रीगणेशाय नमः॥ नित्यानंदकरी वराभयकरी सौंदर्यरत्नाकरी निर्धूताखिलघोरपावनकरी प्रत्यक्षमाहेश्वरी ॥ प्रालेयाचलवंशपावनकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥ १ ॥ नानारत्नविचित्रभूषणकरी हेमांबराडंबरी मुक्ताहारविलंबमानविलसद्वक्षोजकुम्भान्तरी ॥ काश्मीरागुरुवासिता रुचिकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥ २ ॥ योगानन्दकरी रिपुक्षयकरी धर्मार्थनिष्ठाकरी चन्द्रार्कानलभासमानलहरी त्रैलोक्यरक्षाकरी ॥ सर्वैश्वर्यसमस्तवाञ्छितकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥ ३ ॥ कैलासाचलकन्दरालयकरी गौरी उमा शंकरी कौमारी निगमार्थगोचरकरी ओंकारबीजाक्षरी ॥ मोक्षद्वारकपाटपाटनकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥ ४ ॥ दृश्यादृश्यप्रभूतवाहनकरी ब्रह्माण्डभाण्डोदरी लीलानाटकसूत्रभेदनकरी विज्ञानदीपांकुरी ॥ श्रीविश्वेशमनःप्रसादनकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपावलम्बनकरी मातान्नपूर्णेश्वरी ॥ ५ ॥ उर्वी सर्वजनेश्वरी भगवती मातान्नपूर्णेश्वरी वेणीनीलसमानकुन्तलहरी नित्यान्नदानेश्वरी ॥ सर्वानन्दकरी दशां शुभकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥ ६ ॥ आदिक्षान्तिसमस्तवर्णनकरी शम्भोस्त्रिभावाकरी काश्मीरा त्रिजलेश्वरी त्रिलहरी नित्यांकुरा शर्वरी ॥ कामाकाङ्क्षकरी जनोदयकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥७॥ देवी सर्वविचित्ररत्नरचिता दाक्षायणी सुन्दरी वामं स्वादुपयोधरप्रियकरी सौभाग्यमाहेश्वरी ॥ भक्ताभीष्टकरी दशाशुभकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥ ८ ॥ चन्द्रार्कानलकोटिकोटिसदृशा चन्द्रांशुबिम्बाधरी चन्द्रार्काग्निसमानकुन्तलधरी चन्द्रार्कवर्णेश्वरी ॥ मालापुस्तकपाशसांकुशधरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि

कृपा० ॥ ६ ॥ क्षत्रत्राणकरी महाऽभयकरी माता कृपासागरी साक्षान्मोक्षकरी सदाशिवकरी विश्वेश्वरी श्रीधरी ॥ दक्षाक्रन्दकरी निरामयकरी काशीपुराधीश्वरी भिक्षां देहि कृपा० ॥ १० ॥ अन्नपूर्णे सदापूर्णे शङ्करप्राणवल्लभे ॥ ज्ञानवैराग्यसिद्ध्यर्थं भिक्षां देहि च पार्वति ॥ ११ ॥ माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वरः ॥ बान्धवाः शिवभक्ताश्च स्वदेशो भुवनत्रयम् ॥ १२ ॥

इतिश्रीमच्छंकराचार्यविरचितमन्नपूर्णाष्टकस्तोत्रं सम्पूर्णम् १५ ।

गङ्गाष्टकम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ मातः शैलसुतासपत्नि वसुधाशृङ्गारहारावलि स्वर्गारोहणवैजयन्ति भवतीं भागीरथीं प्रार्थये ॥ त्वत्तीरे वसतस्त्वदम्बु पिबतस्त्वद्वीचिषु प्रेंखतस्त्वन्नाम स्मरतस्त्वदर्पितदृशः स्यान्मे शरीरव्ययः ॥ १ ॥ त्वत्तीरे तरुकोटरान्तरगतो गङ्गे विहंगो वरं त्वन्नीरे नरकान्तकारिणि वरं मत्स्योऽथवा कच्छपः ॥ नैवान्यत्र मदांधसिन्धुरघटासंघट्टघण्टारणत्कारत्रस्तसमस्तवैरिवनितालब्धस्तुतिर्भूपतिः ॥ २ ॥ उक्षा पक्षी तुरग उरगः कोऽपि वा वारणो वा वाराणस्यां जननमरणक्लेशदुःखासहिष्णुः ॥ न त्वन्यत्र प्रविरलरणत्कंकणक्वाणमिश्रं वारस्त्रीभिश्चमरमरुता वीजितो भूमिपालः ॥ ३ ॥ काकैर्निष्कुषितं श्वभिः कवलितं गोमायुभिर्लुण्ठितं स्रोतोभिश्चलितं तटाम्बुलुलितं वीचीभिरांदोलितम् ॥ दिव्यस्त्रीकरचारुचामरमरुत्सवीज्यमानः कदा द्रक्ष्येऽहं परमेश्वरि त्रिपथगे भागीरथि स्वं वपुः ॥ ४ ॥ अभिनवबिसवल्ली पादपद्मस्य विष्णोर्मदनमथनमौलेर्मालतीपुष्पमाला ॥ जयति जयपताका काऽप्यसौ मोक्षलक्ष्म्याः क्षपितकलिकलंका जाह्नवी नः पुनातु ॥ ५ ॥ एतत्तालतमालसालसरल-

व्यालोलवल्लीलताच्छन्नं सूर्यकरप्रतापरहितं शंखेन्दुकुन्दोज्ज्वलम् ॥ गंधर्वामरसिद्धकिन्नरवधूतुङ्गस्तनास्फालितं स्नानाय प्रतिवासरं भवतु मे गांगं जलं निर्मलम् ॥६॥ गांगं वारि मनोहारि मुरारिचरणच्युतम् ॥ त्रिपुरारिशिरश्चारि पापहारि पुनातु माम् ॥ ७ ॥ पापापहारि दुरितारि तरङ्गधारि शैलप्रचारिगिरिराजगुहाविदारि ॥ झंकारकारि हरिपादरजोपहारि गांगं पुनातु सततं शुभकारि वारि ॥८॥ गङ्गाष्टकं पठति यः प्रयतः प्रभाते वाल्मीकिना विरचितं शुभदं मनुष्यः ॥ प्रक्षाल्य गात्रकलिकल्मषमाशु मोक्षं लभेत्पतति नैव नरो भवाब्धौ ॥ ९ ॥

इति श्रीवाल्मीकिविरचितं गङ्गाष्टकं संपूर्णम् २ ।

दुर्गापदुद्धारस्तोत्रम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ नमस्ते शरण्ये शिवे सानुकम्पे नमस्ते जगद्व्यापिके विश्वरूपे ॥ नमस्ते जगद्वन्द्यपादारविन्दे नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥१॥ नमस्ते जगच्चिन्त्यमानस्वरूपे नमस्ते महायोगिनि ज्ञानरूपे ॥ नमस्ते नमस्ते सदानन्दरूपे नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ २ ॥ अनाथस्य दीनस्य तृष्णातुरस्य भयार्तस्य भीतस्य बद्धस्य जन्तोः ॥ त्वमेका गतिर्देवि निस्तारकर्त्री नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ३ ॥ अरण्ये रणे दारुणे शत्रुमध्येऽनले सागरे प्रान्तरे राजगेहे ॥ त्वमेका गतिर्देवि निस्तारनौका नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ४ ॥ अपारे महादुस्तरेऽत्यन्तघोरे विपत्सागरे मज्जतां देहभाजाम् । त्वमेका गतिर्देवि निस्तारहेतुर्नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥५॥ नमश्चण्डिके चण्डदुर्दण्डलीलासमुत्खण्डिताखण्डिताशेषशत्रो ॥ त्वमेका गतिर्देवि निस्तारबीजं नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥६॥ त्वमेवाघभावाधृतासत्यवादीन्न जाताजितक्रोधनात्क्रोध-

निष्ठा ॥ इडा पिङ्गला त्वं सुषुम्ना च नाडी नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ७ ॥ नमो देवि दुर्गे शिवे भीमपादे सरस्वत्यरुन्धत्यमोघस्वरूपे ॥ विभूतिः शची कालरात्रिः सती त्वं नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे ॥ ८ ॥ शरणमसि सुराणां सिद्धविद्याधराणां मुनिमनुजपशूनां दस्युभिस्त्रासितानाम् ॥ नृपतिगृहगतानां व्याधिभिः पीडितानां त्वमसि शरणमेका देवि दुर्गे प्रसीद ॥ ६ ॥ इदं स्तोत्रं मया प्रोक्तमापदुद्धारहेतुकम् ॥ त्रिसन्ध्यमेकसन्ध्यं वा पठनाद् घोरसङ्कटात् ॥ १० ॥ मुच्यते नात्र सन्देहो भुवि स्वर्गे रसातले ॥ सर्वं वा श्लोकमेकं वा यः पठेद् भक्तिमान् सदा ॥ ११ ॥ स सर्वं दुष्कृतं त्यक्त्वा प्राप्नोति परमं पदम् ॥ पठनादस्य देवेशि किं न सिद्ध्यति भूतले ॥ १२ ॥ स्तवराजमिदं देवि संक्षेपात्कथितं मया ॥१३॥

इति श्रीसिद्धेश्वरीतन्त्रे उमामहेश्वरसंवादे श्रीदुर्गापदुद्धारस्तोत्रम् २५ ।

सरस्वतीस्तोत्रम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ ॐ अस्य श्रीसरस्वतीस्तोत्रमन्त्रस्य ब्रह्मा ऋषिः ॥ गायत्री छन्दः ॥ श्रीसरस्वती देवता ॥ धर्मार्थकाममोक्षार्थे जपे विनियोगः॥ आरूढा श्वेतहंसे भ्रमति च गगने दक्षिणे चाक्षसूत्रं वामे हस्ते च दिव्याम्बरकनकमयं पुस्तकं ज्ञानगम्या ॥ सा वीणां वादयन्ती स्वकरकरजपैः शास्त्रविज्ञानशब्दैः क्रीडन्ती दिव्यरूपा करकमलधरा भारती सुप्रसन्ना ॥ १ ॥ श्वेतपद्मासना देवी श्वेतगन्धानुलेपना ॥ अर्चिता मुनिभिः सर्वैऋषिभिः स्तूयते सदा ॥ एवं ध्यात्वा सदा देवीं वाञ्छितं लभते नरः ॥२॥ शुक्लां ब्रह्मविचारसारपरमामाद्यां जगद्व्यापिनीं वीणापुस्तकधारिणीमभयदां जाड्यान्धकारापहाम् ॥ हस्ते स्फाटिकमालिकां विदधतीं पद्मासने संस्थितां वन्दे तां परमेश्वरीं भगवतीं बुद्धिप्रदां शारदाम् ॥ ३ ॥ या

कुन्देन्दुतुषारहारधवला या शुभ्रवस्त्रावृता या वीणावरदण्डमण्डितकरा या श्वेतपद्मासना ॥ या ब्रह्माच्युतशंकरप्रभृतिभिर्देवैः सदा वन्दिता सा मां पातु सरस्वती भगवती निःशेषजाड्यापहा ॥ ४ ॥ ह्रीं ह्रीं हृद्यैकबीजे शशिरुचिकमले कल्पविस्पष्टशोभे भव्ये भव्यानुकूले कुमतिवनदवे विश्ववन्द्यांघ्रिपद्मे ॥ पद्मे पद्मोपविष्टे प्रणतजनमनोमोदसंपादयित्रि प्रोत्फुल्लज्ञानकूटे हरिनिजदयिते देवि संसारसारे ॥५॥ ऐं ऐं ऐं दृष्टमन्त्रे कमलभवमुखांभोजभूते स्वरूपे रूपारूपप्रकाशे सकलगुणमये निर्गुणे निर्विकारे॥ न स्थूले नैव सूक्ष्मेऽप्यविदितविभवे नापि विज्ञानतत्त्वे विश्वे विश्वान्तरात्मे सुरवरनमिते निष्कले नित्यशुद्धे ॥ ६ ॥ ह्रीं ह्रीं ह्रीं जाप्यतुष्टे हिमरुचिमुकुटे वल्लकीव्यग्रहस्ते मातर्मातर्नमस्ते दह दह जडतां देहि बुद्धिं प्रशस्ताम् ॥ विद्ये वेदान्तवेद्ये परिणतपठिते मोक्षदे मुक्तिमार्गे मार्गातीतस्वरूपे भव मम वरदा शारदे शुभ्रहारे ॥ ७ ॥ धीं धीं धीं धारणाख्ये धृतिमतिनतिभिर्नामभिः कीर्तनीये नित्येऽनित्ये निमित्ते मुनिगणनमिते नूतने वै पुराणे ॥ पुण्ये पुण्यप्रवाहे हरिहरनमिते नित्यशुद्धे सुवर्णे मातर्मात्रार्धतत्त्वे मतिमतिमतिदे माधवप्रीतिमोदे ॥ ८ ॥ हूं हूं हूं स्वस्वरूपे दह दह दुरितं पुस्तकव्यग्रहस्ते सन्तुष्टाकारचित्ते स्मितमुखि सुभगे जृम्भिणि स्तम्भविद्ये ॥ मोहे मुग्धप्रवाहे कुरु मम विमतिध्वान्तविध्वंसमीडे गीर्गौर्वाग्भारति त्वं कविवररसनासिद्धिदे सिद्धिसाध्ये ॥९॥ स्तौमि त्वां त्वां च वन्दे मम खलु रसनां नो कदाचित्त्यजेथा मा मे बुद्धिर्विरुद्धा भवतु न च मनो देवि मे यातु पापम् ॥ मा मे दुःखं कदाचित्क्वचिदपि विषयेऽप्यस्तु मे नाकुलत्वं शास्त्रे वादे कवित्वे प्रसरतु मम धीर्मास्तु कुण्ठा कदापि ॥१०॥ इत्येतैः श्लोकमुख्यैः प्रतिदिनमुषसि स्तौति यो भक्तिनम्रो वाणी वाचस्पतेरप्यविदितविभवो वाक्पटुर्मृष्टकण्ठः॥ स स्यादिष्टार्थलाभैः सुतमिव सततं पाति तं सा च देवी सौभाग्यं तस्य

लोके प्रभवति कविता विघ्नमस्तं प्रयाति ॥ ११ ॥ निर्विघ्नं तस्य विद्या प्रभवति सततं चाश्रुतग्रन्थबोधः कीर्तिस्त्रैलोक्यमध्ये निवसति वदने शारदा तस्य साक्षात् ॥ दीर्घायुर्लोकपूज्यः सकलगुणनिधिः सन्ततं राजमान्यो वाग्देव्याः संप्रसादात्त्रिजगति विजयी जाते सत्सभासु ॥ १२ ॥ ब्रह्मचारी व्रती मौनी त्रयोदश्यां निरामिषः ॥ सारस्वतो जनः पाठात्सकृदिष्टार्थलाभवान् ॥ १३ ॥ पक्षद्वये त्रयोदश्यामेकविंशतिसंख्यया ॥ अविच्छिन्नः पठेद्धीमान्ध्यात्वा देवीं सरस्वतीम् ॥ १४ ॥ सर्वपापविनिर्मुक्तः सुभगो लोकविश्रुतः ॥ वाञ्छितं फलमाप्नोति लोकेऽस्मिन्नात्र संशयः ॥ १५ ॥ ब्रह्मणेति स्वयं प्रोक्तं सरस्वत्याः स्तवं शुभम् ॥ प्रयत्नेन पठेन्नित्यं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मणा विरचितं सरस्वतीस्तोत्रं सम्पूर्णम् ३१ ।

श्रीस्तोत्रम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ पुष्कर उवाच ॥ राजलक्ष्मीस्थिरत्वाय यथेन्द्रेण पुरा श्रियः ॥ स्तुतिः कृता तथा राजन् जयार्थं स्तुतिमाचरेत् ॥ १ ॥ इन्द्र उवाच ॥ नमस्ते सर्वलोकाना जननीमब्धिसम्भवाम् ॥ श्रियमुन्निद्रपद्माक्षीं विष्णुवक्षःस्थलस्थिताम् ॥ २ ॥ त्वं सिद्धिस्त्वं स्वधा स्वाहा सुधा त्वं लोकपावनी ॥ संध्या रात्रिः प्रभामूर्तिर्मेधा श्रद्धा सरस्वती ॥३॥ यज्ञविद्या महाविद्या गुह्यविद्या च शोभने ॥ आत्मविद्या च देवि त्वं विमुक्तिफलदायिनी ॥ ४ ॥ आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिस्त्वमेव च ॥ सौम्यासौम्यैर्जगद्रूपैस्त्वयैतद्देवि पूरितम् ॥ ५ ॥ का त्वन्या त्वामृते देवि सर्वयज्ञमयं वपुः ॥ अध्यास्ते देवदेवस्य योगिचिन्त्यं गदाभृतः ॥ ६ ॥ त्वया देवि परित्यक्तं सकलं भुवनत्रयम् ॥ विनष्टप्रायमभवत् त्वयेदानीं समे-

धितम् ॥ ७ ॥ दाराः पुत्रास्तथागारं सुहृद्धान्यधनादिकम् ॥ भवत्येतन्महाभागे नित्यं त्वद्वीक्षणान्नृणाम् ॥८॥ शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः सुखम् ॥ देवि त्वद्दृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम् ॥ ९ ॥ त्वमम्बा सर्वलोकानां देवदेवो हरिः पिता ॥ त्वयैतद्विष्णुना चाम्ब जगद् व्याप्तं चराचरम् ॥ १० ॥ मानं कोषं तथा कोषं मा गृहं मा परिच्छदम् ॥ मा शरीरं कलत्रं च त्यजेथाः सर्वपावनि ॥ ११ ॥ मा पुत्रान्मा सुहृद्वर्गान् मा पशून्मा विभूषणम् ॥ त्यजेथा मम देवस्य विष्णोर्वक्षःस्थलालये ॥ १२ ॥ सत्त्वेन सत्यशौचाभ्यां तथा शीलादिभिर्गुणैः ॥ त्यजन्ते ते नराः सद्यः सन्त्यक्ता ये त्वयाऽमले ॥ १३ ॥ त्वयाऽवलोकिताः सद्यः शीलाद्यैरखिलैर्गुणैः ॥ कुलैश्वर्यैश्च युज्यन्ते पुरुषा निर्गुणा अपि ॥ १४ ॥ स श्लाघ्यः स गुणी धन्यः स कुलीनः स बुद्धिमान् ॥ स शूरः स च विक्रान्तो यस्त्वया देवि वीक्षितः ॥१५॥ सद्यो वैगुण्यमायान्ति शीलाद्याः सकला गुणाः ॥ पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णुवल्लभे ॥ १६ ॥ न ते वर्णयितुं शक्ता गुणान् जिह्वापि वेधसः ॥ प्रसीद देवि पद्माक्षि मास्मांस्त्याक्षीः कदाचन ॥ १७ ॥ पुष्कर उवाच ॥ एवं स्तुता ददौ श्रीश्च वरमिन्द्राय चेप्सितम् ॥ सुस्थिरत्वं च राज्यस्य संग्रामविजयादिकम् ॥ १८ ॥ स्वस्तोत्रपाठश्रवणकर्तॄणां भुक्तिमुक्तिदम् ॥ श्रीस्तोत्रं सततं तस्मात्पठेच्च शृणुयान्नरः ॥ १९ ॥

इति अग्निपुराणान्तर्गतं श्रीस्तोत्रं समाप्तम् ५ ।

महालक्ष्म्यष्टकम्

श्रीगणेशाय नमः ॥ इन्द्र उवाच ॥ नमस्तेऽस्तु महामाये श्रीपीठे सुरपूजिते ॥ शंखचक्रगदाहस्ते महालक्ष्मि नमोऽस्तु ते ॥ १ ॥ नमस्ते गरुडारूढे कोलासुरभयंकरि ॥ सर्वपापहरे देवि महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥२॥

सर्वज्ञे सर्ववरदे सर्वदुष्टभयंकरि ॥ सर्वदुःखहरे देवि महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥ ३ ॥ सिद्धिबुद्धिप्रदे देवि भुक्तिमुक्तिप्रदायिनि ॥ मंत्रमूर्ते सदा देवि महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥ ४ ॥ आद्यन्तरहिते देवि आद्यशक्ति महेश्वरि ॥ योगज्ञे योगसंभूते महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥ ५ ॥ स्थूलसूक्ष्ममहारौद्रे महाशक्ति महोदरे ॥ महापापहरे देवि महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥ ६ ॥ पद्मासनस्थिते देवि परब्रह्मस्वरूपिणि ॥ परमेशि जगन्मातर्महालक्ष्मि नमोऽस्तुते ॥ ७ ॥ श्वेताम्बरधरे देवि नानालंकारभूषिते ॥ जगत्स्थिते जगन्मातर्महालक्ष्मि नमोऽस्तु ते ॥८॥ महालक्ष्म्यष्टकस्तोत्रं यः पठेद्भक्तिमान्नरः ॥ सर्वसिद्धिमवाप्नोति राज्यं प्राप्नोति सर्वदा ॥ ९ ॥ एककाले पठेन्नित्यं महापापविनाशनम् ॥ द्विकालं यः पठेन्नित्यं धनधान्यसमन्वितः ॥१०॥ त्रिकालं यः पठेन्नित्यं महाशत्रुविनाशनम् ॥ महालक्ष्मीर्भवेन्नित्यं प्रसन्ना वरदा शुभा ॥ ११ ॥

इतीन्द्रकृत श्रीमहालक्ष्म्यष्टकं संपूर्णम् ६ ।

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ आर्यास्तवः

वैशम्पायन उवाच ।

आर्यास्तवं प्रवक्ष्यामि यथोक्तमृषिभिः पुरा ।
नारायणीं नमस्यामि देवीं त्रिभुवनेश्वरीम् ॥ १ ॥
त्वं हि सिद्धिर्धृतिः कीर्तिः श्रीर्विद्या सन्नतिर्मतिः ।
संध्या रात्रिः प्रभा निद्रा कालरात्रिस्तथैव च ॥ २ ॥
आर्या कात्यायनी देवी कौशिकी ब्रह्मचारिणी ।
जननी सिद्धसेनस्य उग्रचारी महाबला ॥ ३ ॥ -

लया च विजया चैव पुष्टिस्तुष्टिः क्षमा दया।
ज्येष्ठा यमस्य भगिनी नीलकौशेयवासिनी ॥ ४ ॥
बहुरूपा विरूपा च अनेकविधचारिणी।
विरूपाक्षी विशालाक्षी भक्तानां परिरक्षिणी ॥ ५ ॥
पर्वताग्रेषु घोरेषु नदीषु च गुहासु च।
वासस्तव महादेवि वनेषूपवनेषु च ॥ ६ ॥
शबरैर्बर्बरैश्चैव पुलिन्दैश्च सुपूजिता।
मयूरपिच्छध्वजिनी लोकान् क्रमसि सर्वशः ॥ ७ ॥
कुक्कुटैश्छागलैर्मेषैः सिंहैर्व्याघ्रैः समाकुला।
घण्टानिनादबहुला विन्ध्यवासिन्यभिश्रुता ॥ ८ ॥
त्रिशूलपट्टिशधरा सूर्यचन्द्रपताकिनी।
नवमी कृष्णपक्षस्य शुक्लस्यैकादशी तथा ॥ ६ ॥
भगिनी बलदेवस्य रजनी कलहप्रिया।
आवासः सर्वभूतानां निष्ठा च परमा गतिः ॥ १० ॥
नन्दगोपसुता चैव देवानां विजयावहा।
चीरवासाः सुवासाश्च रौद्री सन्ध्याचरी निशा ॥११॥
प्रकीर्णकेशी मृत्युश्च सुरामांसबलिप्रिया।
लक्ष्मीरलक्ष्मीरूपेण दानवानां वधाय च ॥ १२ ॥
सावित्री चापि देवानां माता मन्त्रगणस्य च।
कन्यानां ब्रह्मचर्यत्वं सौभाग्यं प्रमदासु च ॥ १३ ॥
अन्तर्वेदी च यज्ञानामृत्विजां चैव दक्षिणा।
कर्षुकाणां च सीतेति भूतानां धरणीति च ॥ १४ ॥
सिद्धिः सांयात्रिकाणां तु वेला त्वं सागरस्य च।
यक्षाणां प्रथमा यक्षी नागानां सुरसेति च ॥ १५ ॥

ब्रह्मवादिन्यथोदीक्षा शोभा च परमा तथा ।
ज्योतिषां त्वं प्रभा देवी नक्षत्राणां च रोहिणी ॥ १६ ॥
राजद्वारेषु तीर्थेषु नदीनां सङ्गमेषु च ।
पूर्णा च पूर्णिमाचन्द्रे कृत्तवासा इति स्मृता ॥ १७ ॥
सरस्वती च वाल्मीके स्मृतिर्द्वैपायने तथा ।
ऋषीणां धर्मबुद्धिस्तु देवानां मानसी तथा ॥ १८ ॥
सुरा देवि तु भूतेषु स्तूयसे त्वं सुकर्मभिः ।
इन्द्रस्य चारुदृष्टिस्त्वं सहस्र नयनेति च ॥ १९ ॥
तापसाना च देवी त्वमरणी चाग्निहोत्रिणाम् ।
क्षुधा च सर्वभूतानां तृप्तिस्त्वं दैवतेषु च ॥ २० ॥
स्वाहा तृप्तिर्धृतिर्मेधा वसूनां त्वं वसूमती ।
आशात्वं मानुषाणां च पुष्टिश्च कृतकर्मणाम् ॥ २१ ॥
दिशश्च विदिशश्चैव तथा ह्यग्निशिखा प्रभा ।
शकुनी पूतना त्वं च रेवती च सुदारुणा ॥ २२ ॥
निद्रासि सर्वभूतानां मोहिनी क्षत्रिया तथा ।
विद्यानां ब्रह्मविद्या त्वमोङ्कारोऽथ वषट् तथा ॥ २३ ॥
नारीणां पार्वतीं च त्वां पौराणीमृषयो विदुः ।
अरुन्धती च साध्वीनां प्रजापतिवचो यथा ॥ २४ ॥
यथार्थनामभिर्दिव्यैरिन्द्राणी चेति विश्रुता ।
त्वया व्याप्तमिदं सर्वं जगत्स्थावरजङ्गमम् ॥ २५ ॥
संग्रामेषु च सर्वेषु अग्निप्रज्वलितेषु च ।
नदीतीरेषु चौरेषु कान्तारेषु भयेषु च ॥ २६ ॥
प्रवासे राजबन्धे च शत्रूणां च प्रमर्दने ।
प्राणात्ययेषु सर्वेषु त्वं हि रक्षा न संशयः ॥ २७ ॥

त्वयि मे हृदयं देवि त्वयि चित्तं मनस्त्वयि ।
रक्ष मां सर्वपापेभ्यः प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥ २८ ॥
इमं यस्तु स्तवं दिव्यमिति व्यासप्रकल्पितम् ।
यः पठेत्प्रातरुत्थाय शुचिः प्रयतमानसः ॥ २९ ॥
त्रिभिर्मासैः कांक्षितं च फलं वै संप्रयच्छसि ।
षड्भिर्मासैर्वरिष्ठं तु वरमेकं प्रयच्छसि ॥ ३० ॥
अर्चिता तु त्रिभिर्मासैर्दिव्यं चक्षुः प्रयच्छसि ।
संवत्सरेण सिद्धिं तु यथाकामं प्रयच्छसि ॥ ३१ ॥
सत्यं ब्रह्म च दिव्यं च द्वैपायनवचो यथा ।
नृणां बन्धं वधं घोरं पुत्रनाशं धनक्षयम् ॥ ३२ ॥
व्याधिमृत्युभयं चैव पूजिता शमयिष्यसि ।
भविष्यसि महाभागे वरदा कामरूपिणी ॥ ३३ ॥
मोहयित्वा च तं कंसमेका त्वं भोक्ष्यसे जगत् ।
अहमप्यात्मनो वृत्तिं विधास्ये गोपु गोपवत् ॥ ३४ ॥
स्ववृद्ध्यर्थमहं चैव करिष्ये कंसगोपताम् ।
एवं तां स समादिश्य गतोऽन्तर्धानमीश्वरः ॥ ३५ ॥
सा चापि तं नमस्कृत्य तथास्त्विति च निश्चिता ।
यश्चैतत् पठते स्तोत्रं शृणुयाद्वाप्यभीक्ष्णशः ॥
सर्वार्थसिद्धिं लभते नरो नास्त्यत्र संशयः ॥ ३६ ॥

इति श्री महाभारते खिलेषु हरिवंशे विष्णुपर्वणि स्वप्नगर्भविधाने आर्यास्तुतिर्नाम तृतीयोध्यायः ॥ ३ ॥

———

श्रीहनुमते नमः ।

श्रीहनुमानचालीसा

॥ दोहा ॥

श्रीगुरुचरण सरोज रज, निजमन मुकुर सुधार ।
वरणौ रघुवर विमल यश, जो दायक फलचार ॥
बुद्धि हीन तनु जानिके, सुमिरौं पवनकुमार ।
बलबुद्धि विद्या देहु मोहिं, हरहु कलेश विकार ॥

॥ चौपाई ॥

जय हनुमान ज्ञान गुनसागर, जय कपीस तिहुलोक उजागर ।
राम दूत अतुलित बलधामा, अंजनिपुत्र पवनसुत नामा ॥
महाबीर विक्रम बजरंगी, कुमति निवार सुमति के संगी ।
कञ्चन बरन विराज सुबेसा, कानन कुंडल कुंचित केसा ॥
हाथ वज्र औ ध्वजा विराजै, काँधे मूंज जनेऊ साजै ।
संकरसुअन केसरीनंदन, तेज प्रताप महाजगवंदन ॥
विद्यावान् गुणी अति चातुर, रामकाज करिबे को आतुर ।
प्रभुचरित्र सुनिबेको रसिया, रामलषण सीता मन बसिया ।
सूक्ष्मरूप धरि सियहिं दिखावा, विकट रूप धरि लंक जरावा ॥
भीमरूप धरि असुर संहारे, रामचन्द्र के काज सँवारे ।
लाय सजीवन लषन जियाये, श्री रघुवीर हरषि उरलाये ॥
रघुपति कीनी बहुत बडाई, तुम मम प्रिय भरत सम भाई ।
सहसबदन तुम्हरो यश गायो, अस कहि श्रीपति कंठ लगायो ॥
सनकादिक ब्रह्मादि मुनीसा, नारद शारद सहित अहीसा ।
यम कुबेर दिगपाल जहाँते, कवि कोविद कहि सकै कहाँते ॥
तुम उपकार सुग्रीवहिं कीन्हा, राम मिलाय राजपद दीन्हा ।

तुम्हरा मंत्र विभीषन माना, लंकेस्वर भये सब जगजाना ॥
युग सहस्र योजन जो भानू, लीला ताहि मधुर फल जानू।
प्रभु मुद्रिका मेलि मुखमाहीं, जलधि लाँघि गये अचरज नाहीं॥
दुरगम काज जगतके जेते, सुगम अनुग्रह तुम्हरे तेते।
राम दुआरे तुम रखवारे, होत न आज्ञा बिन पैसारे॥
सब सुख लहै तुम्हारी सरना, तुम रक्षक काहूको डरना।
आपन तेज सम्हारो आपै, तीनों लोक हाँकते काँपै॥
भूत पिसाच निकट नहिं आवै, महावीर जब नाम सुनावै।
नासै रोग हरै सब पीरा, जपत निरंतर हनुमत बीरा॥
संकटसे हनुमान छोड़ावै, मनक्रम बचन ध्यान जो लावै।
सबपर राम तपस्वी राजा, तिनके काज सकल तुम साजा॥
और मनोरथ जो कोई लावै, तासु अमित जीवन फल पावै।
चारों युग परताप तुम्हारा, है परसिद्ध जगत उजियारा॥
साधुसंतके तुम रखवारे, असुर निकंदन राम दुलारे।
अष्ट सिद्धि नव निधि के दाता, अस वर दीन जानकी माता॥
राम-रसायन तुम्हरे पासा, सादर तुम रघुपति के दासा।
तुम्हरे भजन रामको, पावैजन्म जन्म के दुख बिसरावै॥
अन्तकाल रघुपतिपुर जाई, जहाँ जन्म हरिभक्त कहाई।
और देवता चित्त न धरई, हनुमत सेय सर्व सुख करई॥
संकट हरै मिटै सब पीरा, जो सुमिरै हनुमत बल बीरा।
जय जय जय हनुमान गोसाईं, कृपा करो गुरु देवकी नाईं॥
यह सत बार पाठ कर जोई, छूटै बन्दि महा सुख होई।
जो यह पढ़ै हनुमान चालीसा, होय सिद्ध साखी गौरीसा॥
तुलसीदास सदा हरिचेरा, कीजै नाथ हृदय महँ डेरा।

॥ दोहा ॥

पवन तनय संकट हरन, मंगल मूरति रूप ।

रामलषन सीता सहित, हृदय बसहु सुर भूप ॥

श्रीहनुमानाष्टक

बाल समय रवि भक्ष लियो तब तीनहु लोक भयो अंधियारो ।
ताहि सो त्रास भयो जगको यह संकट काहुसो जात न टारो ॥
देवन आनि करी विनती तब छाडि दियो रवि कष्ट निवारो ।
को नहिं जानत है जगमें कपि संकट मोचन नाम तिहारो ॥
बालिकी त्रास कपीस बसै गिरिजात महाप्रभु पंथ निवारो ।
चौंकि महामुनि साप दियो तब चाहिय कौन विचार विचारो ॥
के द्विज रूप लिआय महाप्रभु सो तुम दास के सोक निवारो । को०
अङ्गद के सँग लेन गये सिय खोज कपीस यह बैन उचारो ॥
जीवत ना बचिहौ हमसो जु बिना सुधि लाए इहाँ पग धारो ।
हेरि थके तट सिन्धु सबै तब लाय सिया सुधि प्रान उबारो ॥ को०
रावन त्रास दई सियको सब राक्षसि सो कहि सोक निवारो ।
ताहि समय हनुमान महाप्रभु जाय महा रजनीचर मारो ॥
चाहत सीय असोक सो आगि सु दै प्रभु मुद्रिका सोक निवारो । को०
बान लग्यो उर लक्ष्मण के तब प्राण तजो सुत रावन मारो ॥
लै गृह बैद्य सुखेन समेत तबै गिरि द्रोन सुबीर उपारो ।
लाय सजीवन हाथ दई तब लक्ष्मणके तुम प्रान उबारो ॥ को०
रावन युद्ध अजान कियो तब नाग कि फाँस सबै सिर डारो ।
स्री रघुनाथ समेत सबै दल मोह भयो यह संकट भारो ॥

आनि खगेस तबै हनुमानजु बन्धन काटि सुत्रास निवारो। को०
बन्धु समेत जबै अहिरावन लै रघुनाथ पताल सिधारो॥
देविहि पूजि भली विधिसों बलि देन सबै मिलि मंत्र विचारो।
जाय सहाय भयो तबहीं अहिरावन सैन्य समेत संहारो॥ को०
काज किये बड़ देवन के तुम बीर महाप्रभु देखि विचारो।
कौनसो संकट मोर गरीब को जो तुमसो नहिं जात है टारो॥
वेगि हरो हनुमान महाप्रभु जो कछु संकट होय हमारो। को०

लाल देह लाली लसे अरु धरि लाल लँगूर
वज्रदेह दानव दलन जय जय जय कपिसूर।

श्रीरामस्तुति

श्रीरामचन्द्र कृपालु भजुमन हरण भव भय दारुणम्।
नवकंज लोचन कंज मुख कर कंज पद कंजारुणम्॥
कंदर्प अगणित अमित छवि नव नील नीरज सुन्दरम्।
पटपीत मानहु तड़ित रुचिशुचि नौमि जनक सुतावरम्॥
भजु दीनबन्धु दिनेश दानव दैत्यवंश निकंदनम्।
रघुनंद आनन्द कन्द कोशल चन्द दशरथ नन्दनम्॥
सिर मुकुट कुण्डल तिलक चारु उदार अंग विभूषणम्।
आजानु भुज शरचाप धर संग्रामजित खर दूषणम्॥
इति वदति तुलसीदास शंकर शेष मुनिमन रंजनम्।
मम हृदयकंज निवास करु कामादि खलदल गंजनम्॥
मन जाहि राच्यो मिलहिं सो बर सहज सुन्दर साँवरो।
करुणा निधान सुजान शील सनेह जानत रावरो॥

इहि भाँति गौरि असीस सुनि सिय सहित हिय हरषित अली।
तुलसी भवानिहिं पूजि पुनि पुनि मुदित मन मन्दिर चली॥
जानि गौरि अनुकूल, सियहिय हर्ष न जाय कहि।
मंजुल मंगल मूल, वाम अङ्ग फरकन लगे॥
सियावर रामचन्द्रकी जय।

हे रामा पुरुषोत्तमा नरहरे नारायण केशवा
गोविन्दा गरुडध्वजा गुणनिधे दामोदरा माधवा।
हे कृष्णा कमलापते यदुपते सीतापते श्रीपते
वैकुण्ठाधिपते चराचरपते लक्ष्मीपते पाहि माम्॥

आदौ रामतपोवनादिगमनं हत्वा मृगं काञ्चनं।
वैदेहीहरणं जटायुमरणं सुग्रीवसम्भाषणम्॥
बालिनिर्दलनं समुद्रतरणं लङ्कापुरीदाहनं।
पश्चाद्रावणकुम्भकर्णहननमेतद्धि रामायणम्॥

आदौ देवकि देवगर्भजननं गोपीगृहे वर्द्धनं।
मायापूतनजीवितापहरणं गोवर्द्धनोद्धारणम्॥
कंसच्छेदनकौरवादिहननं कुन्तीसुतापालनं।
एतद्भागवतं पुराणकथितं श्रीकृष्णलीलामृतम्॥

आदौ पाण्डवधार्तराष्ट्रजननं लाक्षागृहे दाहनम्।
द्यूतश्रीहरणं वने विचरणं मत्स्यालयावेधनम्॥

लीलागोहरणं रणे विचरणं सन्ध्याक्रियावर्द्धनम्।
पश्चाद्भीष्म सुयोधनादिहननमेतन्महाभारतम् ॥

सप्तश्लोकी गीता

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१॥
स्थाने हृषीकेश तव प्रकृत्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः॥२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ ३ ॥
कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥४॥
ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥५॥
सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥६॥
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ॥
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥ ७ ॥
इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे
श्रीकृष्णार्जुनसंवादे सप्तश्लोकीगीता समाप्ता।

सप्तश्लोकि भागवतम्

ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञानसमन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गञ्च गृहाण गदितं मया॥ १॥
यावानहं यथाभावो यद्रूपगुणकर्मकः।
तथैव तत्त्वविज्ञानमस्तु ते मदनुग्रहात्॥ २॥
अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत् सदसत्परम्।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥३॥
ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि।
तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथातमः॥४॥
यथा महान्ति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु।
प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम्॥ ५॥
एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनाऽऽत्मनः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात्सर्वत्र सर्वदा॥ ६॥
एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना।
भवान्कल्पविकल्पेषु न मुह्यति कर्हिचित्॥ ७॥
इति श्रीमद्भागवते महापुराणेऽष्टादशसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां
द्वितीयस्कन्धे भगवद्ब्रह्मसंवादे सप्तश्लोकि भागवतम्।

विष्णु स्तुति

कस्तूरीतिलकं ललाटपटले वक्षःस्थले कौस्तुभं।
नासाग्रे वरमौक्तिकं करतले वेणु करे कङ्कणम्॥
सर्वाङ्गे हरिचन्दनं सुललितं कण्ठे च मुक्तावली।
गोपस्त्रीपरिवेष्टितो विजयते गोपालचूडामणि॥

फुल्लेन्दीवरकान्तिमिन्दुवदनं बर्हावतंसप्रियं ।
श्रीवत्साङ्कमुदारकौस्तुभधरं पीताम्बरं सुन्दरम् ॥
गोपीनां नयनोत्पलार्चिततनुं गोगोपसङ्घावृतं ।
गोविन्दं कलवेणुवादनपरं दिव्याङ्गभूषं भजे ॥
यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवैः ।
वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो ।
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणाः देवाय तस्मै नमः ॥
श्रियः पतिर्यज्ञपतिः प्रजापतिर्धियां पतिर्लोकपतिर्धरापतिः ।
पतिर्गतिश्चान्धकवृष्णिसात्वतां
प्रसीदतां मे भगवान् सतां पतिः ॥
मत्स्याश्वकच्छप नृसिंहवराहहंस ।
राजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ॥
त्वं पासि नस्त्रिभुवनञ्च यथाधुनेश ।
भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनं ते ॥
सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितञ्च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥
ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं ।
तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम् ॥
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं ।
वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ॥
त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं ।
धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम् ॥
मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् ।

अन्ये महापुरुष के चरणारविन्दम् ॥
अपराधसहस्रभाजनं पतितं भीमभवार्णवोदरे।
अगतिं शरणागतं हरे कृपया केवल मात्मसात्कुरु ॥

मनोजवं मारुततुल्यवेगं, जितेन्द्रियं बुद्धिमतां वरिष्टं।
वातात्मजं वानरयूथमुख्यं श्रीरामदूतं शरणं प्रपद्ये ॥

आरती बजरङ्गबली की

आरती कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथ कला की ॥
जाके बलसे गिरिवर काँपै। रोग दोष जाके निकट न झाँकै।
अजनी पुत्र महा बलदाई। सन्तन के प्रभु सदा सहाई ॥
दे बीरा रघुनाथ पठाये। लङ्का जारि सिया सुधि लाये ॥
लङ्का ऐसे कोट समुद्र ऐसी खाई। जात पवनसुत बार न लाई ॥
लङ्का जारि असुर सब मारे। सीताराम के काज सँवारे ॥
लक्ष्मण मुरछि परे धरणी में। आन सजीवन प्राण उबारे ॥
पैठि पताल तोरि यमकातर। अहिरावन के भुजा उखारे ॥
बाएँ भुजा असुर संहारे। दहिने भुजा सब सत उबारे ॥
सुरनर मुनिजन आरती उतारें। जै जै जै हनुमान्जी उचारें ॥
कञ्चन थार कपूर की बाती। आरति करत अञ्जनी माई ॥
जो हनुमानजीकी आरति गावैं। बसि वैकुण्ठ अमरपद पावैं ॥
लङ्क विध्वस किये रघुराई। तुलसीदास स्वामि कीरति गाई ॥

श्री गणेशाय नमः।

अथ श्रीगणपतिजीकी आरती

गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न टरैं।
तीनलोक तैंतीस देवता द्वार खड़े सब अर्ज करैं ॥

ऋद्धिसिद्धि दक्षिण वाम विराजैं अरु आनन्दसों चमर कर ।
धूप दीप औ लिया आरती भक्त खड़ा जयकार करैं ॥
गणपति सेवा मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न टरैं ।
गुड़के मोदक भोग लगत हैं मूषक वाहन चढ़ा सरैं ।
सौम्यरूपसे ये गणपति को विघ्न भाजज्या दूर परैं ॥
गणपति की सेवा मङ्गलमेवा सेवासे सब विघ्न टरैं ॥
भादो मास और शुक्ल चतुर्थी दिन दो पारा पूर परैं ।
लियो जन्म गणपति प्रभुजी सुनि दुर्गा मन आनन्द भरैं ॥
गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवासे सब विघ्न टरैं ॥
अद्भुत बाजा बाज्या इन्द्र का देव बधू जहँ गान करैं ।
श्री शंकरके आनन्द उपज्यो नाम सुन्या सब विघ्न टरैं ॥
गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवासे सब विघ्न टरैं ॥
आनि विधाता बैठे आसन इन्द्र अप्सरा निरत करैं ।
देख वेद ब्रह्माजी जाको विघ्न विनाशक नाम धरैं ॥
गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न टरैं ॥
एकदंत गजवदन विनायक त्रिनयन रूप अनूप धरैं ।
पग थंमासा उदर पुष्ट हैं देख चन्द्रमा हास्य करैं ॥
गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न हरैं ॥
दै शराप श्री चन्द्रदेव को कला हीन तत्काल करैं ।
चौदह लोकमें फिरैं गणपति तीन भुवनमें राज्य कर ॥
गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न टरैं ॥
उठ प्रभात जब करे ध्यान कोई ताके कारज सर्व सरैं ।
पूजाकाले गावे आरती ताके शिर यश छत्र फिरैं ॥
गणपति की सेवा मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न टरैं ॥

गणपति की पूजा पेला करणो काम सभी निर्विघ्न सरैं ।
श्री प्रताप गणपतिजी की हाथ जोडकर स्तुति करैं ॥
गणपति की सेवा, मङ्गल मेवा सेवा से सब विघ्न टरैं ॥

अथ आरती श्रीकृष्णजीकी

आरती युगलकिशोर की कीजै। राधे तन मन धन न्योछावर कीजै ॥
रविशशि कोटि मदन, की शोभा। ताहि निरखि-मेरो मन लोभा ॥
आरतो युगलकिशोर की कीजै ॥
गौरश्याम मुख निरखत रीझे। प्रभु को स्वरूप नयन भरि पीजै ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥
कंचन थाल कपूर की बाती। हरि आये निर्मल भई छाती ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥
फूलन की सेज फूलत गलमाला। रत्न सिंहासन बैठे नन्दलाला ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥
मोर मुकुट कर मुरली सोहै। नटवर भेष देख मन मोहै ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥
ओढया नील पीतपट सारी। कुंजबिहारी मुरली धारी ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥
श्री पुरुषोत्तम गिरिवरधारी। आरति करति सकल ब्रजनारी ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥
नन्दनन्दन वृषभानु किशोरी। परमानन्द स्वामी अविचल जोरी ॥
आरती युगलकिशोर की कीजै ॥

अथ त्रिगुण आरती शिवजी की

श्लोक

कर्पूरगौरं करुणावतारं संसारसारं भुजगेन्द्रहारं
सदारमन्तं हृदयारविन्दे भवं भवानी सहितं नमामि

जय शिव ओंकारा हर जै शिव ओंकारा।
ब्रह्मा विष्णु सदाशिव अर्धंगी धारा ॥
एकानन चतुरानन पंचानन राजै।
हंसासन गरुड़ासन वृषभासन साजै ॥
जय शिव ओंकारा हर जै शिव ओंकारा ॥
दोयभुज चार चतुर्भुज दशभुज ते सोहैं।
तीन रूप निरखता त्रिभुवन जन मोहैं ॥
जय शिव ओंकारा हर जै शिव ओंकारा ॥
अक्षमाला वनमाला रुण्डमाला धारी।
चन्दनमृगमद चन्दा भाले शुभकारी ॥
जय शिव ओंकारा हर जय शिव ओंकारा ॥
श्वेताम्बर पीताम्बर बाघम्बर अंगे।
सनकादिक प्रभुताकि भूतादिक संगे ॥
जय शिव ओंकारा हर जय शिव ओंकारा।
कर मध्ये कमंडलु चक्र त्रिशूल धरता।
जगकर्त्ता जगभर्त्ता जग संहार कर्त्ता ॥
जय शिव ओंकारा हर जय शिव ओंकारा।
ब्रह्मा विष्णु सदाशिव जानत अविवेका।
प्रणव अक्षरतु मध्ये ये तीनों एका ॥
जय शिव ओंकारा हर जय शिव ओंकारा ॥

निर्गुणस्वामीजीकी आरती जो कोई नर गावै।
भगत शिवानन्द स्वामी, मन वांछित फल पावै॥
जय शिव ओंकारा, हर जय शिव ओंकारा॥

अथ शिवजीकी आरती

शीश गङ्ग अर्द्धङ्ग पार्वती सदा विराजत कैलासी।
नन्दी भृङ्गी नृत्य करत हैं गुण भक्तन शिवकी दासी॥
शीतल मंद सुगन्ध पवन बहै बैठे हैं शिव अविनासी।
करत गान गन्धर्व सप्तसुर रागरागिनी अति गासी॥
यक्षरक्ष भैरव जहँ डोलत बोलत हैं बनके वासी।
कोयल शब्द सुनावत सुन्दर भँवर करत है गुँजासी॥
कल्पद्रुम अरु पारिजात तरु लाग रहे हैं लक्षासी।
कामधेनु कोटिक जहँ डोलत करत फिरत हैं भिक्षासी॥
सूर्यकान्त सम पर्वत शोभित चन्द्रकान्त भवभी वासी।
छहो ऋतु नित फलत रहत हैं पुष्प चढ़त हैं वर्षासी॥
देव मुनिजनकी भीड़ पड़त हैं निगम रहत जो नित गासी।
ब्रह्मा विष्णु जाको ध्यान धरत हैं कछु शिव हमको फरमासी॥
ऋद्धिसिद्धि के दाता शंकर सदा अनंदित सुखरासी।
जिनको सुमिरन सेवा करता टूट जाय यमकी फाँसी॥
त्रिशूलधरजी ध्यान निरंतर मन लगाय कर जो गासी।
दूरकरो विपता शिव तनकी, जन्म जन्म शिवपदवासी॥
कैलासी काशीके वासी अविनाशी मेरी सुध लीज्यो।
सेवक जान सदा चरनको आपनो जान दरश दीज्यो॥
तुमतो प्रभुजी सदा सयाने अवगुण मेरे सब ढकियो।
सब अपराध क्षमाकर शंकर किंकरकी विनती सुनियो॥

अथ आरती श्रीदुर्गाजीकी

मंगल की सेवा सुन मेरी देवा हाथ जोड़ तेरे द्वार खड़े।
पान सुपारी ध्वजा खोपड़ा ले ज्वाला तेरे भेंट धरें॥
सुण जगदंबे कर न विलम्बे संतन को भंडार भरे।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे॥
बुद्धि विधाता तू जगमाता मेरा कारज सिद्ध करे।
चरणकमल का लिया आसरा शरण तुम्हारी आनपरे॥
जब जब भीड़ पड़े भक्तनपर तब तब आय सहाय करे।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे॥
बार बार तैं सब जग मोह्यो तरुणी रूप अनूप धरे।
माता होकर पुत्र खिलावे कहीं भारज्या भोग करे॥
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे॥
सन्तन सुखदाई सदा सहाई सन्त खड़े जयकार करे।
ब्रह्मा विष्णु महेश सहसफल लिये भेंट तेरे द्वार खड़े।
अटल सिंहासन बैठी माता शिर सोने का छत्र फिरे॥
बार शनिश्चर कुं किमि बरणो जब लुंकड़पर हुकुम करे।
खड्ग खप्र त्रिशूल हाथ लिया रक्तबीज कूं भस्म करे॥
शुम्भनिशुम्भ विडारे महिषासुर कूं पकड़ दले।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जयकाली कल्याण करे॥
आदितवार आदको बीरा जन अपनेको कष्ट हरे।
कोप होकर दानव मारे चन्डमुन्ड सब चूर करे॥
जब तुम देखो दयारूप होय पलमें संकट दूर करे।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे॥

सौम्य स्वभाव धर्‍यो मेरी माता जनकी अरज कबूल करे।
सिंह पीठपर चढी भवानी अटल भवन में राज करे॥
दर्शन पावें मङ्गल गावें सिद्ध साध तेरे भेंट धरे।
संतन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे॥
ब्रह्मा वेद पढें तेरे द्वारे शिवशंकरजी ध्यान धरे।
इन्द्र कृष्ण तेरी करें आरती चमर कुवेर डुलाय रहे॥
जय जननी जय मातु भवानी अटल भवनमे राज्य करे।
सन्तन प्रतिपाली सदा खुसाली जय काली कल्याण करे॥

अथ आरती श्री दुर्गाजी की

जय अम्बे गौरी मैया जय मगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
तुमको निशिदिन ध्यावत हर ब्रह्मा शिवरी॥ टेर॥
मांग सिन्दुर विराजत टिको मृग मदको।
उज्जवसे दोउ नैना चन्द्रवदन नीको॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मगलमूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
कनक समान कलेवर रक्तांवर राजै।
रक्त पुष्प गलमाला कठन पर साजै॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
केहरि वाहन राजत खड्ग खपरधारी।
सुरनर मुनिजन सेवत तिनके दुखहारी॥
जय अबे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
कानन कुण्डल शोभित नासामे मोती।
कोटिक चन्द्र दिवाकर समराजत ज्योती॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

शुम्भनिशुम्भ विदारे महिषासुर घाती।
धूम्रविलोचन नैना निशदिन मदमाती॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
चौंसठ योगिनी गावत नृत्य करत भैरू।
बाजत ताल मृदंगा और बाजत डमरू॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
भुजा चार अति शोभित खड्ग खप्परधारी।
मनवांछित फलपावत सेवत नरनारी॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
कंचन थाल विराजत अगर कपूर की बाती।
श्रीमालकेतु में राजत कोटि रतन ज्योती॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।
या अम्बेजी की आरती, जो कोई नर गावै।
भगत शिवानन्द स्वामी, सुख संपति पावै॥
जय अम्बे गौरी मैया जय मंगल मूर्ती मैया जय आनन्द करणी।

अथ आरती श्री लक्ष्मीजी की

जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता। तुमकूं निशिदिन सेवत हर विष्णु धाता॥ टेर॥ ब्रह्माणी, रुद्राणी, कमला तुहि है जग माता। सूर्य चन्द्रमा ध्यावत नारद ऋषि गाता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ दुर्गा रूप निरंजनि सुख सम्पति दाता। जो कोई तुमको ध्यावत ऋद्धिसिद्धि धन पाता॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता॥ तूही है पाताल बसन्ती तूही है शुभ दाता। कर्म प्रभाव प्रकाशक जग-

निधिसे त्राता ॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता ॥ जिस घर थारो बासो जाहिमें गुण आता। करनें सकै सोई करले मन नहीं धड़काता ॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता ॥ तुम बिन यज्ञ न होवे वस्त्र न होय-राता। खान पान को बिभवं तु मैं बिन कुण दाता ॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता ॥ शुभ गुणसुन्दरयुक्ताक्षीरनिधीजाता। रत्न चतुर्दश तोकूं कोई भी नहीं पाता ॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता ॥ या आरती लक्ष्मीजी की जो कोई नर गाता। उर आनन्द अति उमंगे पाप उतर जाता ॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता ॥ स्थिरचर जगत बचावै कर्म प्रेरल्याता। रामप्रताप मैया की शुभ दृष्टि चाता ॥ जय लक्ष्मी माता जय लक्ष्मी माता ॥ तुमको निशि दिन सेवत हर विष्णु दाता।

श्री सत्यनारायणजी की आरती

जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा। सत्यनारायण स्वामी जन पातक हरना ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ रत्न जड़ित सिंहासन अद्भुत छवि राजे। नारद करत निराजन घंटा ध्वनि बाजे ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ प्रगट भये कलि कारण द्विजकूँ दरश दिया। बूढ़ो ब्राह्मण बनके कंचन महल किया ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥दुर्बल भील कठारो जिनपर कृपा करी। चंद्रचूड़ एक राजा जिनकी विपति हरी ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ वैश्य मनोरथ पायो श्रद्धा तजदीनी। सो फल भोग्यो प्रभुजी फेर स्तुति कीनी ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ भावभक्तिके कारण छिनछिन रूप धरया। श्रद्धा धारण कीनी तिनका काज सरया ॥

जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ ग्वालबाल संग राजा धनमें भक्ति करी। मनवांछित फल दीनों दीन दयालु हरी ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ चढ़त प्रसाद सवायो कदली फल मेवा। धूप दीप तुलसीसे राजी सत्यदेवा ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥ श्री सत्यनारायणजी की जो आरती गावै। भगत सनसुख सम्पति मन वांछित फल पावै ॥ जय लक्ष्मी रमणा श्री लक्ष्मी रमणा ॥

पुष्पांजलि

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्तिदेवाः॥ ॐ राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने। नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे ॥ स मे कामान् कामकामाय मह्यम्। कामेश्वरो वैश्रवणो ददातु ॥ कुबेराय वैश्रवणाय महाराजाय नमः॥

ॐ स्वस्ति साम्राज्यं भौज्यं स्वाराज्यं वैराज्यं पारमेष्ठ्यंराज्यं महाराज्यमाधिपत्यमयं समन्तपर्यायी स्यात् सार्वभौमः सार्वायुष आन्तादापरार्धात्पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति। तदप्येष श्लोकोऽभिगीतो मरुतः परिवेष्टारो मरुत्तस्यावसन् गृहे ॥ आविक्षितस्य कामप्रेर्विश्वे देवाः सभासदः॥ पुष्पाञ्जलिं समर्पयामि ॥ कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मनायानुसृतस्वभावात्। करोमि यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पये तत् ॥

शिवस्तुति (पुष्पांजलि)

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमूर्वी। लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥ १ ॥ वन्दे देवमुमापतिं सुरगुरुं वन्दे जगत्कारणं वन्दे पन्नगभूषणं मृगधरं वन्दे पशूनां पतिम्। वन्दे सूर्यशशाङ्कवह्नि नयनं वन्दे मुकुन्द प्रियं वन्दे भक्तजनाश्रयं च वरदं वन्दे शिवं शंकरम् ॥ २ ॥ शान्तं पद्मासनस्थं शशधरमुकुटं पंचवक्त्रं त्रिनेत्रं, शूलं वज्रं च खड्गं परशुमभयदं दक्षिणाङ्गे वहन्तं। नागं पाशं च घन्टां डमरुक सहितं सांकुशं वामभागे नानालंकारयुक्तं स्फटिकमणिनिभं पार्वतीशं नमामि ॥ ३ ॥

स्तुति

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा
यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥
प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः ।
मुखाम्बुजश्रीरघुनन्दनस्य सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा ॥
नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम् ।
पाणौमहासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम् ॥
ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमलप्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भुमुखेन्दुसुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा।
संसारामयभेषजं सुखदं श्रीजानकीजीवनं
धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम् ॥

दशश्लोकी

न भूमिर्न तोयं न तेजो न वायुः न खं नेन्द्रियं वा न तेषां समूहः।
अनेकान्तिकत्वात्सुपुप्त्येकसिद्धः तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥१॥
न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्माः न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि।
अनात्माश्रयादम्ममाध्यासहानात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥२॥
न माता पिता वा न देवा न लोकाः न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
सुषुप्तौ निरस्तातिशून्यात्मकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥३॥
न साङ्ख्यं न शैवं न तत्पाञ्चरात्रं न जैनं न मीमांसकादेर्मतं वा।
विशिष्टानुभूत्या विशुद्धात्मकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥४॥
न चोर्ध्वं न चाधो न चान्तर्न वाह्यं न मध्यं न तिर्यङ् न पूर्वा परा दिक्।
वियद्व्यापकत्वादखण्डैकरूपः तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ५ ॥
न शुक्लं न कृष्णं न रक्तं न पीतं न कुब्जं न पीनं न ह्रस्वं न दीर्घम्।
अरूपं तथा ज्योतिराकारकत्वात् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥६॥
न शास्ता न शास्त्रं न शिष्यो न शिक्षा न च त्वं न चाहं न चायं प्रपंचः।
स्वरूपावबोधो विकल्पासहिष्णुः तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥७॥
न जाग्रन्न मे स्वप्नको वा सुषुप्तिः न विश्वो न वा तैजसः प्राज्ञको वा।
अविद्याऽऽत्मकत्वं त्त्रयाणां तुरीयः तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥८॥
अपि व्यापकत्वाद्धि तत्त्वप्रयोगात् स्वतस्सिद्धभावादनन्याश्रयत्वात्।
जगत्तुच्छमेतत्समस्तं तदन्यत् तदेकोऽवशिष्टः शिवः केवलोऽहम् ॥ ९ ॥
न चैकं तदन्यद्‌द्वितीयं कुतः स्यात् न वा केवलत्वं न चाकेवलत्वम्।
न शून्यं न चाशून्यमद्वैतकत्वात् कथं सर्ववेदान्तसिद्धं ब्रवीमि ॥ १०॥

इति दशश्लोकी समाप्ता ॥

भजन

(१)

है अपरम्पार प्रभो तुम्हारी महिमा ।
अद्‌भुत है तुम्हारी माया, नहीं पार किसीने पाया ।
गये ऋषि मुनि सब हार ॥ प्रभो० ॥
रवि चन्द्र और ये तारे, चर अचर जीव जड सारे ।
तुम्हीं को रहे पुकार ॥ प्रभो० ॥
हो जगत के आदि कारण, तुम किये हुए हो धारण ।
तुम्हीं करते संहार ॥ प्रभो० ॥
सब बलों में तुम ही बल हो, सब चल हैं तुम्हीं अचल हो ।
तुम्हीं हो सुख के भण्डार ॥ प्रभो० ॥
यों वासुदेव गाता है, जो तुम्हें हृदय लाता है ।
वही जन होवे पार ॥ प्रभो० ॥

(२)

पितु मातु सहायक स्वामि सखा तुमही एक नाथ हमारे हो ।
जिनके कछु और अधार नहीं तिनके तुमहीं रखवारे हो ॥
सब भाँति सदा सुख दायक हो दुख दुर्गुण नाशनहारे हो ।
प्रतिपाल करो सिगरे जगको अतिशय करुणा उर धारे हो ॥
भूलि हैं हमही तुमको तुम तो हमरी सुध नाहिं विसारे हो ।
उपकारन को कछु अन्त नहीं छिन ही छिन जो विस्तारे हो ॥
महाराज महा महिमा तुम्हरी समुझे विरले बुधवारे हो ।
शुभशान्तिनिकेतन प्रेमनिधे ! मन मन्दिर के उजियारे हो ॥
यहि जीवन के तुम जीवन हो, इन प्रानन के तुम प्यारे हो ।

(१३०)

जगदीश ज्ञानदाता सुखमूल शोकहारी।
भगवन् तुम्हीं सदा हो निष्पक्ष न्यायकारी॥
सब काल सर्व ज्ञाता, सविता-पिता-विधाता।
सब में रमे हुए हो, हे विश्व के विहारी॥
कुछ तो दया करोगे हम मांगते यही हैं।
हमको मिले स्वयं ही उठने की शक्ति सारी॥
कर दो बलिष्ठ आत्मा घबरायें ना दुखों से।
कठिनाइयों का जिससे तर जायें सिन्धु भारी॥

॥ (१४) ॥

भगवन् हमारा जीवन संसार के लिए हो।
यह जिन्दगी हो लेकिन उपकार के लिए हो॥
ब्रह्मचर्य के व्रती हों, सतधर्म में रती हो।
बस लगन जो लगी हो सुविचार के लिए हो॥
उद्देश्य को अधूरा मर जायें पर न छोड़ें।
पतवार बुद्धि कर में, मँझधार के लिए हो॥
उत्तम स्वभाव हमारा, दुश्मन का मन रिझावे।
मद देखते ही झड़ दे, तुम प्यार के लिए हो॥
मन से शरीर धन से, जग का सदा भला हो।
मन में घृणा हमारे कुविचार के लिए हो॥
संसार हो को सेवा, शुभ टेक हो हमारी।
चाहे हमारा यह तन सत्यार्थ के लिए हो॥

(५)

उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है।
जो जागत है सो पावत है, जो सोवत है सो खोवत है॥
टुक नीन्द से अँखिया खोल जरा, और अपने प्रभुसे ध्यान लगा।
यह प्रीति करन की रीति नहीं, प्रभु जागत है तू सोवत है॥
जो कल करना हो आज करले, जो आज करना सो अब कर ले।
जब चिड़ियों ने चुग खेत लिए, फिर पछताये क्या होवत है॥
नादान भुगत करली अपनी, ऐ पापी पाप मे चैन कहाँ।
जब पाप की गठरी सीस धरी, फिर सीस पकड़ क्यों रोवत है॥

(६)

विश्वपति के ध्यान मे जिसने लगाई हो लगन।
क्यों न हो उसको शान्ति, क्यों न हो उसका मन मगन॥ १॥
काम क्रोध लोभ मोह शत्रु हैं सब महाबली।
इनके हनन के वास्ते, जितना हो तुझ से कर यतन॥ २॥
ऐसा बना स्वभाव को, चित्त की शान्ति से तू।
पैदा न हो ईर्ष्या की आँच, दिल मे कहीं करे जलन॥ ३॥
मित्रता सब से मन मे रख त्याग के वैर भाव को।
छोड़ दे टेढ़ी चाल को, ठीक कर अपना तू चलन॥ ४॥
जिससे बड़ा न है कोई, जिसने रचा है यह जगत्।
उसका ही रख तू आश्रय, उसकी ही तू पकड़ शरण॥ ५॥
छोड़ के राग द्वेष को, मन मे तू उसका ध्यान कर।
तुझ पै दयाल होवेंगे, निश्चय है परमात्मन॥ ६॥
आप दया स्वरूप हैं, आप ही का है आश्रय।
कृपादृष्टि कीजिये मुझ पै, हो जब समय कठिन॥ ७॥

मन में मेरे हो चाँदना, मोक्ष का रास्ता मिले।
मार के मनको केवला इन्द्रियों को करे दमन ॥ ८ ॥

(७)

तुम हो प्रभु चांद, मैं हूं चकोरा।
तुम हो कमल फूल, मैं रस का भौंरा।
ज्योति तुम्हारी का मैं हूं पतंगा।
तुम आनन्द घन हो, मैं हूं वन का मोरा ॥
जैसे है चुम्बक को लोहे से प्रीती।
मुझे खींच लेवे प्रभू प्रेम तोरा ॥
पानी बिना जैसे हो मीन व्याकुल।
ऐसे हो तड़पाय तेरा विछोड़ा ॥
एक बून्द जल का मैं प्यासा हूं प्यारे।
करो प्रेमवर्षा हरो ताप मोरा ॥

(८)

करो हरि नैया मेरी पार।
तुम बिन कौन बचावन हारा, यह जग पारावार ॥
पाप प्रलोभन इश्लिन भगवन्, खींचि करी मँझ धार।
मन केवट माया के मद में, घेरा पंच मकार ॥
ढीली पड़ी सुरत की डोरी, स्वामिन तुम्हें बिसार।
बार बार टकरात दु:सह दुख टूट गया पतवार ॥
नाव पुरानी झाँझरि हो गई, क्षण में डूबन हार।
बाहीं हाथ गहो करुणाकर, पार करो करतार ॥

(९)

जिसमें तेरा नहीं विकाश, ऐसा कोई फूल नहीं है ॥ टेक ॥
मैंने देख लिया सब ठौर, तुझसा मिला न कोई और।
सब का तू ही है सिर मौर, इसमें कुछ भी भूल नहीं है ॥ १ ॥
तुझ से मिलकर करुणाकन्द, मुनिवर पाते हैं आनन्द।
तेरा प्रेम सच्चिदानन्द, किसको मंगलमूल नहीं है ॥ २ ॥
उर धर धर्म जीवनाधार, गुरुजन कहें पुकार पुकार।
उसका बेड़ा होगा पार, जिसके तू प्रतिकूल नहीं है ॥ ३ ॥
तेरा गाय अखिल गुणग्राम, करनी करता है निष्काम।
मन में है शंकर सुखधाम मेरे संशय शूल नहीं है ॥ ४ ॥

(१०)

शरण अपनी में रख लीजे, दयामय दास हूं तेरा।
तुझे तजकर कहां जाऊं, हितू को और है मेरा ॥
भटकता हूं मैं मुद्दत से, नहीं विश्राम पाता हूं।
दया की दृष्टि से देखो, नहीं तो डूबता बेड़ा ॥
सताया राग द्वेषों का तपाया तीन तापों का।
दुखाया जन्म मृत्यु का, हुआ तंग हाल है मेरा ॥
दुखों का मेटनेवाला, तुम्हारा नाम सुनकर मैं।
शरण में आ गिरा अब तो भरोसा नाथ है तेरा ॥
क्षमा अपराध कर मेरे, फकत अब आशा है तेरी।
दया बलदेव पर करके, बनाले नाथ निज चेरा ॥

(११)

जीवन वन तू फूल समान।
पर उपकार सुरभि से सुरभित, सन्तत हो सुख दान ॥

स्वच्छ हृदय तो खिलजा प्यारे, तू भी परम प्रेम को धारे।
सुखदाई हो सब का जग में, पास बसे सम्मान ॥ जीवन० ॥
कठिन कण्टकों के घेरे में, दारुण दुखदाई फेरे में।
पड़कर विचलित कहीं न होना, बनना नहीं अनजान ॥ जीवन० ॥
शत्रु मित्र दोनों का हित हो, पावन यह शुभ तेरा व्रत हो।
मधुदाता बन सब का प्यारा, तजकर भेद विधान ॥ जीवन० ॥
दे तू सुरभि टूटने पर भी, पैरों तले टूटने पर भी।
इस विधि से प्रभु की माला में, पाले प्रिय स्थान ॥ जीवन० ॥

(१२)

हुआ ध्यान में ईश्वर के जो मगन,
उसे कोई कलेश लगा न रहा।
जब ज्ञान की गङ्गा में न्हाया,
तो मन में मैल जरा न रहा ॥ १ ॥
परमात्मा को जब आत्मा में,
लिया देख ज्ञान की आँखों से।
प्रकाश हुआ मन में उसके,
कोई उससे भेद छिपा न रहा ॥ २ ॥
पुरुषारथ ही इस दुनिया में,
हर कामना पूरी करता है।
मन चाहा सुख उसने पाया,
जो आलसी बन के पड़ा न रहा ॥ ३ ॥
दुखदायी हैं सब शत्रु हैं,
यह विषय हैं जितने दुनिया के।

वही पार हुआ भवसागर से,
जो जाल में इनके फँसा न रहा ॥ ४ ॥
यहाँ बड़े बड़े महाराज हुए,
बलवान हुए विद्वान् हुए।
पर मौत के पंजे से 'केवल',
संसार में कोई बचा न रहा ॥ ५ ॥

(९३)

प्रीतम तू ही प्रेम का धाम
जग से प्रीति करी बहुतेरी, मिला न कुछ विश्राम ॥ प्रीतम० ॥
तेरे प्रेम अमृत से प्यारे, जीता विश्व तमाम।
स्वच्छ समीर मेघ इत्यादिक, सभी प्रेम के काम ॥ प्रीतम० ॥
एक बार भी जिसने पिया, तेरे प्रेम का जाम।
जीवन भर प्रेम प्रेम का, उसमें हुआ मुकाम ॥ प्रीतम० ॥
प्रेम स्वरूप जोगेश्वर कहके ऋषि मुनि करें प्रणाम।
गावें गीत प्रेममय होकर, ले ले तेरा नाम ॥ प्रीतम० ॥
बूड़े तेरे प्रेम सिन्धु में, गिरिधर स्वामी राम।
मैत्रेयी मीरा तुलसी, सूर, तुकाजी राम ॥ प्रीतम० ॥
हैं निमग्न रस सागर में रसिक शिरोमणि श्याम।
ले चल अब नवरत्न मुझे भी, जहाँ प्रभु का धाम ॥ प्रीतम० ॥

(९४)

हमने ली है फकत इक तुम्हारी शरण,
हे पिता और कोई हमारा नहीं।
पतितपावन अब आसरा दो हमें,
आसरा और कोई हमारा नहीं ॥

न बुद्धि, न भक्ति, न विद्या का बल,
हृदय पै चढ़ा पाप कर्मों का मल।
तुम्हारी दया का फक़त आसरा,
तुमने किस किस को स्वामी उबारा नहीं॥
हुए मोह माया के वश में यहाँ,
फँसे लोभ क्रोध और अहंकार में।
पड़ी नैया अपनी है मँझ धार में,
नज़र आता कोई किनारा नहीं॥
अविद्या है यह कैसी छायी हुई,
सभी कर्म गुण की सफ़ाई हुई।
आस तुम से ईश्वर लगाई हुई,
यही द्वार है और द्वारा नहीं॥
यहाँ वेदपाठी न ज्ञानी रहे,
न योद्धा रहे और न दानी रहे।
बचा लो पिता हे पिता लो बचा,
और दर पै तो जाना गवारा नहीं॥
यह विनती है मेरी पिता मान लो,
अनाथों के दुःखों को पहचान लो।
तुम्ही सब के अज्ञान को जान लो,
हाथ किसी को पसारा नहीं॥

(१५)

पीकर तेरा प्रेम प्याला हो जाऊँ मतवाला
प्रेम की बाती प्रेम का दीपक प्रेम का होवे ज्वाला।
मन मन्दिर में जगमग करके हो जावे उजियाला॥

मेरे घरके अन्दर बहता होवे प्रेम का नाला।
जब जब प्यास लगे उसमें से भरकर पीलूं प्याला ॥
धो दे प्रेम वारि से अब तू मन मेरा मटियाला।
तेरे प्रेम के रंग में रंग कर हो जाऊँ रंगियाला ॥
प्रेम अश्रु से सिंचित प्रेमका बाग लगे हरियाला।
प्रेम प्रसून लगे हो उसमें उनकी गूथूं माला ॥

(१६)

तू दयालु, दीन हो, तू दानि, हौं भिखारी।
हो प्रसिद्ध पातकी, तू पाप पुजहारी ॥ १ ॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ, कौन मोसो।
मो समान आरत नहिं, आरतहर तोसो ॥ २ ॥
ब्रह्म तू, हो जीव, तू ठाकुर, हौं चेरो।
तात, मात, गुरु, सखा तू सब विधि हितु मेरो ॥ ३ ॥
तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै।
ज्यों ज्यों तुलसी कृपालु चरन सरन पावै ॥ ४ ॥

(१७)

अब लों नसानी, अब न नसैहों।
राम कृपा भव निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं।
पायो नाम चारु चिन्तामनि उर करते न खसैहों।
स्याम रूप रुचि रुचिर कसौटी चित कचनहिं कसैहों ॥
परबस जानि हस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हंसैहौं।
मन मधुपहिं प्रन करि, तुलसी, रघुपति पदकमल बसैहों ॥

(१८)

मन पछितै हैं अवसर बीते।
दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु, करम वचन अरु हीते ॥ १ ॥

सहसबाहु दसबदन आदि नृप, बचे न काल बलीतें।
हम हम करि धन-धाम सँवारे अन्त चले उठि रीते॥ २॥
सुत बनितादि जानि स्वारथरत, न करु नेह सबहीते।
अन्तहुं तोहि तजेंगे पामर तू न तजै अबहीते॥ ३॥
अब, नाथहिं अनुरागु जागु जड़, त्यागु दुरासा जीते।
बुझै न काम-अगिनि तुलसी कहुं विषय भोग बहुघीते॥४॥

(१९)

माधव! मो समान जगमाहीं।
सब विधि हीन मलीन दीन अति लीन विषय कोउ नाहीं॥
तुम सम हेतु रहित कृपालु आरत हित, ईसहि त्यागी।
मैं दुख सोक विकल कृपालु केहि कारन दया न लागी॥
नाहिन कछु अवगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना।
ग्यान भवन तनु दियहु नाथ सो उपायन मैं प्रभु जाना॥
बेनु करील श्रीखंड बसन्तहिं दूषन मृषा लगावै।
सार रहित हतभाग्य सुरभि पल्लव सो कहु कहँ पावै॥
सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ विचार जिय मोरे।
तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटहि तुम्हारे छोरे॥

(२०)

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम।
पिछली साख भरूं सन्तन की आड़े संवारे काम॥
जब लग गज बल अपनो बरत्यो, नेक सरो नहिं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकार्यो आये आधे नाम।
द्रुपद सुता निर्बल भइ तादिन गह लाये निज धाम॥
दुःशासन की भुजा थकित भइ वसन रूप भये श्याम।

जप बल तप बल और बाहु बल चौथा है बल द्राम।
सूर किशोर कृपासे सब बल हारे को हरि नाम॥

(२१)

मो सम कौन कुटिल खल कामी।
जिन तन दियो ताहि बिसरायो ऐसो निमकहरामी॥
भरि भरि उदर विषय को धावों, जैसे सूकर ग्रामी।
हरिजन छोड़ हरी बिमुखन की निस दिन करत गुलामी॥
पापी कौन बड़ो है मोतें, सब पतितन में नामी।
सूर पतित को ठौर कहाँ है सुनिये श्रीपति स्वामी॥

(२२)

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरो।
सम दरसी है नाम तिहारो, चाहे तो पार करो।
इक नदिया इक नार कहावत मैलो हि नीर भरो।
जब मिल करके एक वरन भये सुरसरि नाम परयो॥
इक लोहा पूजा में राखत इक घर बधिक परयो।
पारस गुन अवगुन नहिं चितवत कंचन करत खरो॥
यह माया भ्रम जाल कहावत सूरदास सगरो।
अब की बेर मोहिं पार उतारो नहिं प्रन जात टरो॥

(२३)

मन मस्त हुआ तन क्यों बोले॥ टेक॥
हीरा पायो गांठ गठियायो
बार बार वाको क्यों खोलै॥ १॥
हलकी थी जब चढ़ी तराजू।
पूरी भई तब क्यों तोलै॥ २॥

सुरत कलारी भई मतवारी।
मदवा पी गई बिन घोले ॥ ३ ॥
हंसा पाये मान सरोवर।
ताल तलैया क्यों डोले ॥ ४ ॥
तेरा साहिब है घर मांही।
बाहर नैना क्यों खोले ॥ ५ ॥
कहे कबीर सुनो भाइ साधो।
साहिब मिल गये तिल ओले ॥ ६ ॥

(२४)

झिनी झिनी बीनी चदरियां।
काहे के ताना काहे के भरनी कौन तार से बीनी चदरिया ॥
इङ्गला पिङ्गला ताना भरनी सुखमन, तारसे बीनी चदरिया।
आठ कँवल दल चरखा डोले पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ॥
साइं को सियत मास दस लागें ठोक ठोक के बीनी चदरिया।
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी ओढ़ी के मैली कीनी चदरिया ॥
दास कबीर जतन से ओढी ज्यों की त्यों धरि दीनी चदरिया ॥

(२५)

सुमरन करले मेरे मना।
तेरी बीती जाति उमर हरि नाम बिना ॥ ध्रु० ॥
कूप नीर बिनु, धेनु छीर बिनु, मन्दिर दीप बिना।
जैसे तरुवर फल बिन हीना, तैसे प्राणी हरि नाम बिना ॥
देह नैन बिन, रैन चन्द्र बिन, धरती मेह बिना।
जैसे ब्राह्मण वेद बिहीना, तैसे प्राणी हरि नाम बिना ॥
काम क्रोध मद लोभ निहारो छोड़ दे अब सन्त जना।
कहे नानक शाह सुन भगवंता या जग में नहिं कोई अपना ॥

(२६)

रे मन रामसों कर प्रीत ॥ प्र० ॥
श्रवण गोविन्द गुण सुनो अरु गाव रसना गीत ॥ १ ॥
कर साधु संगत सुमिर माधव होय पतित पुनीत ॥ २ ॥
काल व्याल ज्यो पर्यो डोलै मुख पसारे मीत ॥ ३ ॥
आज कल पुनि तोहिं ग्रसि हैं समझ राखो चीत ॥ ४ ॥
कहे नानक राम भजले जात अवसर बीत ॥ ५ ॥

(२७)

नाम जपन क्यों छोड़ दिया ?
क्रोध न छोड़ा, झूठ न छोड़ा, सत्य वचन क्यों छोड़ दिया ? प्र०
झूठे जगमे दिल ललचा कर असल बात क्यों छोड़ दिया ?
कौड़ी को तो खूब सम्हाला लाल रतन क्यों छोड़ दिया ?
'लालस' इक भगवान भरोसे तन, मन, धन क्यों न छोड़ दिया ?

(२८)

पायो जी मैंने राम रतन धन पायो ॥ टेक ॥
वस्तु अमोलिक दी मेरे सत गुरु किरपा कर अपनायो ॥ १ ॥
जनम जनम की पूंजी पाई, जगमे सभी खोवायो ॥ २ ॥
खरचै न खूटै, वाको चोर न लूटै, दिन दिन बढ़त सवायो ॥ ३ ॥
सत की नाव खेवटिया सतगुरु, भवसागर तर आयो ॥ ४ ॥
मीरा के प्रभु गिरिधर नागर, हरख हरख जस गायो ॥ ५ ॥

(२९)

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।
दूसरा न कोई साधो, सकल लोक जोई ॥

भाई छोड़या बंधु छोड़या छोड़या सगा सोई।
साधु न संग बैठि बैठि लोक लाज खोई॥
भगत देख राजी हुई, जगत देख रोई।
अंसुवन जल सींचि सींचि प्रेम-बेलि बोई॥
दधि मथ घृत काढ़ि लियो डार दई छोई।
राणा विष को प्यालो भेज्यो पीय मगन होई॥
अब तो बात फैल गई, जानै सब कोई।
मीरा प्रभु लगण लागी होनी होय सो होई॥

(३०)

कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो।
मनको विषयों के विष से हटाते चलो॥
नाम धन का खजाना बढ़ाते चलो।
कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो॥
देखना इन्द्रियों के न घोड़े भगें।
रात दिन उनको संयम के कोड़े लगें॥
अपने रथ को सुमारग चलाते चलो।
कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो॥
काम करते रहो नाम जपते रहो।
रात दिन कृष्ण का ध्यान धरते रहो॥
पाप की वासनायें हटाते चलो।
कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो॥
याद आवेगी उनको कभी न कभी।
दरश देवेंगे हमको कभी न कभी॥
ऐसा विश्वास मनमें जमाते चलो।

कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो ॥
दुखमें तड़पो मती सुखमें भूलो मती।
प्राण जाये मगर नाम भूलो मती ॥
राधेकृष्ण को मनसे रिझाते चलो।
कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो ॥
नाम जप जपके लोगों ने पाई गती।
भक्त ने है इसी से करी विनती ॥
मुरलीवाले को मनसे रिझाते चलो।
कृष्ण गोविन्द गोपाल गाते चलो ॥

(३१)

नहिं ऐसो जन्म बारंबार।
क्या जानूं कछु पुन्य प्रगटे मानुसा अवतार ॥
बढ़त पल पल घटत छिन छिन चलत लागे बार।
बिरछ के ज्यों पात टूटे लागे नहिं पुनि डार ॥
भवसागर अति जोर कहिए विषम ओखी धार।
सुरत का नर बांधो बेड़ा बेगि उतरे पार ॥
साधु संता ते महंता चलत करत पुकार।
दास मीरा लाल गिरधर जीवना दिन चार ॥

(३२) गुजराती

वैष्णव जन तो तेने कहिये जे पीड पराई जाने रे।
परदुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे ॥
सकल लोक मां सहुने वंदे, निंदा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे धन धन जननी तेनी रे ॥
समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी, पर स्त्री जेने मात रे।

जिह्वा थकी असत्य न बोले, परधन नव झाले हाथ रे ॥
मोह माया व्यापे नहि जेने दृढ़ वैराग्य जेना मनमां रे।
रामनामशुं ताली लागी, सकल तीरथ तेना तनमां रे ॥
वण लोभी ने कपट रहित छे, कामक्रोध निवार्या रे।
भणे नरसैंया तेनुं दरशन करतां कुळ एकोतेर तार्यां रे ॥

(३३) मारवाड़ी

भजो नित नाम ओंकारा, रचा जिन सकल संसारा।
अनारी मान मन मेरा, यहाँ नहीं है कोई तेरा ॥
जगत दिन दोय का डेरा, ज्यों चिड़ियां रैन वसेरा।
यह हैं सब चालणे वारा ॥ १ ॥

असुर रावण से बलधारी, चले गये राम अवतारी।
कहाँ लछिमन से असुरारी, कहाँ हनुमत विजयकारी ॥
भरत कहाँ भ्रात प्रिय प्यारा ॥ २ ॥

कहाँ कौसिल्या महतारी, मात सीता सती नारी।
कहाँ विश्वामित्र तपधारी, गये सब काल की बारी ॥
लेओ जगदीश का सहारा ॥ ३ ॥

नहीं धन संग जावेगा, यहां ही सब रह जावेगा।
वह जिस दिन काल आवेगा, नहिं कछु करण पावेगा ॥
बांध ले धर्म का भारा ॥ ४ ॥

भरोसा है नहीं पल का, मनसूबा क्या करे कल का।
तैं करणा छोड़ दे छल का, तेरा ज्यों पाप होय हलका ॥
करो दिलमें परोपकारा ॥ ५ ॥

जरा दिल में दया धारो, काम अरु क्रोध ने मारो।
लोभ अरु मोहने टारो, होय ज्यूं ज्ञान उजियारो ॥
विष्णु होय ईश आधारा ॥ ६ ॥

(३४) मारवाड़ी

कुण जाणे पराये मन की, मन की लगन की भजन की।
साधू रैन चाननी चावे सुरत लगी है भजन की॥
चोरां रैन अन्धेरी चावे सुरत लगी है परधन की।
हीरा की परख जौहरी जाने चोट सहे सिर घर की॥
घायल की गति घायल जाने चोट लगी है मरम की।
आतमदास जात को मीनो राखो जी लाज चरन की॥

(३५) मारवाड़ी

भगवान भजन की नौका, मिल बैठो सत सुजान कोई।
ध्रुव प्रह्लाद बलि, हरिचन्द्र मोरध्वज।
अजामिल भील गीध, मृग खग काग गज।
नाग नरदेव रिषी, मुनी बैठे नाम भज।
अङ्गद सुग्रीव नल, नील और जामवन्त।
सीवी अम्बरीस रघु, व्यास सुखदेव सन्त।
जैमनि कपिल मान, भागीरथ निकाल्या तंत।
सुन देखो वेद पुरान कोई, लगे करम धरम का झोका।
भगवान भजन की नौका० ॥ १ ॥
शृङ्गीरिषि दुरवासा, अत्रि कुम्भज वसीष्ट ज्ञान।
विश्वामित्र कश्यप रिषी, गोतम सा गुणवान।
जजाती नहुख वैण, पृथुरी वीराज मान।
जनक दधीचो और सगर दलीप भूप।
भीषम विदुर धरमपुत्र नल था अनूप।
नृग उग्रसेन राजा, सुदामा स्वयं रूप।
धरि देखो हरि का ध्यान कोई, मिजमान जान दिन दो का।
भगवान भजन की नौका० ॥ २ ॥

मरीची पुलस्त रिषी विभीषण भरद्वाज।
मीरा करमा सीबरी और अहल्या गई बीराज।
गोपी गोप सारे बैठे कूबरी ने किया राज।
अंका बंका समन सेऊ, नामा बामा नामदेव।
जातो का जुलाहा भाई, कबीरा ने करी सेव।
गोपीचन्द भरथरी जी, गोरख रैदास खास।
नानीग गोविन्द गुरू, जपै लागया आस पास।
धाये कर देखो पहचान कोई, ना रहेगा दिल में धोका।
भगवान भजन की नौका० ॥ ३ ॥

सदन कसाई बैठाया, नाभाजी भंगी का जाम।
बालमीक रिषी बैठा या उल्टा जपा था नाम।
धना जाट देवा गूजर, नरसी का लगाना दाम।
और भी अनेक जन, बैठ के हुए हैं पार।
नेमी प्रेमी बैठो कोई, बिन भाड़े है तय्यार।
गुरू ब्रह्मचारी घनस्याम की यही पुकार।
लगै रामजी लाल गुरू ज्ञान कोई है अपना अपना मौका।
भगवान भजन की नौका० ॥ ४ ॥

(३६) बंगला

अन्तर मम विकसित करो अन्तरतर हे।
निर्मल करो उज्ज्वल करो सुन्दर करो हे॥
जाग्रत करो उद्यत करो निर्भर करो हे।
मङ्गल करो निरलस निःसंशय करो हे॥
युक्त करो हे सबार संगे मुक्त करो हे बंध।
संचार करो सकल कर्मे शांत तोमार छन्द॥

चरण पद्म मम चित्त निष्पन्दित करो हे।
नन्दित करो नन्दित करो नन्दित करो हे॥

(३७) बंगला (राष्ट्रीय)

वन्देमातरम्

सुजलां सुफलां मलयजशीतलां शस्यश्यामलां मातरम्।
शुभ्रज्योत्स्नापुलकितयामिनीं फुल्लकुसुमितद्रुमदलशोभिनीम्
सुहासिनीं सुमधुरभाषिणीं सुखदां वरदां मातरम्॥ वंदे०॥
त्रिंशत्कोटिकण्ठकलकलनिनादकराले
द्वित्रिंशत्कोटिभुजैर्धृ तखरकरवाले
के बोले मा तुमि अबले ?
बहुबलधारिणीं नमामि तारिणीं रिपुदलवारिणीं मातरम्॥ वन्दे०॥
तुमि विद्या, तुमि धर्म, तुमि हृदि तुमि मर्म त्वं हि प्राणाः शरीरे।
बाहु ते तुमि मा शक्ति हृदये तुमि मा भक्ति
तोमार ई प्रतिमा गड़ी मन्दिरे मन्दिरे। वन्दे०
त्वं हि दुर्गा दशप्रहरणधारिणी कमले कमलदलविहारिणी
वाणी विद्यादायिनी नमामि त्वाम्।
नमामि कमलां अतुलां सुजलां सुफलां मातरम्॥ वन्दे०
श्यामलां सरलां सुस्मितां भूषितां धरणीं भरणीं मातरम्। वन्दे०

(३८) बंगला (राष्ट्रीय)

जन गण मन अधिनायक जय हे भारत भाग्य विधाता।
पंजाब सिन्धु गुजरात मराठा, द्राविड उत्कल बंग॥
विन्ध्य हिमाचल यमुना गङ्गा, उच्छल जलधि तरङ्ग।
तव शुभ नामे जागे, तव शुभ आशिष मांगे।
गाहे तव जय गाथा।

जनगण मङ्गलदायक जय हे, भारत भाग्य विधाता।
जय हे। जय हे! जय हे! जय जय जय जय हे।
अहरह तव आह्वान प्रचारित सुनि तव उदार वाणी।
हिन्दु बौद्ध शीख जैन पारसीक मुसलमान खृस्तानी॥
पूरब पश्चिम आसे, तव सिंहासन पासे।
प्रेम हार होय गाँथा।
जनगण ऐक्य विधायक जय हे, भारत भाग्य विधाता।
जय हे! जय हे! जय हे! जय जय जय जय हे!
पतन अभ्युदय बंधुर पन्था युग युग धावित यात्री।
तुमि चिर सारथि तव रथ चक्रे मुखरित पथ दिनरात्रि॥
दारुण विप्लव माझे। तव शंख ध्वनि बाजे।
संकट दुःख त्राता।
जनगण-पथ परिचायक जय हे भारत भाग्य विधाता।
जय हे! जय हे! जय हे! जय जय जय जय हे!
घोर तिमिर-घन-निविड निशीथे पीडित मूर्च्छित देशे।
जाग्रत छिलो तव अविचल मङ्गल नतनयने अनिमेषे।
दुःस्वप्ने आतंके। रक्षा करिले अंके।
स्नेहमयी तुमि माता।
जनगण दुःखत्रायक जय हे, भारत भाग्य विधाता।
जय हे! जय हे! जय हे! जय जय जय जय हे!
रात्रि प्रभातिल उदिल रविच्छवि पूर्व उदयगिरि भाले।
गाहे विहंगम, पुण्य समीरण नव जीवन रस ढाले।
तव करुणारुण रागे। निद्रित भारत जागे।
तव चरणे नत माथा।
जय जय जय हे जय राजेश्वर, भारत भाग्यविधाता।
जय हे! जय हे! जय हे! जय जय जय जय हे!

स्वामी शिवानन्द जी के भजन

(१)

सीताराम सीताराम सीताराम बोल
राधेश्याम राधेश्याम राधेश्याम बोल
नाम प्रभु का है सुखकारी
पाप कटेंगे क्षण में भारी
पाप की गठरी दे तू खोल। सीताराम०।
प्रभु का नाम अहल्या तारी
भक्त भीलनी हो गई प्यारी
नाम की महिमा है अनमोल। सीताराम०।
सुआ पढ़ावत गणिका तारी
बड़े बड़े निशिचर संहारी
गिन गिन पापी तारे तोल। सीताराम०।
जो जो शरण पड़े प्रभु तारे
भवसागर से पार उतारे
बन्दे तेरा क्या लगता मोल। सीताराम०।
राम भजन बिन मुक्ति न होवे
मोती सा जनम तू व्यर्थ खोवे
राम रसामृत पीले घोल। सीताराम०।
चक्रधारी भज हर गोविन्दम्
मुक्ति दायक परमानन्दम्
हरदम कृष्ण तराजू तोल। सीताराम०।

(२)

दर्शन दीजिये—

बाँसुरी वाले दर्शन दीजिये
श्यामसुन्दर प्यारे दर्शन दीजिये
बंसुरी वाले बंसुरी वाले
मारमुकुट वाले बंसुरी वाले
संसार की आग मुझको तपा रही
अमृत सुधा बरसा के मुझे तृप्त कीजिये

मैं जानता हूं—

वासना क्षय मनो नाश तत्त्व ज्ञानसे मोक्ष हो
अपनी कृपा से ये सब मुझको दीजिये

(३)

मीटिंग और क्लास में पहुंचो नियत समयपर आप
समय का पालन देगा सफलता और समृद्धि भी
शीघ्र बीतता जाता समय अब पल पल है अनमोल
हर छिन का उपयोग करो आध्यात्मिक साधन में
चिन्ता मत करो अच्छे भोजन और देह के सुखों की
उठो और शीघ्र लगो जप कीर्तन ध्यान में
सुक्खा रुक्खा थोड़ा खाके आसन में बैठो
हरि स्मरण करो हरि जपो और हरिका ध्यान धरो
चेष्टा करके योग मार्ग में सीढ़ी सीढ़ी चढ़ो
जल्दी निर्विकल्प समाधि शिखर में पहुंचोगे।
यही लक्ष्य आदर्श यही है केन्द्र तुम्हारा
तुमको मिलेगा शाश्वत सुख और शान्ति॥

(४)

इस वर्ष अनेकों गऊएं मर गईं दूध नहीं मिलता
गङ्गाजल का पान करो आनन्द से रहो
आवश्यकता पड़ने से जीवन बनाओ प्राकृतिक
बिना दूध की चाय पियो आनन्द से रहो
आटा दाल भी मिलता नहीं, खाने का है कन्ट्रोल
सारी भोजन सामग्री के दाम चढ़े भारी
सारे देश में भारी विपत्ति छाई हुई है आज
आओ मिलकर करें प्रार्थना विश्व शान्ति की
ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् ॐ तत्सत् ॐ
ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ शान्तिः ॐ
हरि ॐ तत्सत् श्री ॐ तत्सत् शिव ॐ तत्सत्

---

(५) भजन भैरवी

मन मेरो ओंकार भजो रे ॥ टेक ॥
प्रातःकाल उठ शुद्ध बदन ह्वै चित एकाग्र करो रे।
ईश्वर सच्चिदानन्द रूपमें, नित तुम ध्यान धरो रे ॥
मन मेरो ओंकार भजो रे ॥ १ ॥
करि सन्ध्या जप महामन्त्रको बुद्धि विमल करो रे।
यथा शक्ति उपकार नित्यकर, जीवन सुफल करो रे ॥
मन मेरो ओंकार भजो रे ॥ २ ॥
साधक बहु दिन सोय बितायो, अब कछु चेत करो रे।
काल कराल निकट आ पहुंच्यो, अब तो तनिक डरो रे ॥
मन मेरो ओंकार भजो रे ॥ ३ ॥

कीर्त्तन

जयति शिवाशिव जानकी राम।
जय रघुनन्दन राधेश्याम ॥
अवधविहारी सीतारम।
कुंजविहारी राधेश्योम ॥
अवध सरयू सीताराम।
कमला विमला मिथिला धाम ॥
कमला विमला मिथिला धाम।
गङ्गा तुलसी सालग्राम ॥
दशरथ नन्दन सीताराम।
अधम उधारक राधेश्याम ॥
धनुपधारी सीताराम।
मुरलीधारी राधेश्याम ॥
जय रघुनन्दन सीताराम।
जय यदुनन्दन राधेश्याम ॥
जय भव भंजन सीताराम।
द्वन्द निकन्दन राधेश्याम ॥
जय खरारी राघव राम।
जयति मुरारी माधव श्याम ॥
जय दुःख नाशक सीताराम।
प्रेम प्रकाशक राधेश्याम ॥
भवनिधि तारन सीताराम।
अधम उधारन राधेश्याम ॥

जय जय रघुवर राजा राम।
जय जय नटवर मोहन श्याम॥

———

गोविन्द जय जय गोपाल जय जय
राधा रमण हरि गोविन्द जय जय
शङ्कर जय जय गोपाल जय जय
उमारमण शिव शंकर जय जय
राम की जय जय सीता की जय जय
दशरथ के लाला चारों भइयों की जय जय
गङ्गा की जय जय देवी की जय जय
गौरी रमण शिव शक्ति की जय जय

———

जय राधे जय राधे राधे जय राधे जय श्री राधे
जय कृष्ण जय कृष्ण कृष्ण जय कृष्ण जय श्री कृष्ण
जय सीते जय सीते सीते जय सीते जय श्री सीते
जय राम जय राम राम जय राम जय श्री राम
जय गौरी जय गौरी गौरी जय शक्ति जय पार्वती
जय शम्भो जय शम्भो शम्भो जय शम्भो कैलाश पति

———

मन तू राधे कृष्ण बोल तेरा क्या लगेगा मोल
तेरा हाथ पांव नहीं हिलता
दस बीस कोस नहीं चलता
तू मन की घुन्डी खोल, तेरा क्या लगेगा मोल

तेरा मन बहुरंगी घोड़ा
घोड़े के पांच बछेड़ा
इन पांचों की बागें मोड़, तेरा क्या लगेगा मोल
यह माया है बहु ठगनी
ठगनी ने जग भरमाया
तू ने झूठा भरम कमाया
इस ठगनी का पल्ला छोड़, तेरा क्या लगेगा मोल
प्रभु को गावे हैं ब्रह्मचारी
तेरे नाम पै बलिहारी
तारे ध्रुव भगत अवतारी
हरिचरणन में मस्तक रोल तेरा क्या लगेगा मोल।

शरण में आये हैं हम तुम्हारी दया करो हे दयालु भगवन
ना हम में साधन ना हममें शक्ति
ना हम में पूजन ना हम में भक्ति
तुम्हारे दरके हैं हम भिखारी
दया करो हे दयालु भगवन्

रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीताराम।
जय रघुनन्दन जय सियाराम जानकी वल्लभ सीताराम॥
अशरण शरण शान्तिके धाम एक सहारा तेरा नाम।
एक सहारा तेरा नाम एक सहारा तेरा नाम॥

सन्ध्या

नीचे लिखा मन्त्र पढ़कर शरीर-शुद्धिके लिये जल छिड़के—

ओं अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थांगतोऽपिवा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं सबाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥

दाहिने हाथमें जल लेकर सन्ध्याके लिये संकल्प करे—

ओं तत्सदद्य तस्य ब्रह्मणो द्वितीयप्रहरार्धे श्रीश्वेतवाराहकल्पे जम्बूद्वीपे भारतखण्डे आर्यावर्तैकदेशान्तर्गते पुण्यक्षेत्रे वैवस्वत-मन्वन्तरे अष्टाविंशति तमे कलियुगे कलिप्रथमचरणे अमुकसंवत्सरे अमुकमासे अमुकपक्षे अमुकतिथौ अमुकवासरे अमुकगोत्रोत्पन्नोऽमुकनामाहं प्रातः सन्ध्योपासनकर्म करिष्ये ।

निम्न विनियोग पढ़कर भूमिशुद्धिके लिये जल छोड़े। (विनियोग में जल पृथ्वीपर छोड़ना केवल आचार मात्र है)।

पृथ्वीतिमन्त्रस्य मेरुपृष्ठऋषिः सुतलंछन्दःकूर्मोदेवता आसने विनियोगः ।

नीचेके मन्त्रको पढ़कर आसनपर जलके छींटे शुद्धिके लिये देवे—

ओं पृथ्वि त्वया धृता लोका देवि त्वं विष्णुना धृता ।
त्वञ्च धारय मां देवि पवित्रं कुरु चासनम् ॥

शिखाबन्धनः—गायत्री मन्त्रको पढ़कर शिखाबन्धन करना तथा ३ आचमन भी करना नीचेके मन्त्रको पढ़कर पुनः आचमन करें।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजा-

यत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत । अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्यमिषतो वशी ॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

आत्मरक्षाः—हाथ में जल लेकर गायत्री मन्त्र पढ़े तथा अपने चारों ओर रक्षार्थ छिड़क देवे । प्राणायाम के निम्न चारों विनियोगोंके लिये चार बार जल पृथ्वीपर छोड़े ।

ओंकारस्य ब्रह्माऋषिर्गायत्रीछन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो वर्णः सर्वकर्मारम्भे विनियोगः । सप्तव्याहृतीनां विश्वामित्रजमदग्निभरद्वाजगौतमात्रिवशिष्ठकश्यपा ऋषयो गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहतीपंक्तित्रिष्टुब्जगत्यश्छन्दांस्यग्निवाय्वादित्यबृहस्पतिवरुणेन्द्रविश्वेदेवा देवता अनादिष्टप्रायश्चित्तो प्राणायामे विनियोगः । गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्रीछन्दः सविता देवताग्निर्मुखमुपनयने प्रणायामे विनियोगः । शिरसः प्रजापतिऋषिस्त्रिपदा गायत्री छन्दो ब्रह्माग्निवायुसूर्यादेवता यजुः प्रणायामे विनियोगः ।

नीचे लिखे मन्त्रसे प्राणायाम करे । पद्मासन वा सिद्धासनसे बैठकर पहिले एक दो बार स्वास खींचकर धीरे-धीरे छोड़ देवे । पुनः अंगुष्ठसे नासिकाके दक्षिण छिद्रको बन्दकर बाम छिद्रसे धीरे-धीरे स्वास लेता जावे तथा प्राणायाम मन्त्रको तीनबार पढ़े और विष्णुका ध्यान नाभिमें करे । इसकेबाद नासिकाके दोनों छिद्र बन्दकर तीनबार मन्त्र पढ़े तथा ब्रह्माका ध्यान हृदयमें करे । पुनः दक्षिण छिद्रसे धीरे-धीरे स्वासका परित्याग करे तथा मन्त्रोंको पढ़ते समय भगवान शंकरका

ध्यान ललाटमे करे। इसी प्राणायामको पूरक कुम्भक तथा रेचक क्रमसे कहते हैं। इसको सफलता पूर्वक करनेसे समस्त सिद्धि सम्भव है।

ओंभू' ओं भुवः ओं स्वः ओं महः ओं जनः ओ तपः ओ सत्यम् ओं तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गोदेवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोद-यात्। ओ आपोज्योतीरसोऽमृत ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम्॥

प्रात काल आचमनका विनियोग पढकर पृथ्वीपर जल छोड देवे।

सूर्यश्चमेति ब्रह्मा ऋषिः प्रकृतिश्छन्दः सूर्यो देवता अपामु-पस्पर्शने विनियोगः।

रात्रिकृत सब ज्ञाताज्ञात पापोके क्षयार्थ निम्न मन्त्रको पढकर आचमन करे।

ओ सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्य. पापेभ्यो रक्षन्ता यद्रात्र्या पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्या पद्भ्यामुदरेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद् दुरित मयि इदमहममृतयोनौ सूर्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वाहा॥

निम्न लिखा विनियोग पढकर पृथ्वीपर जल छोड देवे।

आपो हिष्ठेत्यादित्र्यृचस्य सिन्धुद्वीप ऋषिर्गायत्री छन्द आपा देवता मार्जने विनियोगः।

शरीर शुद्धिके लिये नीचे लिखे मन्त्रो द्वारा सात वाक्यसे शरीरपर जल छोडे, आठवेंसे भूमिपर और नवेंसे पुन मार्जन करे।

(१) ओं आपो हि ष्ठा मयोभुवः। (२) ओं ता न ऊर्जे दधातन। (३) ओं महे रणाय चक्षसे। (४) ओं यो वः

शिवतमो रसः। (५) ओं तस्य भाजयतेह नः। (६) ओं उश-तीरिव मातर। (७) ओं तस्माऽअरङ्ग मामवः। (८) ओं यस्य क्षयाय जिन्वथ। (९) ओं आपो जनयथा च नः।

नीचे लिखा विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे।

द्रुपदादिवेत्यस्य कोकिलो राजपुत्र ऋषिरनुष्टुप्छन्दः आपो देवता सौत्रामण्यवभृथे विनियोगः।

हाथमें जल लेकर मन्त्रको तीन वार पढ़, फिर उस जलको सिरपर छिड़क दे।

ओं द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥

विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ दे।

अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षणऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाववृतो देवता अश्वमेधावभृथे विनियोगः।

दहिने हाथमें जल लेकर उसको नासिकासे लगाकर मन्त्रको पढ़े तथा जल बाईं ओर फेंक कर उसको न देखे।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा-पूर्वमकल्पयत्। दिवञ्च पृथिवींचान्तरिक्षमथो स्वः॥

निम्न विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड दे।

अन्तश्चरसीति तिरश्चीन ऋषिरनुष्टुप्छन्दः आपो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः।

निम्न मन्त्रको पढकर आचमन करे।

ओं अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्॥

सूर्यार्घः—सूर्य भगवान्को पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख हो गायत्रीमंत्र पढकर तीन बार अर्घ देवे।

सूर्योपस्थान—क्रमशः एक एक विनियोग को पढ़कर जल छोडे तथा उसके साथके मन्त्रको पढ़ते समय प्रातः तथा सायं सन्ध्याके लिये दोनों हाथ जोड़कर उपस्थान करे तथा मध्याह्न सन्ध्याके लिये हाथ ऊपर उठाकर उपस्थान करे।

प्रथम विनियोग तथा मन्त्रः—

उद्वयमित्यस्य प्रस्कण्वऋषिरनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः॥ १॥ मन्त्र—ओं उद्वय तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

द्वितीय विनियोग तथा मन्त्र—

उदुत्यमिति प्रस्कण्व ऋषिर्गायत्रीछन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः॥ २॥ मन्त्रः—ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

शिवतमो रसः । (५) ओं तस्य भाजयतेह नः । (६) ओं उशतीरिव मातर । (७) ओं तस्माऽअरङ्ग मामवः । (८) ओं यस्य क्षयाय जिन्वथ । (९) ओं आपो जनयथा च नः ।

नीचे लिखा विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ देवे ।

द्रुपदादिवेत्यस्य कोकिलो राजपुत्र ऋषिरनुष्टुप्छन्दः आपो देवता सौत्रामण्यवभृथे विनियोगः ।

हाथमें जल लेकर मन्त्रको तीन वार पढ़, फिर उस जलको सिरपर छिड़क दे ।

ओं द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव । पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः ॥

विनियोग पढ़कर पृथ्वीपर जल छोड़ दे ।

अघमर्षणसूक्तस्याघमर्षणऋषिरनुष्टुप्छन्दो भाववृतो देवता अश्वमेधावभृथे विनियोगः ।

दहिने हाथमें जल लेकर उसको नासिकासे लगाकर मन्त्रको पढ़े तथा जल वांई ओर फेंक कर उसको न देखे ।

ओं ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ समुद्रादर्णवादधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् । दिवञ्च पृथिवींचान्तरिक्षमथो स्वः ॥

निम्न विनियोग पढकर पृथ्वीपर जल छोड दे।

अन्तश्चरसीति तिरश्चीन ऋषिरनुष्टुप्छन्दः आपो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः।

निम्न मन्त्रको पढकर आचमन करे।

ओं अन्तश्चरसि भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्॥

सूर्यार्घः—सूर्य भगवान्को पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख हो गायत्रीमंत्र पढकर तीन बार अर्घ देवे।

सूर्योपस्थान.—क्रमशः एक एक विनियोग को पढकर जल छोडे तथा उसके साथके मन्त्रको पढ़ते समय प्रातः तथा सायं सन्ध्याके लिये दोनों हाथ जोडकर उपस्थान करे तथा मध्याह्न सन्ध्याके लिये हाथ ऊपर उठाकर उपस्थान करे।

प्रथम विनियोग तथा मन्त्रः—

उद्वयमित्यस्य प्रस्कण्वऋषिरनुष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः॥ १॥ मन्त्र—ओं उद्वय तमसस्परि स्वः पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

द्वितीय विनियोग तथा मन्त्र—

उदुत्यमिति प्रस्कण्व ऋषिर्गायत्रीछन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः॥ २॥ मन्त्रः—ओं उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः दृशे विश्वाय सूर्यम्॥

तृतीय विनियोग तथा मन्त्रः—

चित्रमित्यस्य कौत्स ऋषिस्त्रिष्टुप्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ॥ ३ ॥ मन्त्रः—ओं चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षꣳसूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

चतुर्थ विनियोग तथा मन्त्रः—

तच्चक्षुरिति दध्यङ्ङाथर्वणऋषिरक्षरातीतपुर उष्णिक्छन्दः सूर्यो देवता सूर्योपस्थाने विनियोगः ॥ ४ ॥ ओं तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ।

अङ्गन्यास तीन वार करना चाहिये। एक एक मन्त्र को पढ़ता जावे तथा शरीरके निम्नोक्त अङ्गोंका स्पर्श दाहिने हाथ से करे। छठे मन्त्रको पढ़ते समय ताली देकर शिरकी चारो ओर चुटकी बजावे।

ओं हृदयाय नमः १ ओं भूः शिरसे स्वाहा २ ओं भुवः शिखायै वषट् ३ ओं स्वः कवचाय हूम् ४ ओं भूर्भुवः नेत्राभ्यां वौषट् ५ ओं भूर्भुवः स्वः अस्त्राय फट् ६ ।

गायत्री जपका विनियोग पढ़ तीन वार जल छोड़ दे।

ओंकारस्य ब्रह्माऋषिर्गायत्री छन्दोऽग्निर्देवता शुक्लो वर्णो जपे विनियोगः । त्रिव्याहृतीनां प्रजापतिऋर्षिर्गायत्र्युष्णिग-

ष्टुप्छन्दांस्यग्निवाय्वादित्यादेवता जपे विनियोगः ।। गायत्र्या विश्वामित्र ऋषिर्गायत्री छन्दः सविता देवता जपे विनियोगः ।

मन्त्रको पढ़कर गायत्री देवीके स्वरूपका ध्यान करे ।

ओं श्वेतवर्णा समुद्दिष्टा कौशेयासना तथा । श्वेतैर्विलेपनैः पुष्पैरलंकारैश्च भूषिता । आदित्यमण्डलस्था च ब्रह्मलोकगताथवा । अक्षसूत्रधरा देवी पद्मासनगता शुभा ।

गायत्री आवाहन विनियोग पढ़कर पृथ्वी पर जल छोड़ दे ।

तेजोऽसीति देवा ऋषयो गायत्री छन्दः शुक्रं दैवतं गायत्र्यावाहने विनियोगः ।

नीचेके दो मन्त्रों द्वारा गायत्रीदेवीका आवाहन करे ।

ओं तेजोसि शुक्रमस्यमृतमसि धाम नामासि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमसि ॥

ओं गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि नहि पद्यसे नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदाय परोरजसेऽसावदोम् ॥

यथाशक्ति गायत्री जप करे ।

गायत्रीमन्त्र—ओं भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ।

मन्त्रको पढ़ते हुए प्रदक्षिणा करे । अथवा हाथमें जल लेकर अपने शिरकी चारों ओर फेर कर छोड़े ।

यानि कानि च पापानि जन्मान्तरकृतानि च ।
तानि तानि प्रणश्यन्ति प्रदक्षिण पदे पदे ॥

गायत्रीका विसर्जन निम्न मन्त्रसे करे—

उत्तमे शिखरे जाता भूम्यां पर्वतमूर्धनि ।
ब्राह्मणैरभ्यनुज्ञाता गच्छ देवि यथासुखम् ॥
भगवद्देवि स्वस्थानं गच्छ ।

मध्याह्नकालकी सन्ध्याके लिये विनियोग तथा आचमन मन्त्रः—

"आपः पुनन्त्विति विष्णुऋृषिरनुष्टुप्छन्द आपो देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः । मन्त्रः—ओं आपः पुनन्तु पृथिवीं पृथिवी पूता पुनातु माम् । पुनन्तु ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मपूता पुनातु माम् ॥ यदुच्छिष्टमभोज्यं च यद्वा दुश्चरितं मम । सर्वं पुनन्तु मामापोऽसतां च प्रतिग्रह ्ं स्वाहा ॥

सायंकालकी सन्ध्याके लिये विनियोग तथा मन्त्र—

विनियोग—अग्निश्चमेति रुद्र ऋषिः प्रकृतिश्छन्दोऽग्निर्देवता अपामुपस्पर्शने विनियोगः । मन्त्र—ओं अग्निश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्तां यदह्ना पापमकार्षं मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यामुदरेण शिश्ना अहस्तदवलुम्पतु यत्किञ्चिद्दुरितं मयि इदमहमापोमृतयोनौ सत्ये ज्योतिषि जुहोमि स्वहा" ॥

इति सन्ध्याविधि समाप्तम् ॥

सन्ध्या मन्त्रोंकी व्याख्या

ॐ अपवित्रः पवित्रो वा........

पवित्र, अपवित्र जिस किसी अवस्थामें भी मनुष्य हो परमात्माके ध्यानसे उसके भीतर बाहर सभी शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं।

इस श्लोकको पढ़कर शरीर शुद्धिके लिए जल छिडके यह विधि है। इससे यह अभिप्राय कदापि नहीं लेना चाहिये कि संध्या समयके छिडके हुए जलकी दो चार बून्द ही पवित्राके लिये पर्याप्त हैं। यह भी समझना उचित नहीं है कि जल की बून्दे छिडकनेसे ही अथवा यह श्लोक पढनेसे ही आभ्यन्तरिक शुद्धि भी हो जायगी। जलकी बून्दें एक निदर्शन मात्र ही हैं और यह स्मरण करनेके लिये छिडकी जाती हैं कि शरीर की शुद्धिके लिए जलकी आवश्यकता है और हम स्नान हस्तपादादिप्रक्षालन कुल्ले आदि के द्वारा यथासमय पर्याप्त जलसे शरीरके अङ्ग प्रत्यङ्गोंकी सफाई नियमित रूपसे करते रहें। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि जलसे केवल भौतिक शरीरकी ही शुद्धि हो सकती है। मन, बुद्धि और आत्माकी शुद्धिके लिए और कुछ करना होगा जैसा मनुजीने कहा है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

जलसे शरीरावयवोंकी शुद्धि, सत्यसे मन, ज्ञानसे बुद्धि एवं विद्या और तपसे आत्माकी शुद्धि होती है।

परमात्माका भक्त ईश्वरीय नियमों पर चलेगा उसमें किसी प्रकार के असद् आचरण न रहेंगे अतएव प्रभुके स्मरणसे सारी अशुद्धियोंका क्षय होगा ऐसा इस श्लोकमें कहा गया है।

संकल्प वाक्य

अथः-ओ३म् (सर्वरक्षक) तत् (प्रसिद्ध) सत् (नित्य, निरञ्जन, अविकारी) परमात्माका नाम ग्रहणपूर्वक मैं संकल्प (दृढ़ निश्चय) करता हूं कि मैं, अमुक गोत्रमें उत्पन्न अमुक नामा व्यक्ति आज इस ब्राह्म दिन के दूसरे पहर श्री श्वेतवाराह कल्पके वैवस्वत नामक मन्वन्तरके अठाइसवें कलियुगके प्रथम चरणमें जम्बू द्वीप (एशिया महादेश) के भारतवर्ष नामक देशमें अवस्थित आर्यावर्त्त नामक भूभागमें (जिसकी सीमा मनुजीने उत्तर-दक्षिण हिमालय एवं विन्ध्य पर्वत तथा पूर्व पश्चिम दोनों ओरके समुद्र बताई है) अवस्थित एक स्थान विशेषमें अमुक सम्वत, मास, पक्ष तिथि एवं दिनमें प्रातः (वा सायं) सन्ध्या करूंगा।

व्याख्या :—आज भी हम न्यायालयोंमें देखते हैं कि अभियोगके आवेदन पत्र आदिमें अथवा दानपत्र, क्रयपत्र आदिमें लिखनेके स्थान और समय आदिका उल्लेख रहता है। संध्या, पूजापाठ यज्ञ आदिके अवसरों पर भी प्रारम्भमें संकल्प वाक्य द्वारा स्थान और समयका उल्लेख करना ऋषियोंकी परिपाटी थी जो अवतक चली आ रही है और इस प्रकार हम बिना कलेण्डर आदिके भी सृष्टि को उत्पन्न हुए कितने दिन हुए इसको जानते आ रहे हैं। स्थानका उल्लेख जो संकल्प मन्त्रमें है वह तो स्पष्ट है। काल गणनाके सम्बन्धमें स्पष्टीकरण की आवश्यकता यहां अनुभव होती है।

अघमर्षण मन्त्रमें हम देखते हैं कि सृष्टि प्रवाह रूपसे अनादि है। महा प्रलयके बाद जो यह वर्तमान सृष्टि है उसी प्रकारकी सृष्टि महा प्रलयके पूर्व भी थी।. मंत्रमें स्पष्ट है कि सूर्य चन्द्रमा, पृथिवी, अन्तरिक्ष, नक्षत्रादि कोई नये नहीं बने हैं इस सृष्टिमें वैसे ही बनाये गये हैं

जैसे पहलेकी सृष्टियोंमें बने थे ('यथा पूर्वमकल्पयत्)। इस प्रकार इस सृष्टिके पूर्व प्रलय था इस सृष्टिका संहार होकर फिर भी प्रलय होगा। इस क्रमका अर्थात् सृष्टिका होना फिर प्रलयका होना फिर सृष्टिका होना इसकी न तो कहीं आदि है और न कभी अन्त होगा। कारण जब परमात्मा ही अनादिनिधन नित्य सनातन है तो उसके व्यापार सृष्टि प्रलयादि कैसे आदि वा अन्तवाले हो सकते हैं। वर्तमान सृष्टि कितने समयसे है इसकी गणना ज्योतिष शास्त्रके अनुकूल इस संकल्प वाक्यमें दी गयी है।

यह तो सभी जानते हैं कि ६० विपलका १ पल, ६० पल की १ घडी, ६० घडी (दण्ड) का १ दिन (दिन रात), ३० दिनका १ मास, १२ मासका १ वर्ष होता है। अब, चार लाख बत्तीस हजार (४३२०००) वर्षका एक कलियुग होता है। दो कलियुग काल अर्थात् आठ लाख चौसठ हजार (८६४०००) वर्षका द्वापर, कलियुगका तीन गुणा काल अर्थात् बारह लाख छियानवे हजार (१२९६०००) वर्ष त्रेता की अवधि है। कलियुग का चार गुणा समय अर्थात् सत्तरह लाख अट्ठाइस हजार (१७२८०००) वर्ष एक सत्ययुगका प्रमाण है। इन चार युगोंके योगको चतुर्युगी कहते हैं और वह तंतालीस लाख बीस हजार वर्षोंका होता है। ऐसी ७१ चतुर्युगियोंका एक मन्वन्तर होता है और ऐसे १४ मन्वन्तर एक सृष्टिकालमें होते हैं। प्रत्येक मन्वन्तरकी आदिमें एवं चौदहवें (अन्तिम) मन्वन्तरके अन्तमें सत्ययुगकी अवधि का (अर्थात सतरह लाख अठाइस हजार वर्षका) एक संधिकाल होता है। इस प्रकार एक सृष्टिकालमें एक हजार चतुर्युगियों अथवा चार अरब बत्तीस करोड ४३२००००००० वर्ष होते हैं। अथर्व वेदके एक मन्त्रमें भी परमात्माने सृष्टि की आयु इतनी ही कही है—वह मन्त्र

खंड है—"शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः" २, ३ और ४ को उल्टा लिखनेसे जैसा कि संस्कृत भाषामें नियम है (अङ्कस्य वामतो गतिः) ४३२ होते हैं, उसपर सात शून्य बैठानेसे ४३२०००००० होगा, उतने वर्ष सृष्टिके होते हैं यह इस मन्त्रका अर्थ है।

एक सृष्टिकालको (जबतक कि सूर्य चन्द्रादि वर्तमान रहते हैं अर्थात् चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षतक) 'ब्राह्म दिन' और 'कल्प' भी कहते हैं। प्रलयको 'रात्रि' 'ब्रह्मरात्रि' और 'विकल्प' कहते हैं। प्रलयकी अवधि भी सृष्टि या दिनकी अवधिके बराबर अर्थात ४३२०००००० वर्ष ही होती है। इस सृष्टि या कल्पका नाम श्वेत बाराह कल्प है।

७१ चतुर्युगियोंवाले जो चौदह मन्वन्तर होते हैं उनमें यह सातवां मन्वन्तर है और उसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है जो विवस्वान्‌के पुत्र मनुके नामपर प्रचलित है। वैवस्वत मन्वन्तरके समाप्त होने पर ब्रह्म दिनका दूसरा पहर समाप्त हो जायगा और सृष्टिका अर्धांश पूरा होगा। इस मन्वन्तरकी ७१ चतुर्युगियोंमें अभी अट्ठाइसवीं चतुर्युगी ही चल रही है और उसमें कलिके प्रथम चरण (चतुर्थांश अर्थात् १०८००० वर्ष। में ५०४८ वर्ष ही बीते हैं। अभी इस वैवस्वत मन्वन्तर की समाप्ति में इस कलिके अवशिष्ट प्रायः चार लाख २७ हजार वर्ष एवं बाकी ४३ चतुर्युगियोंका काल शेष है। उसके पश्चात् भी ७ मन्वन्तर इस सृष्टिके और बीतने हैं।

ओं पृथ्वि त्वया धृता……

अर्थ—पृथ्वी प्राणियोंका धारण और पालन कर रही है। यह

पृथ्वी परमात्माके सहारे कायम है। 'इस पृथ्वीकी पवित्रतासे हमारा आसन पवित्र हो (अर्थात् संध्या जिस स्थानमें की जावे वह शुद्ध और पवित्र होवे। भूमिको धोकर वा लीपकर पवित्र कर लेना चाहिये पीछे उसपर शुद्ध आसन बिछाकर सन्ध्याके लिये बैठना चाहिये। स्थानकी पवित्रता नहीं होनेसे सन्ध्यामें ध्यान नहीं जम सकेगा, अतएव स्वच्छ शुद्ध और पवित्र स्थान और आसनकी सन्ध्याके लिये बड़ी आवश्यकता है)।

अघमर्षण सूक्त

अर्थ-उसी परमात्माके अतुल सामर्थ्य और ज्ञानमय विधानसे ऋत अर्थात् त्रिकालाबाध्य नित्य सत्य वेद ज्ञानरूप, एवं व्यवहारिक सत्य प्रकट होते हैं। वही प्रभु सृष्टिके उपरान्त महारात्रि अर्थात् महाप्रलयका करनेवाला है। प्रलयके अनन्तर सृष्टिकी रचना भी वही करता है। उसीसे क्षोभयुक्त अर्थात् हलचलसे भरा आकाश प्रकट होता है। (प्रलयावस्थामे क्षोभरहित शान्त प्रकृतिमें जब सृष्टि की इच्छासे परमात्मा प्रथम गति देता है तो प्रकृतिके परमाणुओंमे विकम्पन पैदा होता है एक हलचल सी पैदा होती है। अनन्त आकाश जो प्रलयावस्थामें प्रकृतिके बिखरे हुए सूक्ष्म परमाणुओंसे भरा होता है सृष्टिक्रिया आरम्भ होनेके कारण परमाणुओंके सिमटनेसे अवकाशयुक्त हो जाता है इसीको आकाशका प्रकट होना कहा गया है)। तदुपरान्त संवत्सर अर्थात् सन्धिकाल होता है (सृष्टिक्रियाके आरम्भके बादसे सूर्य चन्द्र की उत्पत्ति एवं दिन रात्रिका विधान होने तकका काल संधिकाल है और उसीका नाम यहांपर सम्वत्सर है। स्वभावसे विश्वको वशमें रखने की सर्वशक्तिमत्तासे युक्त वह प्रभु फिर दिन एवं रात्रिका विधान

करता है। सूर्य और चन्द्रमाको, द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष एवं प्रकाशमान नक्षत्रपुंजोंको उस प्रभुने पूर्व सृष्टिमें जैसे बनाया था वैसे ही इस सृष्टिमें भी बनाया है।

व्याख्या—ये मंत्र अघमर्षण मंत्र कहलाते हैं। अघमर्षणका अर्थ है पापका दूरीकरण। किया हुआ पाप बिना फल भोगके नष्ट नहीं हो सकता क्योंकि 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्' अर्थात् शुभ या अशुभ किसी प्रकारके भी कर्मका फल भोग करना अनिवार्य है यह शास्त्रोंकी स्पष्ट आज्ञा है। अतएव अघमर्षण मंत्रोंके जपका विधान इसी कारण है कि पाप कर्मके करनेसे जो और पाप करनेकी वासना मनमें उत्पन्न होती है वह पाप वासना मनसे मिट जावे और उपासक आगे आनेवाले पापरूप दुःखसे बच जावे।

आवश्यक है कि मनुष्य जिन कारणोंसे असत् आचारण करता है उन कारणों को ही उत्पन्न न होने देवे। मनुष्य भयसे अथवा अभिमानसे—इन दो कारणोंसे ही पाप किया किया करते हैं। भयके कारण ही हम असत्य बोलते हैं, भयके कारण हम किसीका अनिष्ट करना चाहते, असूया आदि करते हैं। अभिमानसे अपनेको बहुत बड़ा समझ कर हम अत्याचार, उत्पीड़न, कटुभाषण आदि करते हैं। ऊपरके मंत्रों में बताया गया है कि वह प्रभु जिसकी हम संतान हैं, प्रेमभाजन हैं, भक्त और उपासक हैं, वह इस विश्व ब्रह्माण्ड का रचयिता है, उसका धारक और पालक है, वह इतने विशाल प्रकाशपुंज सूर्यादिका बनाने वाला और बार बार प्रत्येक कल्पमें बनाने और धारण करनेवाला है। वह समग्र संसारको वशमें रखनेवाला है और ऐसा करना उसका स्वभाव ही है, उसमें उसे किंचित्मात्र भी श्रम या आयास नहीं होता तो हमारी रक्षा करनेमें उसे क्या देर लगेगी, हम क्यों भय करें?

यदि हम अपनेको सबसे बडा, बहुत प्रतापशाली एवं पराक्रमी समझ अभिमानके मदमें भर जाते हैं तो ये मंत्र हमें बतायेंगे कि जो प्रभु इन प्रकाण्ड एवं अगणित लोक लोकान्तरोंका संहार कर देता है, जो पल में प्रलय कर सकता है, सहस्रबाहु एवं दशानदन आदि दुर्मद नरपति गण जिसकी संहारलीलासे कायम न रह सके उसकी इस विशाल सृष्टिमें हम एक क्षुद्र कीटसे बढकर हैं ही क्या? ऐसे विचार मनमें आते ही हम पाप कर्मोंके करनेसे विरत हो जांयगे।

सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युपतयश्च ..

अर्थ—समस्त चराचर जगत् की आत्मा (प्राणाधार) मन्यु स्वरूप (दुष्टों पर क्रोध करनेवाला) परमात्मा, मन्युपति (अर्थात् लोक-कल्याणार्थ दुष्टों पर क्रोध करनेवाले महात्मागण) हमें मन्युके पापोंसे बचावें। रातमें हमने मन, वचन, हाथ, पांव, उदर एवं जननेन्द्रियसे जो कुछ पाप किये हैं, हमसे जो भूलें हुई हैं रात ही उन्हें समाप्त कर देव (वैसी गलती अब हम दिनमें न करें। मुझमें जो कुछ भी खोटी आदतें हों, बुरे क ' करने की प्रवृत्ति हो उसे हम प्रात काल अमृत परमात्मासे उत्पन्न सूर्यकी प्रचण्ड रश्मिमें हवन कर देवें, स्वाहा कर देव। (सन्ध्या वन्दनके लिए बैठा हुआ उपासक सच्चे हृदयसे अपने गत रात्रिके किये हुए अनुचित कर्मोंके लिए पश्चात्ताप करता है एवं सर्वद्रष्टा प्रभुको साक्षी करके व्रत लेता है, शुभ संकल्प करता है, कि वह दिनमें फिर ऐसी गलती नहीं करेगा।

वेदमें परमात्माको 'मन्यु' कहा है और उससे मन्युकी याचना भी की गई है। मन्युका मोटा अर्थ तो क्रोध हो सकता है परन्तु 'मन्यु' और 'क्रोध' में पृथ्वी और आकाशका अन्तर है। क्रोध एक पाप है

और दश लक्षण जो धर्मके बताये गये हैं उनमें एक अक्रोध (क्रोध त्याग) भी है। परन्तु मन्यु परमात्माका स्वरूप है एक वरणीय वस्तु है। क्रोध मानसिक, शारीरिक किंवा आत्मिक दुर्बलताके कारण उत्पन्न होता है। उससे मनुष्य आपेमें नहीं रहता, सत् असत्के विवेकसे रहित हो जाता है, निरपराधोंका हनन एवं आत्महत्या तक कर सकता है। मन्यु शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तिसे—नितान्त निर्भयतासे—प्रादुर्भूत होता है। यह लोक हितकी पवित्र भावनासे, संसारसे बुराइयोंका उच्छेदन कर देनेकी शुभ प्रेरणासे, अन्यायियों एवं आततायियों से साधु, सज्जन, धर्मात्मा पुरुषोंकी रक्षा करनेके पावन उद्देश्यसे राम, कृष्ण आदि जैसे मर्यादापुरुषोत्तमोंमें—महात्माओंमें—उत्पन्न होता है जिससे रावण, कंसादि लोककंटकोंका संहार होता है संसारका त्राण होता है। प्रत्येक मनुष्यमें मन्युका होना वाञ्छनीय है। हमें अन्याय, अत्याचार, उत्पीडन जहां कहीं भी हों दूर करनेका, उनका उन्मूलन करने का, सदा प्रयत्न करना चाहिये। हम अपनी दुर्बलताके कारण कदापि अत्याचारियोंको प्रोत्साहन न देवें क्योंकि अत्याचारका सहन करनेवाला अत्याचारीसे कम दोषी नहीं है। मन्यु वह शक्ति है जिससे गृहस्थाश्रम की व्यवस्था ठीक रह सकती है, संतान आज्ञाकारी एवं सन्मार्ग गामी होती है, शिष्य अपने कर्त्तव्यपथ पर चलता है, पड़ोसी पड़ोसी के साथ सद्भावापन्न होते हैं, राज शासन व्यवस्था ठीक चलती है, वर्णाश्रमकी मर्यादा बनी रह सकती है। भक्त उसी मन्युके प्रयोगमें कहींपर भूल हो जाने (जो असम्भव नहीं है) और उसके क्रोधका रूप धारण कर लेनेकी गल्तीसे बचनेका सङ्कल्प यहाँपर करता है। इसमें परमात्माके मन्यु रूपका चिन्तन, मन्युपति (मन्यु करनेवाले महात्माओं) के सङ्ग और उपदेश बड़े सहायक हो सकते हैं।

मन वचनके शुभ अशुभ कर्मोंका उल्लेख इस पुस्तकके प्रथम खण्ड पृष्ठ ६६-७५ पर विस्तृत रूपसे हुआ है। हाथके पाप हैं असत् वस्तुका ग्रहण अनुचित दण्डनिपात (दूसरेको मारना)। पाँवका पाप है अगन्तव्य स्थानोंमें जाना। अति भोजन, अभक्ष्य भक्षण आदि उदरके पाप हैं। केवल इन्द्रिय लोलुपतासे बिना ऋतुकाल आदिका विचार किये हुए विषय सेवन, दाम्पत्य प्रसंग यह जनेन्द्रियके पाप हैं। पूर्व रात्रिमें किये हुए इनमेंसे किसी भी दोषके लिये ग्लानि प्रकट करते हुए प्रति दिन प्रातःकाल यदि मनुष्य परमात्मासे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करता है और उन दुर्गुणोंको छोड़नेके लिये कृतसङ्कल्प होता है तो आगे दिन निश्चय है वह ऐसे पापोंसे बच जायगा।

टि० :—आवश्यक सुधारके साथ ये ही अर्थ मध्यकाल और सायं सन्ध्याके समय पठनीय पाप क्षयार्थ मंत्रके भी जानने चाहिए।

आपो हि ष्ठा मयोभुवः........

मार्जनके ये मंत्र यजुर्वेद अध्याय ३६ के तीन मंत्रों (१४, १५ एवं १६) के प्रतीक हैं यथा—

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्तान ऊर्जे दधातन।
महे रणाय चक्षसे ॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।
उशतीरिव मातरः ॥
तस्मा अरङ्ग मामवः यस्य क्षयाय जिन्वथ।
आपो जनयथा च नः ॥

अर्थ—जल सुखशान्ति और आनन्दका देनेवाला है। वह हमें बल देवे कि जिससे हम प्रसिद्ध रण (जीवन संग्राम) के लिये समर्थ हो सकें।

जलका जो सबसे अधिक कल्याणकर रस (अन्न) है वह परमात्मा की कृपासे जल हमें प्राप्त करावे। जल हमारे लिए स्वसन्तानके लिये उत्कण्ठित माताके समान कल्याणकारी होवे।

जल जिस (अन्न) के क्षय अर्थात् निवास के लिये ओषधियोंको पुष्ट करता है वह अन्न हमें परमात्माकी कृपासे पुष्कल परिमाणमें प्राप्त हो। जल हमें सन्तति उत्पन्न करनेकी शक्ति देवे।

ऊपरके मंत्रोंमें जल की अद्भुत शक्ति और उससे शरीरको मार्जन करने अर्थात् माजने, धोने, शुद्ध पवित्र करनेकी आवश्यकताका सुन्दर ढंगसे वर्णन किया गया है। जलके संस्कृतमें सैकड़ों नाम हैं जो उसके चमत्कारिक गुणोंका निदर्शन करते हैं। उनमें एक नाम 'जीवन' भी है दूसरा नाम 'अमृत' भी। यजुर्वेदमें जहाँपर ये मंत्र हैं वहीं उन मंत्रोंके बाद ही वाले मंत्रमें जलको 'शिव', 'शिवतम', 'शान्त', 'शान्ततम' और 'भेषज' (औषध) कहा गया है। 'शिवतम' और 'शान्ततम' शब्द ही बतला रहे हैं कि संसारमें जलसे बढ़कर शान्तिदायक, इससे अधिक कल्याणकर और दूसरी वस्तु नहीं है। अंतिम समयमें जलकी कुछ बून्दें ही तो कंठसे नीचे उतारनेका यत्न किया जाता है। मूर्च्छामें जलके छींटे ही चेतना लानेके लिए आवश्यक समझे जाते हैं।

प्रथम मंत्रमें संग्रामका उल्लेख है और उस संग्रामके लिये वांछित शक्तिकी प्रार्थना की गई है।

अब हमारी लड़ाई कौन सी है इस पर कुछ शब्दोंमें प्रकाश डालना उचित है। जानकार लोगोंका कहना है कि जीवन एक संग्राम है और हम लड़कर ही जीवित रह सकते हैं। (शक्तिमान और सतक रहकर) एक क्षण भी हम प्रमाद (गफलत) करें तो हमारी ऐहिक लीला समाप्त हो जाय। संसार की सारी प्राकृतिक शक्तियाँ, सारे जड़ जङ्गम हमारी सेवाके लिये हैं ऐसा

हमको अभिमान होता है। सचमुच कुछ अंशोंमें यह है भी ठीक। हमने दुर्गम समुद्रोंके उत्ताल तरंगोंपर अपनी नौकायें चलाईं, हमने घने जङ्गलों को फाड़कर बस्तियां बसाईं। दुर्दान्त सिंहों और हाथियोंको अंगुलियोंके इशारे नचाया, हमने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये, बड़े-बड़े अखाड़ मल्लोंको पछाड़ा। पर क्या जिन-जिन पर हमारी विजय हुई या होती है उन सबोंने स्वयं ही हमारे सामने आत्मसमर्पण कर दिया या करते हैं? नहीं, हमको उनसे लड़ना पड़ता है, उनसे हमारा तुमुल युद्ध होता है। सबके सब यों भी हमारा अस्तित्व मिटाने पर तुले बैठे हैं, पर जब हम लड़ाईमें अपने पुरुषार्थ द्वारा उन पर विजय प्राप्त करते हैं तब वे हमारे दास हो जाते हैं, अन्यथा नहीं, कमजोरको तो सब ही मार ही डालना चाहते हैं।

यह पृथिवी जिसपर हम चलते हैं या खड़े होते हैं वह पृथिवी भी जैसा कि हमें वैज्ञानिक बतलाते हैं आकर्षण शक्तिसे युक्त है और वह प्रत्येक क्षण प्रत्येक पदार्थको बड़े बलसे अपनी ओर खींच रही है। हम पृथिवी पर खड़े तभी तक रह सकते हैं जबतक हम सजग हैं, चौकस हैं, पृथिवीके आकर्षणका सामना करनेमें समर्थ हैं। जरा सा ऊँघ जांय, पृथिवी हमको गिराकर अपने ऊपर सुला देगी, कदापि खड़ा रहने या चलने नहीं देगी। सोया मनुष्य या मूर्छित मनुष्य कदापि खड़ा नहीं रह सकता। जल, वायु, अग्नि सब हमें प्राणशक्ति देते हैं परन्तु ये तभी तक हमें शक्ति देंगे जबतक हममें शक्ति है और अपनी शक्तिके द्वारा हम इनसे उपयोग ले सकते हैं। न्यूमोनियाका रोगी जलमें स्नान कर या खुली वायुमें सोकर जीवित न रहेगा। हम कहते हैं कि हम हाथीको, सिंहको वश कर लेते हैं पर हममें क्या ऐसे व्यक्ति भी नहीं हैं जो प्रति दिन इन पशुओंके शिकार बनते हैं। सिंह व्याघ्रका तो कहना ही क्या,

हम जरा सा निश्चेष्ट होकर पड़ जाँय तो गीदड़ हमें खा जाँय, कौवें हमारी आँखें निकाल लें। निकम्मे, आलसी होनेपर तो हमें मच्छड़ तक मार डालनेके लिए पर्याप्त हैं। मलेरिया कितना भयंकर रोग है कितने मनुष्य इससे प्रतिवर्ष कालकवल हो जाते हैं? इसके दूत मच्छड़ ही तो हैं। 'अन्न' के अर्थ इस पुस्तकमें अन्यत्र कहीं लिखे गये हैं। इसके दो अर्थ हैं—(१) जिसको प्राणी खाते हैं (२) जो प्राणियोंको खा जाता है। वास्तवमें परिश्रमी, पुरुषार्थी, नीरोग, बलवान् मनुष्य ही अन्न को खा सकते हैं। निकम्मे, आलसी, रोगी, दुर्बल मनुष्योंको अन्न ही खा जायगा। मेवोंमें बड़ी ताकत है, ठीक है, पर जिसको नारंगी खाने पर भी खट्टी डकारें आती हैं वह मेवे खाकर जीवित न रहेगा। तो यह सिद्ध है कि अन्न हमारे पेटमें जाकर हमसे लड़ते हैं। उनसे लड़कर यदि हम उनका अस्तित्व मिटा देवें अर्थात् अन्नको पचा कर उनको रस, रक्त, मांस, मज्जा आदि सप्त धातुओंके रूपमें परिवर्तित कर देवें तब तो हम अन्नसे यथार्थ लाभ उठा सकेंगे हमारा अस्तित्व बना रह सकेगा और यदि अन्न पेटमें जाकर हमारे पाकयन्त्र में ज्यों के त्यों बने रहे हम उन्हें परास्त न कर सके तो वे हमारे लिये सब प्रकारसे दुःखदायी ही होंगे।

द्रुपदादिव······· . ········

अर्थः—जल हमें पापोंसे सर्वथा पृथक् रखे। जिस प्रकार वृक्षसे फल टूटकर उससे सदाके लिए अलग हो जाता है उसी प्रकार पाप हमारे पास फिर न आवे। जिस प्रकार पसीनेसे जो शरीर पर मैल जम गया है वह मैल स्नान करनेसे दूर हो जाता है, उसी प्रकार पाप हमसे दूर हो जावे और हम शुद्ध और पवित्र हो जावें। जिस प्रकार पवित्र घृतसे यज्ञ (हवन) पवित्र हो जाता है वैसे ही जलके द्वारा हम शरीर और मनको पवित्र, निर्मल और निष्पाप कर लेवें।

जल शरीरको पवित्र करता है यह तो हम जानते ही हैं। मन आदि की पवित्रता भी इससे हो सकती है क्योंकि निर्मल शरीरमे ही निर्मल मनका वास हो सकता है। यों भी जब कभी आलस्य, निद्रा तन्द्रा आदिके कारण हम पुरुषार्थहीन हो रहे हों जलसे मुँह हाथ धोनेसे वा जलके छींटे मारनेसे भी हमारी निद्रा, तन्द्रा दूर हो जाती हैं हमारा आलस्य भाग जाता है, हम सचेष्ट और स्फूर्तियुक्त हो जाते हैं। काम और क्रोधके वेग भी जल पीने, स्नान करने जलस्पर्श करने आदि से शांत होते यह भी अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये जल की इतनी उपयोगिता यहांपर कही गई है।

हां, यह भी नहीं भूलना चाहिये कि हम केवल स्नान ही करते रहें और मनको सत्य संयम, कुवासनात्याग आदिके द्वारा पवित्र करनेका यत्न न करें तो हमारे पाप स्नानमात्रसे न धुलेंगे चाहे हम गंगोत्तरीमें स्नान करें, चाहे गंगासागरमें। प्रत्येक वस्तुकी एक सीमा होती है और प्रत्येक कार्यका सीमित फल। इस सीमाको समझनेमें ही बुद्धिमानी है।

अन्तश्चरसि भूतेषु········

अर्थ—जल सारे शरीरधारियोंके शरीरके अन्दर है, हृदयाकाशमें है, सब ओर है। देवों और पितरोंके सत्कारमें प्रयुक्त होता है यह ज्योति रस और अमृत है। इन्हीं विशेषणोंसे युक्त परमात्माकी स्तुति भी इस मंत्रमें अभिप्रेत है।

उपस्थान मन्त्र········

१—उद्वयं तमसस्परि······

अर्थ—हम अन्धकारसे परे, प्रकाशस्वरूप वा आनन्दस्वरूप, सब-कुछ देखनेवाले, सृष्टिके बाद (प्रलयकालमें) भी वर्तमान रहनेवाले प्रकाशस्वरूप, देवोंके रक्षक, सर्वश्रेष्ठ, ज्योतिस्वरूप, सूर्य (भगवान्) को प्राप्त करें।

२—उदुत्यं जातवेदसं······

अर्थ—उस प्रसिद्ध, वेदज्ञानके प्रकाशक, चराचर जगत् की आत्मा देवको विश्वको दिखानेके लिए उसकी विचित्र रचना रूप पताकायें भलीभांति प्रकट करती हैं। (अर्थात् इस जगतकी विचित्र चमत्कार-युक्त रचना आदि पताकाओंके रूपमें प्रभुकी महिमा विश्व संसारके समस्त मनुष्योंको दिखा रही हैं, भक्त प्रभुकी सृष्टिचातुरी और उसकी अपरम्पार लीलाका दर्शन करके ही प्रभुकी सत्ताकी अनुभूति कर लेते हैं)।

३—चित्रं देवानामुदगाद्······

अर्थ—यह ईश्वर उपासकोंका विचित्र बल, वायु जल और अग्निका प्रकाशक, सूर्य और पृथिवी आदि लोकों तथा अंतरिक्षका धारक, प्रकाश-स्वरूप, जंगम और स्थावरकी आत्मा है।

४—तच्चक्षुर्देव····

अर्थ—वह प्रसिद्ध प्रभु सर्वद्रष्टा उपासकोंका हितकारी, पवित्र, सृष्टि के पूर्वसे वर्तमानहै। उसकी कृपासे हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक जीवें, सौ वर्ष तक सुनें, सौ वर्ष तक बोलें एवं सौ वर्ष तक स्वतन्त्र रहें और सौ वर्षसे अधिक भी ऐसे ही रहें।

व्याख्या—इन मन्त्रोंका नाम उपस्थान मंत्र है। उपस्थान शब्दका अर्थ है (उप-समीप स्थान अवस्थित होना) समीप जाना पहुंचना। समीप होनेके लिये, निकट पहुंचनेके लिए,।आवश्यक है जिसके समीप जाया जाय उसके अनुकूल अपना गुण कर्म स्वभाव बनाया जाय। (देखिये 'उपासना' का अर्थ पृष्ठ १५०-१५१ पूर्वभाग)।

गायत्री

ओ३म् (इसकी व्याख्या इस पुस्तकके पूर्वभाग पृष्ठ १७७-१८१ में देखिये), भूः (प्राण स्वरूप) भुवः (दुःखहर्ता) स्वः (आनन्द स्वरूप) सवितुः (सकल जगत्‌के उत्पत्तिकर्ता) देवस्य (दिव्यगुणयुक्त, स्वतः प्रकाशमान देवके) तत् (उस प्रसिद्ध) वरेण्यं (वरण करने योग्य श्रेष्ठ) भर्गः (तेज, सामर्थ्य किंवा महिमाको) धीमहि (हम ध्यान करें, धारण करें अपनावें) यः (जो प्रभु) नः (हमारी) धियः (बुद्धियोंको) प्रचोदयात् (प्रेरित करे, अशुभ मार्गसे हटाकर शुभ मार्गमें लगावे)।

व्याख्या—विश्वब्रह्माण्डमें मनुष्यको ही वेदने परमात्माका अमृतपुत्र कहा है। The lord of the creation, अशरफ उल् मखलूकात इत्यादि शब्दसमूहों द्वारा अन्य मतावलम्बी लोगोंने भी मनुष्यको सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा है। अब देखना यह है कि मनुष्यकी श्रेष्ठता और प्राणियोंकी तुलनामें है किस बातमें ? और प्राणियोंपर जब हम दृष्टि डालते हैं तो हम देखते हैं कि बहुतसे प्राणी ऐसे हैं जो मनुष्यकी अपेक्षा शारीरिक बलमें, श्रवण, घ्राण एवं दृष्टि शक्ति आदिमें कहीं बढ़े

हुए हैं। मनुष्यको न तो हाथीके जैसा शारीरिक बल है, न गरुड़की जैसी दृष्टि, न सर्प की जैसी श्रवणशक्ति, न कुत्ते आदि की जैसी घ्राण शक्ति ही है। हम न तो पक्षियोंके जैसे उड़नेके साधनोंसे युक्त हैं न मछलियों की तरह हममें तैरने की ही शक्ति है। परन्तु एक वस्तु हममें है जो औरोंको नहीं दी गई है। वह है हमारी बुद्धि। हमारी बुद्धि ऐसी है कि हम उसका मनमाने ढंगसे विकास कर सकते हैं। बुद्धिके विकाससे हम उन सारी कमियोंको पूरी कर सकते हैं जो और प्राणियोंकी तुलनामें हममें हैं। हम उससे कहीं आगे भी जा सकते हैं। हमें पंख नहीं हैं पर हम वायुयानके आविष्कारसे उड़ सकते हैं, नौका जहाज आदि बनाकर बड़े-बड़े समुद्रको पार कर सकते हैं। अपनेसे कहीं अधिक शारीरिक शक्ति रखनेवाले प्राणियोंको अपनी अंगुलीके इशारे नचा सकते हैं, बड़े-बड़े दुर्दान्तोंके मद को चूर कर सकते हैं, सारे विश्व पर राज्य कर सकते हैं, बड़े-बड़े आश्चर्यकर कार्य कर सकते हैं। यह सारा चमत्कार मानवी बुद्धिका ही तो है। आवश्यकता है कि इस बुद्धिका समुचित विकास हो। यह परमात्मप्रेरित और शुभ-मार्गगामिनी हो। प्रभुभक्त आस्तिककी परमात्मप्रेरित बुद्धिसे जहाँ विश्वके अधिकसे अधिक प्राणियोंका कल्याण हो सकता है वहाँ विपरीतगामी दूसरे प्रकारके लोगोंकी विपरीत बुद्धिसे विश्वमें अशांतिकी सृष्टि होगी। इसलिए गायत्री मंत्र (गायत्रीका अर्थ है गायन्तं त्रायते अर्थात् जो जपनेवालेका त्राण करे) जो वेद माता, गुरु मंत्र, सावित्री मंत्र इत्यादि नामोंसे वेदके सर्वश्रेष्ठ मंत्रके रूपमें परिगणित है हमें प्रभुसे और कुछ न माँगकर धारणावती प्रभुप्रेरित कल्याणकारिणी बुद्धिकी माँग करना ही बतलाता है। सचमुच संसारकी सारी विभूतियाँ पवित्र बुद्धि के अभावमें बेकार हैं।

गायत्री हमें और एक बड़ी महत्वपूर्ण शिक्षा देती है कि हम उस परमप्रभुकी महिमाको उसके दिव्य गुणोंको यथाशक्ति अपने अन्दर धारण करें। प्रभुके श्रेष्ठ और पवित्र गुण कर्म स्वभावको यथा संभव अपनावें। अपने जीवनको शुद्ध पवित्र और उच्च बनावें। यदि हम ऐसा नहीं करते और मशीन की तरह केवल गायत्रीके शब्दोंको दुहराकर अथवा बार-बार बोलकर अपनेको कृतार्थ समझते हैं तो हम भूल करते हैं क्योंकि शास्त्र स्पष्ट कहते हैं—"आचारहीनं न पुनन्ति वेदा:" एक गायत्री मंत्र क्या, समस्त वेद भी उसको पवित्र नहीं कर सकते जो तदनुकूल आचार (आचरण) नहीं रखता। मनु महाराज तो हमें यहाँ तक बताते हैं कि—

वेदास्त्यागाश्च यज्ञाश्च नियमाश्च तपांसि च।
न विप्रदुष्टभावस्य सिद्धिं गच्छन्ति कर्हिचित्॥

वेद, त्याग, यज्ञ, नियम तप ये कुछ भी आचार हीन दुष्ट भावोंसे युक्त मनुष्यके सिद्ध नहीं हो सकते।

उस प्रभुको तद्गत होकर अपनाने की अनिवार्य आवश्यकता है। ऋग्वेद कहता है – 'यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति' जो उस प्रभुको न जानता (न मानता) वेदकी ऋचायें उसका कुछ नहीं कर सकती हैं, उसका उद्धार नहीं कर सकती हैं।

गायत्री ध्यान और आवाहन मंत्रोंमें गायत्री मंत्रको देवता कहा गया है। दिव्य अर्थोंके प्रकाशक होनेसे मंत्रोंको देवता कहा जाता है। गायत्री मंत्रकी बड़ी महिमा ऋषियोंने गाई है। इस सम्बन्धमें गायत्री मंत्र की व्याख्या करते समय विशेष प्रकाश डाला गया है वहीं देखना चाहिये।

तर्पण

पूर्वाभिमुख होकर बायें कन्धेपर गमछा रखकर दोनों हाथोंकी अनामिका अंगुली की जड़में पवित्री तथा दाहिनी कटिमें मोटक धारण करे और हाथमें मोटक लेकर, संकल्प वाक्यके अन्तमें "देवर्षिपितृ तर्पणमहं करिष्ये" कह कर संकल्प छोड़ देवे।

आवाहन।

ब्रह्मादयः सुराः सर्वे ऋषयः सनकादयः।
आगच्छन्तु महाभागा ब्रह्माण्डोदरवर्त्तिनः॥

देव तीर्थ अर्थात् हाथोंके अग्रभागसे चावल सहित प्रत्येकको एक-एक अंजलि देवे।

ओं ब्रह्मा तृप्यताम् ओं विष्णुस्तृ० ओं रुद्रस्तृ० ओं प्रजापतिस्तृ० ओं देवास्तृप्यन्ताम् ओं छन्दांसि तृ० ओं वेदास्तृ० ओं ऋषयस्तृ० ओं पुराणाचार्यास्तृ० ओं गन्धर्वास्तृ० ओं इतराचार्यास्तृ० ओं संवत्सरः सावयवस्तृप्यताम् ओं देव्यस्तृप्यन्ताम् ओं अप्सरसस्तृ० ओं देवानुगास्तृ० ओं नागास्तृ० ओं सागरास्तृ० ओं पर्वतास्तृ० ओं सरितस्तृ० ओं मनुष्यास्तृ० ओं यक्षास्तृ० ओं रक्षांसितृ० ओं पिशाचास्तृ० ओं सुपर्णास्तृ०

ओं भूतानितृ० ओं पशवस्तृ० ओं वनस्पतयस्तृ० ओं ओष-धयस्तृ० ओं भूतग्रामश्चतुर्विधस्तृप्यताम् ॥

ऋषियोंको चावल सहित एक-एक अंजलि देवतीर्थसे देवे।

ओं मरीचिस्तृप्यताम् ओं अत्रिस्तृ० ओं अङ्गिरास्तृ० ओं पुलस्त्यस्तृ० ओं पुलहस्तृ० ओं क्रतुस्तृ० ओं प्रचेतास्तृ० ओं वशिष्ठस्तृ० ओं भृगुस्तृ० ओं नारदस्तृ० ॥ ततः उत्तराभिमुखः कंठीकृत्वा ।

उत्तराभिमुख होकर जनेऊ तथा अङ्गोछेको कण्ठी करके प्रजापति तीर्थसे अर्थात् दोनों हाथोंके पहुंचोंके बीचमेसे यव सहित मोटकके मध्य भागसे प्रत्येकको २।२ अञ्जलि देवे।

ओं सनकास्तृप्यताम् २ ओं सनन्दनस्तृ० २ ओं सनातन स्तृ० २ ओं कपिलस्तृ० २ ओं आसुरिस्तृ० २ ओं वोढ्स्तृ० २ ओं पंचशिखस्तृ० २ ॥ ततोऽपसव्यं दक्षिणाभिमुखः पातित वामजानुः ।

दक्षिणाभिमुख होकर अपसव्य अर्थात् जनेऊ और अङ्गोछेका दाहिने कन्धे पर करके बायें घुटनेको मोड़ कर मोटकका मूल भाग आगे करके पितृ तीर्थ अर्थात् अंगूठे और तर्जनीके मध्यसे तिल सहित प्रत्येकको ३।३ अञ्जलि देवे।

ओं कव्यवाट्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ३ ओं नलस्तृप्यतामिदं तिलो० ३ ओं सोमस्तृप्यतामिदं तिलो० ३ ओं यमस्तृप्यतामिदं तिलो० ३ ओं अर्यमा तृप्यतामिदं तिलो

ओं अग्निष्वात्तास्तृप्यतामिदं तिलोदकं तेभ्यः स्वधा ३ ओं सोमपास्तृप्यन्तामिदं तिलो० ३ ओं बर्हिषदस्तृप्यन्तामिदं तिलो० ३ ॥

१४ यमोंको ३।३ अञ्जलि देवे।

ओं यामायनमः ३ ओं धर्मराजाय नमः ३ ओं मृत्यवे नमः ३ ओं अन्तकाय नमः ३ ओं वैवस्वताय नमः ३ ओं कालाय नमः ३ ओं सर्वभूतक्षयाय नमः ३ ओं औदुम्बराय नमः ३ ओं दध्नाय नमः ३ ओं नीलाय नमः ३ ओं परमेष्ठिने नमः ३ ओं वृकोदराय नमः ३ ओं चित्राय नमः ३ ओं चित्रगुप्ताय नमः ३ ॥

पितृलोकसे आते हुए पितरोंका ध्यान करते हुए आवाहन करे।

आगच्छन्तु मे पितर इमं गृह्णन्त्वपोऽञ्जलिम् ॥

नीचे लिखे वैदिक मन्त्रोंसे पिता, पितामह और प्रपितामहको अञ्जलि देवे। यदि वैदिक मन्त्र उच्चारण न कर सके तो केवल 'ओं अद्यामुक गोत्रोऽस्मत्' लिखा है वहांसे बोलकर ३।३ अञ्जलि देवे।

ओं उदीरतामवरऽउत्परासऽउन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। असुंयऽईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्पिता*वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (पहिली अञ्जलि देवे) ॥

ओं अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाऽअथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयꣳसुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे

स्याम ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्पिता* वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (दूसरी अंजलि देवे) ॥

ओं आयन्तु नः पितरः सोम्यासोऽग्निष्वात्ताः पथिभिर्देवयानैः । अस्मिन् यज्ञे स्वधया मदन्तोऽधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान् ओं अद्यामुक गोत्रोऽस्मत् पिता * वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (तीसरी अञ्जलि देवे ॥

ओं ऊर्ज्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम् । स्वधास्थ तर्पयत मे पितॄन् ॥ ओं अद्यामुक गोत्रोस्मत् पितामहः * रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (पहिली अञ्जलि देवे) ॥

ओं पितृभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः पितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः प्रपितामहेभ्यः स्वधायिभ्यः स्वधा नमः । अक्षन्नपितरोऽमीमदन्त पितरोऽतीतृपन्त पितरः पितरः शुन्धध्वम् ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत् पितामहः * रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदक तस्मैस्वधा ॥ (दूसरी अञ्जलि देवे) ॥

ओं ये चेह पितरो ये च नेह यांश्च विद्म यांऽउचन प्रविद्म । त्वं वेत्थ यदि ते जातवेदः स्वधाभिर्यज्ञꣳसुकृतञ्जुषस्व ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत् पितामहः रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (तीसरी अञ्जलि देवे) ॥

ओं मधुवाताऋताय ते मधु क्षरन्ति सिन्धवः माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः ॥ ओं अद्यामुकगोत्रऽस्मत् प्रपितामह * आदित्य-स्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलदकं तस्मै स्वधा ॥ (पहिली अञ्जलि देवे) ॥

ओं मधुनक्तमुतोपसो मधुमत्पार्थिव ं रजः मधु द्यौरस्तु नः पिता ॥ ओं अद्यामुक गोत्रोऽस्मत् प्रपितामह * आदित्यस्व-रूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (दूसरी अञ्जलि देवे) ॥

ओं मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमांऽअस्तु सूर्यः माध्वीर्गावो भवन्तु नः ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत् प्रपितामह * आदित्स्वरूप-स्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ (तीसरी अञ्जलि देवे) ॥

नीचे लिखा प्रत्येक बार बोल कर एक-एक अञ्जलि देवे ।

ओं तृप्यध्वम् । ओं तृप्यध्वम् । ओं तृप्यध्वम् ॥

माता, दादी और परदादीको तीन तीन अञ्जलि देवे ।

ओं अद्यामुकगोत्रास्मन्माता अमुकी * देवी गायत्रीस्वरू-पिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥ ३ ॥ (माता) ॥

ओं अद्यामुकगोत्रास्मत्पितामही अमुकी * देवी सावित्री-स्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥३॥ (दादी) ॥

ओं अद्यामुकगोत्रास्मत्प्रपितामही अमुकी * देवी सरस्वती स्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥३॥ (वृद्ध दादी) ॥

नाना, परनाना और वृद्ध परनानाको नीचे लिखे मन्त्रको प्रत्येक

बार बोल कर तीन-तीन अञ्जलि देवे। यदि वैदिक मन्त्र उच्चारण नहीं कर सके तो केवल "ओं अद्यामुक गोत्र" से बोलकर तीन-तीन अञ्जलि देवे।

ओं नमो वः पितरो रसाय नमो वः पितरः शोषाय नमो वः पितरो जीवाय नमो वः पितरः स्वधायै नमो वः पितरो घोराय नमो वः पितरो मन्यवे नमो वः पितरः पितरो नमो वो गृहान्नः पितरो दत्त-मतो वः पितरो देष्मैतद्वः पितरो व्वास आधत्त ॥ ओं अद्या-मुकगोत्रोऽस्मन्मातामहो * वसुस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ ३ ॥ (नाना) ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मत्प्रमाता-महो * रुद्रस्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ ३ ॥ (परनाना) ॥ ओं अद्यामुकगोत्रोऽस्मद्वृद्धप्रमातामह * आदित्य स्वरूपस्तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्मै स्वधा ॥ ३ ॥ (वृद्ध परनाना) ओं अद्यामुकगोत्रास्मन्मातामही * देवी गायत्री स्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥ ३ ॥ (नानी) ओं अद्यामुकगोत्राऽस्मत् प्रमातामही * देवी सावित्री स्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा (परनानी) ओं अद्यामुकगोत्रास्मद् वृद्धप्रमातामही * देवी सरस्वतीस्वरूपिणी तृप्यतामिदं तिलोदकं तस्यै स्वधा ॥ ३ ॥ (वृद्ध परनानी)

* गुरु, वृद्ध दादा, दादी, ताऊ, चाचा, भ्राता, पुत्र, श्वसुर, मामा आदि और इन लोगोंकी पत्नी, अपनी पत्नी, भूआ (फूआ

तथा पुत्री आदिका गोत्र और नाम लेकर प्रत्येकको तीन-तीन अञ्जलि देवे।

सव्य तथा पूर्वाभिमुख होकर नीचे लिखे मंत्रको बोलते हुए मोटकके अग्र भागसे चावल सहित जल छोड़ता जावे।

ओं देवाः सुरास्तथा यक्षा नागाः गंधर्वराक्षसाः। पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कूष्माण्डास्तरवः खगाः। जलेचरा भूनिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः। तृप्तिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः।

अपसव्य और दक्षिणाभिमुख होकर नीचे लिखे मंत्र बोलता हुआ मोटक के मूल भागसे तिल सहित जल छोड़ता जावे।

ओं नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामाप्यायनायैतद्दीयते सलिलं मया॥

ओं ये बान्धवाऽबान्धवाश्च येऽन्यजन्मनि बान्धवाः। ते तृप्तिमखिला यान्तु यश्चास्मत्तोऽभिवाञ्छति॥ ये मे कुले लुप्तपिण्डाः पुत्रदारविवर्जिताः। तेषां हि दत्तमक्षय्यमिदमस्तु तिलोदकम्॥ आब्रह्मस्तम्ब पर्यन्तं देवर्षिपितृमानवाः। तृप्यन्तु पितरः सर्वे मातृमातामहोदयः। ओं अतीतकुलकोटीनां सप्तद्वीपनिवासिनाम्। आब्रह्मभुवनाल्लोकादिदमस्तु तिलोदकम्॥

नीचे लिखे मंत्रसे भीष्म पितामहको ३ अञ्जलि देवे।

ये के चास्मत्कुले जाता अपुत्रा गोत्रिणो मृताः ।
ते गृह्णन्तु मया दत्तं वस्त्रनिष्पीड़नोदकम् ॥

सव्य तथा पूर्वाभिमुख होकर भीष्मपितामहको अञ्जलि देवे ।

भीष्मः शान्तनवो वीरः सत्यवादी जितेन्द्रियः ।
अद्भिरद्भिरवाप्नोतु पुत्रपौत्रोचितां क्रियाम् ॥

अर्घ्य विधिसे अर्घ्य देकर नीचे लिखी प्रार्थना करे ।

ओं नमो विवस्वते ब्रह्मन् भास्वते विष्णुतेजसे । जगत्सवित्रे शुचये नमस्ते कर्म्मदायिने ॥ श्री सूर्याय नमः ॥

प्रदक्षिणा करके नीचे लिखे मंत्रसे विसर्जन करे । उस जलको नेत्रों में लगावे ।

ओं देवा गातु विदो गातुं वित्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देवयज्ञ ᳪ स्वाहा वातेधाः ॥ कृतेनानेन तर्पणेन पितृरूपी जनार्दनः प्रीयताम् ।

पिता वर्तमान हों तो स्वपित्रादितर्पण और वस्त्र निष्पीड़न नहीं करे ।

शान्ति पाठ

ओं पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शांतिर्विश्वे मे देवाः शांतिः सर्वे मे देवाः शांतिः शान्तिः शांतिः शांतिभिः । ताभिः शान्तिभिः सर्व शान्तिभिः शमया मोहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तुनः ॥

अथर्व० १६।६।१४

हमारे लिये पृथिवीलोक शांतिप्रद हो, अन्तरिक्ष लोक शान्तिप्रद हो, द्यौलोकमें शांति होवे, जल शांतिकारक हो, ओषधियाँ एवं वनस्पतियां सुखशांति देनेवाली होवें सम्पूर्ण देव, वसु आदि तथा दिव्यगुण शांतिकारक हों। हमें विद्वान् लोग शांति देवें यह शान्ति भी उपद्रव रहित हो। इन सब शांतियोंसे परम शांतिका लाभ हो। उन शान्तियों तथा पूर्ण सुखोंके द्वारा हे प्रभो हमारे अज्ञानको शांत कीजिये। जो इस संसारमें भयंकर है वह सब शान्त हो, इस जगत् में जो कठोरता है वह कल्याणकारक हो जाय, इस संसारमें जो भी पाप है, वह सभी नष्ट हो जांय।

ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः

———